तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय

मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश)

दूरस्थ शिक्षा

एम.ए. (पूर्वार्ध) जैनोलॉजी

(द्वितीय पत्र)

-विषय-

भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैन आचरण की भूमिका

इकाई (संवर्ग)

इकाई – 1	-गृहस्थ से श्रावक बनने की प्रक्रिया	(कुल पाठ-4)
इकाई – 2	-गृहस्थों की आचार शुद्धि	(कुल पाठ-4)
इकाई – 3	-आदर्श विद्यार्थी एवं श्रावक के कर्तव्य	(कुल पाठ-4)
इकाई – 4	-जैन मुनि चर्या	(कुल पाठ-4)
इकाई – 5	-आर्यिका चर्या (जैन साध्वी चर्या)	(कुल पाठ-4)

-मंगल प्रेरणा-

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (डी. लिट्.)

-लेखन एवं संकलन-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी (पीएच.डी.)

-निर्देशन-

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

-संपादक-

प्रो. टीकम चन्द जैन

(अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद)

जीवन प्रकाश जैन (M.Sc. Maths), जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

संस्करण - **प्रथम संस्करण (सितम्बर 2014)**

मूल्य- **250/-रुपये**

ISBN-978-93-84003-37-1

-प्रकाशक-

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

(सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com, rk195057@yahoo.com

कुलाधिपति की कलम से.....

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी विभाग का शुभारंभ होना, इस विश्वविद्यालय के नाम की परिपूर्णता का सूचक है। मुझे अंतरंग से प्रसन्नता है कि हम जैन होने के नाते विश्वविद्यालय स्तर से जैनधर्म की शिक्षा के प्रचार-प्रसार का एक व्यापक कार्य कर रहे हैं। इस विभाग के माध्यम से छात्र-छात्राएँ जैनदर्शन में बी.ए. एवं एम.ए. की मान्य डिग्री प्राप्त कर सकेंगे और इसके साथ ही एम.फिल. तथा पीएच.डी. भी करके वे अपने उज्ज्वल भविष्य को निखारने का प्रयास करेंगे, यह विश्वविद्यालय के लिए गौरवपूर्ण बात है।

विशेषरूप से इस जैन दर्शन विभाग की स्थापना में जैन समाज की वरिष्ठतम साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा एवं आशीर्वाद महत्वपूर्ण निमित्त रहा। मुझे गौरव है कि हमारे विश्वविद्यालय का प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह पूज्य माताजी के सान्निध्य में ही हुआ, जिसमें विश्वविद्यालय ने पूज्य माताजी के बहुआयामी व्यक्तित्व एवं विशेषरूप से 400 से भी अधिक ग्रंथों के साहित्यिक योगदान को देखते हुए उन्हें विश्वविद्यालय की प्रथम डिग्री के रूप में "डी.लिट्." की मानद उपाधि 8 अप्रैल 2012, वैशाख कृ. दूज को माताजी के 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस के शुभ अवसर पर प्रदान की गई। इसके साथ ही पूज्य माताजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणि संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद करके इतने प्राचीन ग्रंथ को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जन-जन के लिए सुलभ बनाने का महान कार्य करने वाली प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी को उनके द्वारा लिखित शताधिक ग्रंथों की विशेष सराहनापूर्वक उन्हें भी विश्वविद्यालय द्वारा प्रथम दीक्षांत समारोह में "पीएच.डी." की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया।

यह प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह सदैव ही विश्वविद्यालय के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य रहेगा। इसी समय हमें पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से इस विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग का शुभारंभ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी अतः अब यह प्रेरणा फलित हो रही है, जिससे निश्चित ही अनेकानेक छात्र-छात्राओं को न सिर्फ जैनधर्म का ज्ञान होगा अपितु विश्वविद्यालय की मान्य डिग्री से उनके भविष्य का भी सुन्दर निर्माण हो सकेगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

विश्वविद्यालय द्वारा जैनदर्शन में बी.ए. एवं एम.ए. के कोर्स दूरस्थ शिक्षा के साथ प्रारंभ किये गये हैं अतः इनका स्टडी मैटेरियल पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने हमारे निवेदन पर अथक परिश्रमपूर्वक तैयार करके दिया है। यह सरल भाषा में तथा जैन दर्शन के समग्र ज्ञान को प्रदर्शित करते हुए बनाया गया है। इसे सभी छात्र-छात्राएँ सरलता के साथ पढ़कर परीक्षाओं में उच्च सफलता हासिल करने का प्रयास करें, यही मेरी शुभकामनाएँ हैं।

सुरेश जैन
(कुलाधिपति)

जैन दर्शन विभाग स्थापना की सम्प्रेरिका गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी का

मंगल आशीर्वाद

मुझे इस बात की अंतरंग से अपार खुशी है कि सारे विश्व भर में 'तीर्थंकर महावीर' के नाम से एक मात्र प्रसिद्धि को प्राप्त विश्वविद्यालय मुरादाबाद में हमारे भक्त कुलाधिपति माननीय श्री सुरेशचंद जी के बहुमूल्य प्रयासों से निर्मित हुआ है। इस 'तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय' ने आज भारत के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में अपना स्थान प्राप्त किया है। यहाँ की उच्च शिक्षा तकनीकी तथा शिक्षा के उपरांत छात्र-छात्राओं को उज्ज्वल भविष्य का सुनहरा अवसर प्राप्त होना, यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

यूँ तो विश्वविद्यालय में सैकड़ों प्रकार की विधाओं के माध्यम से छात्र-छात्राओं को अपना भविष्य बनाने का अवसर प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में भी लगभग 150 से अधिक विषयों पर छात्र-छात्राएँ विभिन्न प्रकार की डिग्रीयाँ प्राप्त करते हैं और अपने जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयास करते हैं।

विशेषरूप से मैंने इस विश्वविद्यालय में "जैन दर्शन विभाग" की स्थापना करने की प्रेरणा प्रदान की, जिसमें जैनधर्म की शिक्षाओं में छात्र-छात्राएँ, स्नातक व स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त कर सकें। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि आज तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हो चुकी है और यहाँ पर अब बी.ए.-जैनोलॉजी व एम.ए.-जैनोलॉजी कोर्स के साथ ही जैनधर्म के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के सर्टिफिकेट व डिप्लोमा कोर्स का भी शुभारंभ कर दिया गया है।

मेरे सान्निध्य में बी.ए. एवं एम.ए. जैनोलॉजी कोर्स की पुस्तकें मेरी शिष्या प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती एवं प्रो. टीकमचंद जी ने अत्यन्त सूझ-बूझ के साथ तैयार की हैं। जम्बूद्वीप के पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति जी का निर्देशन भी इसमें महत्वपूर्ण रहा है। उनके साथ ही संघस्थ बाल ब्र. जीवन प्रकाश ने भी सर्टीफिकेट डिप्लोमा एवं डिग्री कोर्स को संचालित करने में परिश्रम किया है। इन सभी के लिए मेरा शुभाशीर्वाद है।

विश्वविद्यालय एवं दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के संयुक्त तत्त्वावधान में आज सम्पूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न जैन श्रावक-श्राविकाओं व छात्र-छात्राओं द्वारा इस योजना का लाभ उठाकर घर बैठे ही जैनधर्म में विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त सर्टिफिकेट व डिप्लोमा प्राप्त किये जा रहे हैं, यह एक विशेष सफलता एवं हर्ष का परिचायक है।

अतः इस महत्वपूर्ण अवसर पर कुलाधिपति जी के साथ ही विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय, रजिस्ट्रार महोदय, जैन दर्शन विभागाध्यक्ष आदि समस्त विश्वविद्यालय परिवार को मेरा कोटिशः आशीर्वाद है कि इसी प्रकार जैनधर्म की शिक्षा एवं तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों का विश्वविद्यालय द्वारा शिक्षा के रूप में प्रचार-प्रसार सतत होता रहे और विश्वविद्यालय से जैनधर्म में स्नातक एवं स्नातकोत्तर डिग्री हासिल करने वाले छात्र-छात्राएँ भी अपने जीवन को तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों से सुसज्जित करके धर्म प्रभावना, समाज सुधार एवं व्यक्तित्व विकास के क्षेत्र में अपना जीवन समर्पित करें।

पुनः विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हेतु मेरी बहुत-बहुत शुभकामनाएँ एवं मंगल आशीर्वाद है।

गणिनी ज्ञानमती

(गणिनी ज्ञानमती)

प्रस्तावना

-आर्यिका चन्दनामती

तीर्थंकर महावीर की पश्चात्वर्ती परम्परा में अनेकानेक ज्ञानी आचार्य, मुनि, आर्यिका, विद्वान् आदि हुए हैं उन्होंने जैन विद्या तथा भारतीय संस्कृति के संवर्धन और आचार संहिता के संरक्षण में अपना योगदान प्रदान किया है।

जैनधर्म प्राकृतिक, शाश्वत एवं अनादिनिधन धर्म है। इसे न किसी ने स्थापित किया है और न कोई कभी नष्ट कर सकता है। इसकी सार्वभौमिकता इस कथन से जानी जा सकती है-"कर्मारातीन् जयति इति जिनः, जिनो देवता यस्येति जैनः" अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले जिन अथवा जिनेन्द्र भगवान कहलाये और उन जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले जैन कहलाते हैं।

इस अर्थ के अनुसार सभी प्राणी जैनधर्म के सर्वोदयी सिद्धान्तों को पालन करने के अधिकारी हो सकते हैं। यह धर्म किसी अन्य धर्म की शाखा न होकर पूर्णतया स्वतंत्र है। समय-समय पर इस धर्म का प्रचार-प्रसार तीर्थंकर भगवन्तों के माध्यम से होता रहा है। भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकर वर्तमान युग के धर्मतीर्थ प्रवर्तक माने गये हैं। इनमें से इस समय भगवान महावीर स्वामी का शासन काल चल रहा है।

भारतवर्ष में तीर्थंकर भगवान के नाम का प्रथम विश्वविद्यालय मुरादाबाद-उत्तरप्रदेश में है जिसका नाम है-तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय (TMU)। सन् 2005 में "महावीर डेन्टल कॉलेज" से प्रारंभ हुई यह शैक्षणिक संस्था आज विश्वविद्यालय के रूप में वटवृक्ष के समान विकसित होकर हजारों ज्ञानपिपासु स्नातकों को शीतल छाया प्रदान कर रहा है। इस विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सुरेशचंद जी जैन ने अपनी दूरदर्शिता एवं कर्मठता का परिचय देते हुए इसे देश के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों की श्रेणी तक पहुँचा कर जैन समाज में एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सन् 2012 में जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (अवध विश्वविद्यालय-फैजाबाद द्वारा सन् 1995 में डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत) कुलाधिपति जी के विशेष निवेदन पर विश्वविद्यालय परिसर में 'भगवान महावीर जिनालय' की स्थापना में मंगल सान्निध्य प्रदान करने हेतु हस्तिनापुर से विहार करके मुरादाबाद पधारीं और वहाँ उनके 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस (वैशाख कृ. दूज, 8 अप्रैल 2012) के अवसर पर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित किये गये "प्रथम विशेष दीक्षान्त समारोह" में पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी को डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गई। उस समय पूज्य माताजी ने तीर्थंकर महावीर के नाम वाले इस विश्वविद्यालय में जैनॉलोजी विभाग खोलने की प्रेरणा प्रदान की, जिसे माननीय कुलाधिपति सहित समस्त प्रबंध समिति ने सहर्ष स्वीकार करके बी.ए. जैनोलॉजी एवं एम.एम. जैनोलॉजी कोर्स के रूप में स्थापित करके प्रारंभ करने की घोषणा की।

आगे इस निर्णय के संदर्भ में प्रगति करते हुए बी. ए. जैनोलॉजी का कोर्स इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि जिससे जैन व जैनेतर समस्त छात्र-छात्राओं को जैनधर्म का प्राथमिक स्तर से लेकर समग्र ज्ञान प्राप्त हो सके अतः त्रिवर्षीय बी. ए. के कोर्स के पश्चात् स्नातकोत्तर अर्थात् एम.ए. में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों के लिए दो वर्ष के दूरस्थ शिक्षा कोर्स में कुल 8 पुस्तकें तैयार की गई हैं। जिनमें प्रथम वर्ष (पूर्वार्ध) में 4 पुस्तकें और

द्वितीय वर्ष (उत्तरार्ध) में 4 पुस्तकें हैं। यहाँ पर प्रथम वर्ष की इस द्वितीय पुस्तक में 5 इकाइयों के अन्तर्गत निम्न विषय प्रस्तुत किये गये हैं।

1. गृहस्थ से श्रावक बनने की प्रक्रिया
2. गृहस्थों की आचार शुद्धि
3. आदर्श विद्यार्थी एवं श्रावक के कर्तव्य
4. जैन मुनि चर्या
5. आर्यिका चर्या (जैन साध्वी चर्या)

परीक्षा बोर्ड के परामर्शानुसार द्वारा इन सभी विषयों के कोर्स मैटेरियल सरलग्राह्य एवं विषय वस्तु के अनुरूप विस्तारित करके प्रस्तुत किये गये हैं।

उपर्युक्त पाँचों इकाइयाँ अलग-अलग पाठों में विभक्त हैं जिनके माध्यम से भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैन आचरण की भूमिका के प्रायः समस्त पक्षों को प्रस्तुत करने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति की मूल और सशक्त धारा है। जिसने सदा-सदा से भारत के आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक गौरव को वृद्धिंगत किया है। जैनधर्म की साहित्यिक एवं पुरातात्विक विरासत विश्व के कोने-कोने में बिखरी हुई है, उन्हीं पर अनुसंधान करके वर्तमान वैज्ञानिकों ने कम्प्यूटर, मोबाइल, इंटरनेट आदि के रूप में पुद्गल का चमत्कार भौतिक जगत को प्रदान किया है।

विश्वविद्यालय के द्वारा संचालित "दूरस्थ शिक्षा" (Distance Education) में एम.ए. के प्रथम वर्ष की इस द्वितीय पुस्तक के लेखन एवं संकलन में बहुत ही परिश्रमपूर्वक विषयों का चयन करके अनेक प्राचीन-अर्वाचीन सन्त और विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये गये हैं, ताकि उनके संकलन का ज्ञानवर्धन में व्यापक उपयोग हो सके तथा स्नातकोत्तर परीक्षा देने वाले विद्यार्थी सरलतापूर्वक जैनदर्शन के विषयों को पढ़कर डिग्री प्राप्त कर सकें।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की दूरदर्शिता युक्त प्रेरणा एवं कुलाधिपति जी के आग्रह पर मैंने इस स्नातकीय दूरस्थ शिक्षा की पाठ्यपुस्तक तैयार करने की जिम्मेदारी ली और यथासंभव उसे निभाने का प्रयत्न किया है।

हमारे इस प्रयत्न में हर क्षण जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी का कुशल निर्देशन प्राप्त हुआ है। इसके साथ ही संघस्थ समस्त आर्यिकावर्ग एवं ब्रह्मचारिणी बहनों का भी प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में पूरा सहयोग मिला है।

पुस्तक में गर्भित विषयों के संकलन-संपादन में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन जगत के विशिष्ट विद्वान् प्रो. टीकमचंद जैन (अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय) ने अथक परिश्रम के साथ हमें सहयोग प्रदान किया है, उनके साथ जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर ने उपयोगी विषयों के निर्धारण एवं सम्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर कर्तव्य निर्वाह किया है।

गुरु आशीर्वाद एवं उनका हर क्षण प्राप्त निर्देशन ही इसकी सफलता का मूल कारण है।

विश्वविद्यालय में स्थापित जैन अध्ययन केन्द्र सर्वतोमुखी विकास करे, इसके द्वारा बी. ए., एम. ए. (जैनोलॉजी) की डिग्री प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राएँ भी जैनधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों से जन-जन को लाभान्वित करें, यही मंगल भावना है।

-सितम्बर 2014

विषयानुक्रमणिका

पाठ	पृष्ठ संख्या
इकाई 1 — गृहस्थ से श्रावक बनने की प्रक्रिया	**1-33**
पाठ-1 गृहस्थ धर्म	1-10
पाठ-2 जैनागम में वर्णित श्रावक धर्म	11-21
पाठ-3 गृहस्थों के अष्टमूलगुण	22-27
पाठ-4 गृहस्थों के षट् आवश्यक कर्म	28-33
इकाई 2 — गृहस्थों की आचार शुद्धि	**34-74**
पाठ-1 उत्तम आचरण का आधार-शाकाहार	34-41
पाठ-2 खानपान की शुद्धि परमावश्यक	42-51
पाठ-3 मानव धर्म की विराट भूमिका	52-61
पाठ-4 श्रावकाचार संग्रह में वर्णित श्रावक के विशेष कर्तव्य	62-74
इकाई 3 — आदर्श विद्यार्थी एवं श्रावक के कर्तव्य	**75-112**
पाठ-1 विद्यार्थियों की आदर्श जीवनचर्या	75-90
पाठ-2 व्रत उपवास : वैज्ञानिक अनुचिंतन	91-96
पाठ-3 श्रावक की त्रेपन कियाएँ	97-104
पाठ-4 श्रावक धर्म के एकादश सोपान : ग्यारह प्रतिमा	105-112
इकाई 4 — जैन मुनि चर्या	**113-147**
पाठ-1 दीक्षा का महत्त्व	113-121
पाठ-2 मूलाचार में वर्णित मुनिचर्या	122-129
पाठ-3 दिगम्बर मुनि की नित्य-नैमित्तिक क्रियाएं	130-142
पाठ-4 संपूर्ण परिग्रह त्याग से ही मोक्ष संभव है	143-147
इकाई 5 — आर्यिका चर्या (जैन साध्वी चर्या)	**148-196**
पाठ-1 नारी जीवन की उत्कृष्ट साधना-आर्यिका दीक्षा	148-162
पाठ-2 आर्यिका की आगमोक्त विनय विधि	163-169
पाठ-3 मुनि और आर्यिका की चर्या में अन्तर	170-174
पाठ-4 ऐतिहासिक आर्यिकाएँ	175-196

इकाई–1 गृहस्थ से श्रावक बनने की प्रक्रिया

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) गृहस्थ धर्म

(2) जैनागम में वर्णित श्रावक धर्म

(3) गृहस्थों के अष्टमूलगुण

(4) गृहस्थों के षट् आवश्यक कर्म

पाठ-1 – गृहस्थ धर्म

1.1 जो स्त्री, पुत्र, धन आदि के मोह से ग्रसित हैं वे सागार या गृहस्थ कहलाते हैं। वे यदि सर्वत्याग रूप मुनिमार्ग में प्रीति रखने वाले हैं और कारणवश उस पद को ग्रहण नहीं कर पाते हैं तभी वे श्रावक धर्म को ग्रहण करने के अधिकारी होते हैं, अन्यथा यदि मुनि धर्म में उनकी हार्दिक प्रीति नहीं है तो वे धर्मात्मा और पापभीरु नहीं कहे जा सकते हैं।

अनादिकालीन जो मोहरूपी अविद्या है उसके निमित्त से प्रत्येक व्यक्ति को आहार,भय, मैथुन और परिग्रह की अभिलाषा रूप चार संज्ञारूपी ज्वर चढ़ा हुआ है जिससे ये जीव निरन्तर ही अपने आत्मज्ञान से विमुख हो रहे हैं और विषयों में रच–पच रहे हैं। यही कारण है कि गृहस्थ अनादिकालीन अविद्या से चली आई हुई ऐसे परिग्रह आदि में "ममेदं" यह मेरा है, ऐसा बुद्धि को दूर करने में असमर्थ हो रहे हैं और प्रायः करके इन्द्रियों के भोगों में ही मूर्च्छित हो रहे हैं। वास्तव में जिनका चित्त मिथ्यात्व से ग्रसित है वे मनुष्य होकर भी पशुओं के समान हैं और जिनके हृदय में सम्यक्त्व रूपी चेतना व्यक्त हो चुकी है वे पशु होकर भी मनुष्य के समान हैं।

किन्हीं जीवों के लिये यह अगृहीत मिथ्यात्व घोर अन्धकार के समान है। अन्य किन्हीं जीवों का गृहीत मिथ्यात्व उन्हें गृह–पिशाच के समान त्रसित किये है और किन्हीं का सांशयिक मिथ्यात्व उन्हें शल्य–काँटे के समान दुःखदायी होता है अर्थात् अनादिकालीन मिथ्यात्वबुद्धि अगृहीत मिथ्यात्व है, पर के उपदेश से विपरीत श्रद्धा गृहीत मिथ्यात्व है और अंतरंग में सत्य और असत्य धर्मों के प्रति संशय बना रहना संशय मिथ्यात्व है। ये तीनों ही जीवों को दुःखदायी हैं।

कदाचित् आसन्न भव्यता, निकट भव्यता, कर्मों की हानि होना, संज्ञी पंचेंद्रिय होना, विशुद्ध परिणामों को प्राप्त करना, सच्चे गुरु का उपदेश मिलना आदि कारणों से जीव मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्त्व–समीचीन दृष्टि प्राप्त करता है क्योंकि इस कलिकाल रूपी वर्षा काल में चारों तरफ मिथ्यात्वरूपी बादल छाये हुये हैं। ऐसी स्थिति में सच्चे उपदेश देने वाले गुरुजन जुगनू के समान कदाचित् क्वचित् ही अपना प्रकाश फैलाते हुए उपलब्ध होते हैं। ऐसे युग में यदि सम्यग्दृष्टि श्रोता न मिलें तो जो भद्र हैं उन्हें ही उपदेश सुनाकर सम्यग्दृष्टी बनाना चाहिये।

1.2 भद्र का लक्षण क्या है ? सो देखिये–

कुधर्मस्थोपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाद्विषन् ।
भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात्।।

जो कुधर्म में स्थित है फिर भी यदि वह मिथ्यात्वकर्म की मंदता से सच्चे धर्म में द्वेष नहीं करता है तो भद्र है और उपदेश के लिए पात्र है क्योंकि वह भविष्य में सच्चे धर्म को ग्रहण कर सकता है किन्तु जो इस लक्षण से विपरीत है उसे अभद्र कहते हैं।

सच्चा गृहस्थ ही श्रावक बन सकता है।

गृहस्थ धर्म को धारण करने वाले पुरुष का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि–

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् , सद्गीस्त्रिवर्गं भजन् ।
अन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी , स्थानालयो ह्रीमयः ।।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः, प्राज्ञः कृतज्ञो वशी।
श्रृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ।।

अर्थ– न्यायपूर्वक धन कमाने वाला, गुणगुरु, मुनि, आर्यिका आदि संयमी की तथा अपने माता–पिता आदि की यथायोग्य पूजा, सत्कार, प्रणाम आदि करने वाला, प्रशस्त वचन बोलने वाला, धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का परस्पर विरोध रहित सेवन करने वाला, तीन पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अपने योग्य पत्नी, ग्राम और घर जिसका है ऐसा वह लज्जाशील, शास्त्रोक्त आहार विहार में प्रवृत्ति करने वाला, आर्य——सज्जन पुरुषों की संगति में रहने वाला, बुद्धिमान, किये हुए उपकार को मानने वाला, इन्द्रियों को वश में करने वाला, दयालु और पापभीरु जो ऐसा गृहस्थ धर्म की विधि को सुनता है, वही सागारधर्म——श्रावक धर्म की विधि को सुनता है, वही सागार धर्म——श्रावक धर्म को धारण करने के लिये योग्य माना गया है अर्थात् इतने ये गुण जिस व्यक्ति में होते हैं वही श्रावक धर्म को पालन करने में समर्थ होता है।

संक्षेप में देखा जाये तो निर्दोष सम्यग्दर्शन, निरतिचार अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत इनको धारण करना तथा मरणकाल में विधिवत् सल्लेखना करना इतने से ही यह सागार धर्म पूर्ण हो जाता है।

अथवा अष्टमूलगुण को धारण करना, अणुव्रत आदि उत्तर गुणों को पालना, पाँच परमेष्ठी के चरणों की शरण ग्रहण करना; दान और पूजा मुख्यरूप से करना तथ हमेशा सम्यग्ज्ञानरूप अमृत के पिपासु रहना ही श्रावक का लक्षण है।

इनके लिये वैसे दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमायें भी होती हैं। उनमें से यदि एक, दो आदि प्रतिमाओं को भी ग्रहण कर लेता है तो वह परम्परा से मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

धर्म, यश और सुख ये तीन चीजें हैं। कोई इनमें से एक को तथा कोई किन्हीं भी दो को प्राप्त कर लेते हैं किन्तु जो इन तीनों को प्राप्त करने वाले हैं उन्हीं का मनुष्य जन्म सार्थक है।

1.3 श्रावक के भेद——

श्रावक के तीन भेद माने हैं——पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक।

पाक्षिक–"संकल्पपूर्वक मैं किसी जीव का वध नहीं करुँगा।" जो ऐसी प्रतिज्ञा करके मैत्री आदि भावनाओं से सहित होता है और धर्म का पूर्णतया पक्ष रखता है वह अभ्यासरूप से श्रावक धर्म को पालता है उसे पाक्षिक श्रावक या प्रारब्ध देशसंयमी कहते हैं।

नैष्ठिक–जो निरतिचार श्रावक धर्म का पालन करता है । पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक की चर्या का अनुष्ठान करने वाला है अर्थात् उनमें से किसी भी प्रतिमा का धारी है वह श्रावक धर्म में निष्ठ होने से नैष्ठिक श्रावक या घटमान देशसंयमी कहलाता है।

साधक–गृहत्याग के अनन्तर जिसका देशसंयम पूर्ण हो चुका है और जो आत्मध्यान में लीन होकर मरणकाल में समाधिमरण का साधन करता है वह साधक श्रावक या निष्पन्न देशसंयमी कहलाता है।

परमवीतरागी, दिगम्बर मुनिराज श्रेणी पर आरूढ़ होकर विकल्पातीत शुद्ध आत्मतत्व के अनुभव का सच्चा रसास्वादन करते हैं। उस स्थिति से रहित आरम्भादि में फँसे हुए गृहस्थ के योग्य कार्यों का विवेचन महान् तार्किक दिगम्बर जैनाचार्यों ने करुणा बुद्धि से ओतप्रोत होकर किया है।

1.4 पाक्षिक श्रावक का लक्षण—

जो श्रावक जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से निरन्तर ही विषयों को छोड़ने योग्य समझता हुआ भी मोह के निमित्त से उन्हें छोड़ने के लिये असमर्थ है। आचार्यों ने उस गृहस्थ के लिए ही गृहस्थ धर्म पालने की अनुमति दी है। उस गृहस्थ धर्म में सबसे प्रथम वह गृहस्थ जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का श्रद्धान करता हुआ हिंसा को छोड़ने के लिये मद्य, मांस, मधु और पाँच उदम्बर फलों का त्याग कर ही देवे।

1.4.1 मद्य–

शराब के एक बिन्दु में इतने जीव हैं कि वे संचार करें तो तीन लोक को भी पूरित कर सकते हैं और उसके पीने से जीवों के इहलोक–परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं इसलिए इस मदिरा को दूर से ही छोड़ देना चाहिए।

1.4.2 मांस–

मांस का भक्षण तो स्पष्ट में ही बुरा है। यहाँ तक कि विवेकी सभ्यजन मांस के नाम को सुनकर भोजन करते हुए भी छोड़ देते हैं।

प्रश्न– देखो, जैसे मांस प्राणी का अंग है वैसे ही अन्न भी एकेंद्रिय प्राणी का अंग है पुनः अन्न, वनस्पति आदि का भक्षण करना भी मांस दोष के समान है ?

उत्तर– ऐसा नहीं है, देखो अन्न और मांस दोनों ही यद्यपि प्राणी के अंग समान रूप से हैं फिर भी अन्तर है, क्योंकि अन्न खाने योग्य है और मांस खाने योग्य नहीं है। जैसे स्त्री और माता दोनों ही स्त्रीपने से समान हैं किन्तु स्त्री ही भोग्य है माता नहीं, अथवा यों समझिये कि मांस जीव का शरीर है किन्तु जो–जो जीव के शरीर हैं वे सभी मांस नहीं हैं। जैसे कि नीम तो वृक्ष है किन्तु जितने वृक्ष हैं वे सभी नीम नहीं हैं अथवा गाय से उत्पन्न होकर भी दूध ग्राह्य है किन्तु गोमांस ग्राह्य नहीं है। सर्प से मणि उत्पन्न होती है वह तो विषनाशक है किन्तु सर्प का डस लेना विषकारक है इसलिए एकेंद्रिय जीवों के कलेवर अन्न, वनस्पति आदि की मांस संज्ञा नहीं है किन्तु दो इंद्रिय से लेकर सभी जीवों के कलेवर मांस कहलाते हैं और वे त्याज्य हैं।

1.4.3 मधु–

शहद की एक बिंदु मात्र के भक्षण से सात ग्राम के जलाने जितना पाप लगता है इसलिये यह भी महानिंद्य पदार्थ है। इसी प्रकार से नवनीत—मक्खन को भी दो मुहूर्त के बाद में नहीं खाना चाहिये। उसमें बहुत से सूक्ष्म जीव जन्म ले लेते हैं उसी प्रकार से पीपल, उदम्बर,पाकर, बड़ और अंजीर इन फलों को सुखाकर भी नहीं खाना चाहिये। अष्ट मूलगुणधारी श्रावक का कर्तव्य है कि वह रात्रि भोजन और अनछना पानी भी कभी नहीं पीवे क्योंकि स्वास्थ्य और धर्म दोनों की हानि करने वाले हैं । यह पाक्षिक श्रावक पाँच अणुव्रतों को भी अभ्यास रूप से पालता है और सप्त व्यसनों का भी त्याग कर देता है।

दूसरी प्रकार से अष्ट मूलगुणों का वर्णन इस प्रकार है—मद्य, मांस, मधु, रात्रि भोजन और पाँच उदम्बर फल इनका त्याग करना तथा पंचपरमेष्ठी की वंदना करना, जीव दया पालना और पानी छानकर पीना। जो भव्य जीव जीवन भर के लिये इन महापापों को छोड़ देता है और जिसका यज्ञोपवीत संस्कार हो चुका है ऐसा शुद्ध बुद्धि वाला जीव ही जिनधर्म को सुनने के लिये योग्य होता है। इसी बात को श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है–

"अनिष्ट, दुस्तर और पापों के घर ऐसे इन आठों को छोड़कर शुद्ध बुद्धि वाले प्राणी जिनधर्म की देशना के पात्र होते हैं।"

1.5 श्रावकों का प्रमुख कर्त्तव्य-पूजा—

सम्यग्दृष्टि श्रावक हमेशा जिनेन्द्रदेव की पूजा किया करता है।

पूजा को इज्या भी कहते हैं । इसके पाँच भेद हैं–नित्यमह, आष्टान्हिक, इन्द्रध्वज, चतुर्मुख और कल्पद्रुम।

1.5.1 नित्यमह–

अपने घर पर स्नान करके शुद्ध धुले हुये वस्त्र पहनकर घर से जल , चन्दन आदि सामग्री ले जाकर मंदिर में जिनेन्द्रदेव की पूजा करना नित्यमह कहलाती है। अपनी शक्ति के अनुसार मंदिर में जिनेन्द्रदेव की पूजा करना नित्यमह कहलाती है। अपनी शक्ति के अनुसार जिनप्रतिमा–जिनमंदिर आदि का निर्माण कराना, मन्दिर की पूजा व्यवस्था के लिये जमीन, धन आदि मन्दिर में दान देना, त्रिकाल में जिनदेव की आराधना करना, अपने घर के चैत्यालय में पूजा करना और भक्तिपूर्वक प्रतिदिन मुनियों को दान देना यह सब नित्यमह पूजा है।

1.5.2 आष्टान्हिक–

नन्दीश्वर पर्व में जो पूजा की जाती है वह आष्टान्हिक पूजा है।

1.5.3 इंद्रध्वज–

जो पूजा इन्द्र आदिकों के द्वारा विशेष रूप से की जाती है वह इन्द्रध्वज कहलाती है।

1.5.4 चतुर्मुख–

जो जिनपूजा मुकुटबद्ध मंडलेश्वर राजाओं द्वारा की जाती है वह सर्वतोभद्र–महामह या चतुर्मुख कहलाती है।

1.5.5 कल्पद्रुम–

इस पूजा में चक्रवर्ती किमिच्छक दान देकर सभी की इच्छा पूर्ण कर देते हैं अर्थात् तुम्हें क्या इच्छा है, तुम्हें क्या इच्छा है ऐसा सभी की इच्छा को पूर्ण करते हुये दान देकर जो जिनेन्द्रदेव की महान् पूजा करते हैं वह कल्पद्रुम इस अपने सार्थक नाम वाली पाँचवीं पूजा कहलाती है।

जो गृहस्थ अभिषेक , पूजन, गीत, नृत्य आदि द्वारा पूजन करते हैं वे महान् पुण्य का बंध कर लेते हैं।

1.6 अष्ट द्रव्य से पूजन का फल—

अर्हंतदेव के चरणों में जलधार देने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मरूपी रज शांत हो जाती है। चंदन से पूजा करने से सुगन्धित शरीर प्राप्त होता है । अक्षत से पूजा वैभव को अखण्डित करने वाली है। पुष्प से पूजा करने वाले स्वर्ग में मंदार माला को प्राप्त करते हैं। नैवेद्य से पूजा करने से लक्ष्मी के स्वामी होते हैं। दीप से पूजा करने वाले कांती को विस्तृत करते हैं। धूप से पूजन करके उत्कृष्ट सौभाग्य को प्राप्त होते हैं। फल से पूजा करके इच्छित फल को प्राप्त कर लेते हैं और अर्घ से पूजा करके अभिमत वस्तुओं को प्राप्त कर लेते हैं। इसके सिवाय जिनपूजा का फल तो अचिन्त्य है। सम्यग्दृष्टि पूजक को मैं पहले, मैं पहले कहते हुये सभी सुख-संपत्तियाँ आकर घेर लेती हैं।

निर्विघ्नता से पूजा , बड़े–बड़े विधान आदि करने के लिये यथायोग्य दान–मान आदि सत्कारों से विधर्मियों को भी अपने अनुकूल करके और सहधर्मियों को भी अपने आधीन करके पूजा करना चाहिये। जो श्रावक स्त्री संसर्ग, आरम्भ आदि सहित हैं, वे विधिवत् स्नान आदि करके शुचि होकर ही जिनपूजा करें।

1.7 मंदिर बनवाना भी श्रावक का कर्तव्य है–

यहाँ प्रश्न उठता है कि मंदिर बनवाने से तो महान् आरम्भ होता है ?

इसका उत्तर यह जानना है कि जिनप्रतिमा, जिनमंदिर, वसतिका और स्वाध्यायभवन आदि बनवाने वालों को महान् सातिशय पुण्य का बंध होता है और परम्परा से वे लोग इस पुण्य के बल से कर्मों का भी नाश कर देते हैं, क्योंकि गृहस्थ तो हमेशा पाप क्रिया रूप आरम्भ में, व्यापार में, मकान बनवाने आदि में ही प्रवृत्त रहते हैं । यद्यपि मन्दिर बनवाने आदि के आरम्भ में हिंसा है तो भी उसके महान् पुण्य में वह समुद्र के जल में एक कण विष के समान क्या कर सकता

है ? और तो क्या—"मुक्तिप्रासादसोपानमाप्तेरुक्त जिनालयः" शास्त्र में ऐसा कहा है कि जिनेन्द्रदेव ने मन्दिर को मुक्ति महल की सीढ़ी बताया है।

जैनाचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि—इस दुःषमाकालरूपी रात्रि को धिक्कार हो कि जहाँ पर बड़े–बड़े शास्त्र के विद्वान् भी जिनबिंबदर्शन के बिना प्रायः करके भगवान् की भक्ति करने में प्रवृत्त नहीं होते हैं इसलिये प्रत्येक स्थान पर जिनमन्दिर की परम आवश्यकता है। अहो! इस पंचम काल में गृहत्यागी मुनियों का मन भी रागादि परिणति से चंचल होकर धर्म – कर्म में प्रवृत्ति नहीं कर पाता है इसलिये जिनमन्दिर की बहुत ही आवश्यकता है अर्थात् मुनिगण भी मन्दिर और जिनप्रतिमाओं के आश्रय से अपनी प्रवृत्तियों को नियमित कर पाते हैं, उन्हें भी आज इसकी पूरी आवश्यकता रहती है।

इस प्रकार सरल प्रवृत्ति से जिनपूजा करने वालों के सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं और दशों दिशायें उनके मनोरथों को पूर्ण करती हैं।

महान् करुणावन्त तीर्थंकर परमदेव, चार ज्ञान के धारक गणधरदेव तथा उसी अन्वय में आगत दिगम्बर जैनाचार्यों ने गृहस्थियों के लिए परम्परा से मोक्ष प्राप्ति का उपाय बताया है, उसी बात को परमकारुणिक भावना से ओतप्रोत हो गुरुओं ने बताया है।

1.8 पाक्षिक श्रावक के अष्टमूलगुण धारण और जिनेन्द्रदेव की पूजन के अतिरिक्त अन्य मुख्य कर्त्तव्य–

श्रावक जैन शास्त्रों की भी विधिवत पूजा करे। गणधरदेव ने ऐसा कहा है कि जो भव्य जीव भक्तिपूर्वक श्रुत की अर्चा कर रहे हैं क्योंकि "श्रुत और अर्हंत देव में कुछ भी अन्तर नहीं है।" उसी प्रकार से गुरुओं की भी नितप्रति पूजन करना चाहिये क्योंकि गुरु की भक्ति से बड़े–बड़े विघ्न क्षणमात्र में समाप्त हो जाते हैं। छल–कपट रहित मनोवृत्ति से और गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति से हमेशा विनय से गुरु के मन में प्रवेश करके गुरु के मन को अनुरंजित कर लेवे जैसे कि राजा का मन अनुरंजित किया जाता है। गुरु के पास बैठने पर शास्त्रविरुद्ध ऐसी कोई भी क्रियायें नहीं करनी चाहिये जैसे कि क्रोध, हँसी, विवाद आदि नहीं करना, असत्य भाषण नहीं करना, ताली,चुटकी आदि नहीं बजाना इत्यादि।

1.9 दान के भेद–

पात्रदत्ति, समदत्ति, दयादत्ति और अन्वयदत्ति ऐसे दान के भेद माने गये हैं। दान को दत्ति शब्द से कहते हैं।

1.9.1 पात्रदत्ति–

यह धन बड़े भाग्य से प्राप्त होता है और आश्चर्य इस बात का है कि यह प्राणों के साथ ही विनष्ट हो जाता है अर्थात् यहीं पर छूट जाता है, साथ में अणुमात्र भी नहीं जाता है इसीलिए परलोक में इसे अपने साथ अनंत गुणित रूप करके लेने के लिए यदि कोई उपाय है तो एक पात्रदान ही है।

आजकल के मुनियों में पूर्वमुनियों की स्थापना करके भक्ति से उनकी पूजा करनी चाहिये जैसे कि आप पाषाण की प्रतिमाओं में जिनेन्द्रदेव की स्थापना करके उनकी पूजा करते हैं क्योंकि अति चर्चा—क्षोदक्षेम करने वालों का कल्याण कैसे हो सकता है ?

अन्यत्र ग्रन्थों में भी कहा है कि—भोजनमात्र प्रदान करने के लिए तुम्हें साधुओं की परीक्षा से क्या लाभ है ? वे मुनि ठीक हों या न हों, दान से गृहस्थ तो शुद्ध हो ही जाता है। गृहस्थों के धन का व्यय तो हर प्रकार के आरंभ में हो ही रहा है अतः पात्रदान में उन्हें इतना अधिक सोच–विचार नहीं करना चाहिए। जैसे एक खंभे पर घर नहीं ठहर सकता है उसी प्रकार से केवल छोटे या बड़े के ऊपर ही लोक की स्थिति नहीं हो सकती है। देखो, इस कलिकाल में यह शरीर तो अन्न का कीड़ा बना हुआ है, चित्त मर्कट के समान चंचल है ऐसी स्थिति में यदि जिनमुद्रा के धारी मुनिजन दिखते हैं, तो समझना चाहिए कि यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात है।

ज्ञानमर्च्यं तपोऽगत्वात् तपाऽर्च्यं तत्परत्वतः।
द्वयमर्च्यं शिवांगत्वात् तद्वंतोर्च्या यथागुणम्।।

ज्ञान पूज्य है क्योंकि वह तप का कारण है। तप भी पूज्य है क्योंकि वह ज्ञान के अतिशय में कारण है। ये ज्ञान और तप दोनों ही पूज्य हैं क्योंकि ये मोक्ष के कारण हैं इसलिये उनके यथायोग्य गुणों के अनुसार ज्ञानी और तपस्वी दोनों ही पूजनीय होते हैं। अभिप्राय यह है कि किन्हीं साधु में ज्ञान विशेष है तप नहीं है वे भी पूज्य हैं, किन्हीं में तप विशेष है ज्ञान अल्प है वे भी पूज्य हैं और जिनमें दोनों हैं वे तो विशेष रीति से मान्य हो जाते हैं।

अनगार मुनि उत्तम पात्र हैं, प्रथम प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमाधारी तक क्षुल्लक, ऐलक आदि मध्यम पात्र हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। इनमें यथायोग्य दान देने से यदि कोई भव्य जीव सम्यग्दृष्टि नहीं है तो क्रम से उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि को प्राप्त कर लेता है जैसे कि राजा वज्रजंघ, रानी श्रीमती ने आहारदान देकर और नकुल, वानर, सूकर तथा व्याघ्र ने मुनियों के आहारदान को देखकर उत्तम भोगभूमि प्राप्त की थी किन्तु जो सम्यग्दृष्टि हैं वे दान के प्रभाव से स्वर्ग के सुख भोगकर परम्परा से मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

यह जिनधर्म जगत् का बंधु है इसकी परम्परा को सतत चलाने के लिये मुनियों को पैदा करने का प्रयत्न करें तथा जो वर्तमान में हैं उनके ज्ञान आदि गुणों को बढ़ाकर उनके उत्कर्ष को बढ़ाने का प्रयत्न करना यह श्रावक का कर्त्तव्य है। यदि कलिकाल के दोष से या साधु के कुछ कर्मोदय के कारण प्रयत्न करने पर भी उनके गुणों का विकास नहीं हुआ तो भी प्रयत्न करने वाले श्रावक का तो कल्याण हो ही जाता है। यदि साधु में गुणों का विकास हो जाये तो फिर श्रावक को और उसके निमित्त से अनेकों जीवों को भी उन मुनि से लाभ हो जाता है अतः साधुओं को ज्ञानदान के लिये विद्वान की व्यवस्था करना आदि कार्य बहुत ही उपयोगी हैं। उसी प्रकार से आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि का भी यथायोग्य दान आदि के द्वारा सत्कार करना चाहिए। उन्हें उनके पद के योग्य वस्त्र आदि भी देने चाहिये। यह सब पात्रदत्ति का स्वरूप हुआ।

1.9.2 दयादत्ति–

दुःख से भयभीतजनों को अभयदान देना दयादत्ति है अथवा अपने आश्रितजनों को या दीनदुःखी जनों को वस्त्र, भोजन आदि करुणा भाव से देना दयादत्ति है।

1.9.3 समदत्ति–

जिस जैन में ज्ञान और तप नहीं है केवल एकमात्र जैनत्व गुण ही स्फुरायमान है वह तमाम अजैनों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, क्योंकि जिसके मन में इतना विश्वास है कि 'जिनदेव ही संसार समुद्र से पार करने वाले हैं वह कल्याण का इच्छुक है, सबसे प्रथम उस पर अनुग्रह करना चाहिये। "एक जैन पर उपकार करना जितना श्रेष्ठ है हजारों अजैनों पर उपकार करना उतना श्रेष्ठ नहीं है"। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा से जैन भी इतरों की अपेक्षा श्रेष्ठ है फिर यदि वे द्रव्य से या भाव से जैन हुये तो फिर कहना ही क्या है ?

ऐसे अपने समान धर्म वाले जैन को कन्या, भूमि, सुवर्ण, रत्न, मकान आदि देना समदत्ति कहलाती है।

निर्दोष श्रावक को अपनी कन्या विवाह कर धर्म की परम्परा को अविच्छिन्न चलाना यह भी एक दान ही है। जिसने जिसको कन्या दी है समझो उसने उसे त्रिवर्ग–धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को ही दिया है। आज के युग में जिसके कन्या है वे माता–पिता कन्या को भारभूत समझते हैं कारण कि दहेज प्रथा ने माता–पिता के जीवन को महान् कष्टकर बना दिया है। सभी सुशिक्षित कन्याओं का एवं सुशिक्षित युवावर्गों का कर्त्तव्य है कि इस कुरीति का जड़मूल से विनाश करके विश्व में और अपने गृहस्थ जीवन में भी सुख शांति की स्थापना करें। देखिये–

"सत्कन्यां ददतः दत्तः सत्त्रिवर्गो गृहाश्रमः।
गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्यकटसंहतिम् ।।"

उत्तम कन्या को देने वाले साधर्मी गृहस्थ के लिये तीनों वर्ग सहित गृहस्थाश्रम ही दिया है क्योंकि विद्वान लोग गृहिणी को ही घर कहते हैं किन्तु दीवाल और वासादि के समूह को घर नहीं कहते हैं। यह सब समदत्ति दान कहलाता है।

1.9.4 अन्वयदत्ति—

अपने योग्य पुत्र पर घर का भार छोड़कर आप गृहस्थी से निवृत्त होना अन्वयदत्ति कहलाती है।

इस प्रकार से पाक्षिक श्रावक अपनी प्रवृत्ति को देवपूजन, दान, स्वाध्यायमय बना लेता है तथा शक्ति अनुसार तपश्चरण भी करता है।

अनेक जिज्ञासुओं की उत्कण्ठा को दृष्टि में रखते हुए **गृहस्थावस्था में गृहस्थ धर्म को सार्थक** बनाने की समीचीन विधि प्रदर्शित की जा रही है–

पाक्षिक श्रावक अपने से अधिक गुणों के अनुराग से दान आदि के द्वारा समयिक, साधक, समयद्योतक, नैष्ठिक और गणाधिपों को संतुष्ट करे अर्थात् समयिक, साधक आदि के भेद से धर्मपात्र पांच प्रकार के माने गये हैं।

समयिक– जिनधर्म का आश्रय लेने वाले यति या श्रावक समयिक कहलाते हैं।

साधक– ज्योतिषशास्त्र, मंत्रशास्त्र आदि निमित्तों के ज्ञाता और भी लोकोपकारक शास्त्र के ज्ञाता साधक कहलाते हैं।

समयद्योतक–वाद–विवाद के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करने वाले समयद्योतक कहलाते हैं।

नैष्ठिक– मूलगुण–उत्तरगुण और प्रशंसनीय तप में विशेष निष्ठा रखने वाले नैष्ठिक कहलाते हैं।

गणाधिप– धर्माचार्य–दिगम्बर आचार्य और गृहस्थाचार्य ये दोनों ही गणाधिप कहलाते हैं।

इन सभी में उनके विशेष-विशेष गुणों के अनुसार यथायोग्य दान,सम्मान, संभाषण आदि के द्वारा उनको दान देवें, इसी बात को और स्पष्ट करते हैं—

1. जिनधर्म के धारक यति अथवा श्रावक दान देने के समय जो भी उपलब्ध हों, सम्यग्दृष्टि यथोचित उनका सत्कार करे, उन्हें दान देवे क्योंकि ये समयिक हैं।

2- परोक्ष अर्थ को जानने में जिनकी बुद्धि समर्थ है ऐसे ज्योतिषशास्त्र, मंत्रशास्त्र, निमित्तशास्त्र आदि के ज्ञाता साधक कहलाते हैं। कर्त्तव्य के जानने वाले होने से ये भी पात्र हैं सम्यग्दृष्टि इन्हें दान आदि देकर सम्मान करें।

3- यदि ऐसे ज्ञानी न रहें तो उनके बिना जैनधर्म के मर्मज्ञ की दीक्षा, प्रतिष्ठा, यात्रा, क्रिया कैसे हो सकेगी ? तथा इस विषयक प्रश्न होने पर जैनधर्म की उन्नति कैसे होगी ? इसलिये 'समय द्योतक' विद्वान का भी आदर करना चाहिये।

4- **मूलगुण–** उत्तर गुण तथा श्रेष्ठ तप के द्वारा जिनका विशेष स्थान है और इसी कारण जो नैष्ठिक कहलाते हैं ऐसे साधु भी धर्मात्माओं द्वारा भले प्रकार पूजनीय हैं।

5- जो ज्ञानकांड और क्रियाकांड के विषय में चतुर्वर्ण में अग्रणी माने जाते हैं, जो संसार सागर से पार उतारने में जहाज के समान हैं वे सूरि भी देव के समान पूज्य हैं।

इन धर्मपात्रों में उत्तम, मध्यम और जघन्य तीनों प्रकार के पात्र आ जाते हैं। इनमें दान देते समय यथायोग्य पात्रदत्ति और समदत्ति को समझ लेना चाहिये। मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन रत्नत्रय सहित पात्रों में भक्ति से दिया गया दान पात्रदत्ति की कोटि में आता है और गृहस्थों में यथायोग्य रीति से वात्सल्य बुद्धि से दिया गया दान समदत्ति की कोटि में आता है, ऐसा समझना चाहिए।

गृहस्थों के छह आर्य कर्म होते हैं– इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप। इनमें से इज्या अर्थात् पूजा के 5 भेद पहले आ चुके हैं। असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्पकला, इनसे आजीविका करना/धन उपार्जन करना वार्ता है। चार प्रकार की दत्ति का वर्णन स्पष्ट किया गया है। निर्दोष आप्त के द्वारा दिव्यध्वनिरूप से जिनका प्रतिपादन किया है, गौतम गणधर आदि के द्वारा जो रचे गये हैं, पुनः परम्परा से आचार्यों द्वारा वर्णित है ऐसे ग्रंथों को पढ़ना–पढ़ाना,

लिखना–लिखाना, मनन करना,उपदेश करना आदि स्वाध्याय है। षट्काय जीवों की या त्रसजीवों की दया पालना, इंद्रिय और मन को वश में करना संयम है। अनशन आदि तपश्चरण करना तप है। तप——इस आवश्यक कर्म में अनेक प्रकार के व्रतों का वर्णन किया गया है।

यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानप्रवृत्तितः।
व्रतयेत् सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते।

जितने काल तक विषय (कोई भी पदार्थ) सेवन करने में नहीं आते हैं तब तक उनमें प्रवृत्ति न होने से उनका नियम कर लेना चाहिये अर्थात् जब तक मैं इस वस्तु का सेवन नहीं करूंगा तब तक के लिये मुझे इनका त्याग है ऐसा नियम करे। यदि कदाचित् व्रतसहित मर गया तो परलोक में भी सुखी हो जाता है।

इसके अतिरिक्त पंचमीव्रत, णमोकार पैंतीस, जिनगुणसंपत्ति, रोहिणी, रत्नत्रय, लब्धिविधान, वृहत्पल्य आदि व्रतों को भी विधिवत् करना चाहिये।

किसी भी वस्तु का त्याग करना व्रत कहलाता है । उसको विधिवत् गुरु के सान्निध्य में ग्रहण करना चाहिये–

समीक्ष्य व्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः।
छिन्नं दर्पात् प्रमादाद्वा प्रत्यवस्थाप्यमंजसा।।

अपनी स्थिति को देखकर व्रत लेना चाहिये, किये हुये व्रतों का प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये । गर्व से या प्रमाद से यदि व्रत भंग हो जाये तो शीघ्र ही प्रायश्चित्त लेकर पुनः उस व्रत को ग्रहण कर लेना चाहिये।

संकल्पपूर्वकः सेव्यो नियमोऽशुभकर्मणः।
निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवत्तिः शुभकर्मणि।।

सेवन करने योग्य विषयों का संकल्पपूर्वक नियम करना अथवा अशुभ कार्यों से संकल्पपूर्वक निवृत्त होना—उनका त्याग करना अथवा शुभ कार्यों में अहिंसादिव्रत को ग्रहण करने में प्रवृत्ति करना व्रत कहलाता है अर्थात् भक्ष्य–नमक, घी आदि वस्तुओं का भी जीवन भर के लिए या कुछ दिन के लिए त्याग कर देना। हिंसादि पापों का या अभक्ष्य आदि वस्तुओं का कुछ दिन के या जीवन भर के लिए त्याग कर देना अथवा शुभ कार्यों को, व्रतों को गुरुसाक्षीपूर्वक ग्रहण करना यह सब व्रत कहलाते हैं। इन श्रावक क्रियाओं को पालन करने वाले श्रावक का कर्तव्य है कि वह हर हालत में संकल्पी हिंसा का त्याग अवश्य कर देवे।

अपने सम्यक्त्व को निर्मल करने के लिये गिरनार, पावापुरी, चंपापुरी, सम्मेदशिखर जी आदि तीर्थयात्रायें भी करते रहना चाहिये तथा लौकिक चिंता को दूर करने के लिए हर्ष से इष्ट मित्रों को भोजन कराना आदि क्रियायें भी करता रहे। जीमन करने-कराने से कभी भी धन की हानि नहीं होती है प्रत्युत धन की वृद्धि ही होती है और आपस का प्रेम बढ़ता है । गृहस्थ को चित्त की प्रसन्नता के लिये कीर्ति उपार्जन करना चाहिए क्योंकि अपकीर्ति से मन संतापित होता है और मन में संताप होने से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है तथा कीर्ति से मन प्रसन्न होता है और मन की प्रसन्नता से शुभ कर्मों का आस्रव होकर पुण्यबंध होता है इसलिए अपने में असाधारण गुणों की वृद्धि करना चाहिए, विद्वानों द्वारा प्रशंसनीय, पापनाशक दान, सत्य, शौच, शील, संयमादि उत्तम-उत्तम गुणों को अपने में लाना चाहिए जिससे इस लोक में शांति और सुख मिलता है तथा कीर्ति प्राप्त होती है। परलोक में सुख, शांति की वृद्धि होते हुए अंत में परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति भी हो जाती है।

1.10 श्रावकों के चार आश्रम–

ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और भिक्षुकाश्रम (संन्यस्ताश्रम) जैनों के ये चार आश्रम होते हैं। ऐसा सातवें उपासकाध्ययन नामक अंग में बताया गया है यथा–

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमांगाद्विनिःसृताः।।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये चार आश्रम सातवें उपासकाध्ययन से निकले हैं।

1. **ब्रह्मचर्याश्रम**– जहाँ पर पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन होता है उसे ब्रह्मचर्य आश्रम कहते हैं। ब्रह्मचारी के पाँच भेद हैं–उपनयन, अवलंब, अदीक्षा, गूढ़ और नैष्ठिक।

1. **उपनयनब्रह्मचारी**– जो मौजीबन्धन विधि के अनुसार गणधरसूत्र (यज्ञोपवीत) को धारण कर गुरु के पास उपासकाध्ययन आदि शास्त्रों का अभ्यास करते हैं और फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं उन्हें उपनयन ब्रह्मचारी कहते हैं।

2. **अवलंबब्रह्मचारी**–गुरु के पास क्षुल्लक रूप से समस्त शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले अवलंब ब्रह्मचारी हैं।

3. **अदीक्षा ब्रह्मचारी**–जो ब्रह्मचारी के वेष को धारण किए बिना ही शास्त्रों का अभ्यास करते हैं फिर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते है उन्हें अदीक्षा ब्रह्मचारी कहते हैं।

4. **गूढ़ ब्रह्मचारी**–जो बाल्यावस्था में ही गुरु के पास रहकर शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। नग्न रहकर ही संयम पालते हैं (किन्तु दीक्षा नहीं ली है) पुनः कारणवश गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं, वे गूढ़ ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

5. **नैष्ठिक ब्रह्मचारी**–जो व्रत के चिह्न——शिरोलिंग——चोटी, उरोलिंग——जनेऊ,कटिलिंग——लंगोटी एवं करधनी धारण करते हैं, भिक्षावृत्ति से भोजन करते हैं, जो स्नातक या व्रती हैं, सदा जिनपूजा आदि करने में तत्पर हैं वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। ब्रह्मचर्याश्रम चारों ही आश्रमों में प्रमुख है। इसका अभिप्राय यह है कि कोई भी व्यक्ति पहले कुमार काल——बाल्यावस्था में ब्रह्मचारी ही रहता है। यदि वह ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश कर अर्थात् गुरुकुल आदि में रहकर यज्ञोपवीत आदि संस्कारों से सुसंस्कृत होकर शास्त्रों का अभ्यास करता है पुनः उसकी इच्छा हो तो मुनि भी बन जाता है, जैसे भद्रबाहु श्रुतकेवली और जिनसेनाचार्य आदि। कोई गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है जैसे जीवंधर कुमार आदि।

2. **गृहस्थाश्रम**–यदि वह भव्यजीव मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिये समर्थ नहीं है तो वह गुरुकुल से आकर धर्म पुरुषार्थ की सिद्धि हेतु "माता–पिता की अनुकूलता से सजातीय कन्या के साथ विवाह करे। "उत्तम श्रावक ने उत्तम कन्या साधर्मी मनुष्य को दी है तो समझना चाहिए कि उसने धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को ही दे दिया है, क्योंकि विद्वान लोग गृहिणी को ही घर कहते हैं किन्तु दीवाल आदि के समूह को घर नहीं कहते हैं।" घर में सुयोग्य स्त्री के बिना धर्म की परम्परा नहीं चल सकती है इसलिये धर्मसंतति, संक्लेशरहित रति, व्रत, कुल की उन्नति और देवपूजा, अतिथिदान आदि की परंपरा चालू रखने हेतु ही विवाह किया जाता है न कि मात्र भोग के लिये ही। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर वह श्रावक अपनी धर्मपत्नी को प्रेमपूर्वक धर्म में व्युत्पन्न कर दे क्योंकि मूर्ख अथवा विरुद्ध स्त्री अपने पति को धर्म से भ्रष्ट कर देती है। कुलस्त्री का भी कर्तव्य है कि वह हमेशा पति के अनुकूल ही आचरण करे, चूँकि पतिव्रता स्त्रियाँ ही धर्म, लक्ष्मी, सुख और कीर्ति का एक स्थान हैं। श्रावक भी अन्न के समान शारीरिक और मानसिक संताप की शांतिपर्यंत स्त्री का सेवन करे क्योंकि अधिक विषयासक्ति धर्म, अर्थ और शरीर को नष्ट कर देती है । वह गृहस्थ अपने पुत्र–पुत्रियों को भी प्रारम्भ से ही धर्म के संस्कार से संस्कारित कर देवे अन्यथा अन्य संस्कार पड़ जाने के बाद धार्मिक संस्कार का पड़ना कठिन हो जाता है। जैसे वस्त्र पर पहले पक्का नीला या काला रंग चढ़ जाये तो उस पर पीला रंग चढ़ाना कठिन क्या असंभव ही है।

गृहस्थ के छह आर्य कर्म होते हैं– इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप।

इनका वर्णन पहले आ चुका है।

3. **वानप्रस्थ आश्रम**– जो दिगंबर रूप को धारण न करके खंडवस्त्र ग्रहण करते हैं अर्थात् क्षुल्लक, ऐलक अवस्था में रहते हैं वे वानप्रस्थ कहलाते हैं ।

4. **संन्यस्ताश्रम**– अरहंत भगवान् की दिगंबर मुद्रा को धारण करने वाले सन्यासी या भिक्षुक कहलाते हैं।

भिक्षुक के चार भेद हैं– अनगार, यति, मुनि और ऋषि।

अनगार– सामान्य मुनियों को अनगार कहते हैं।

यति– जो उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में स्थित हैं वे यति हैं।

मुनि– अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियों को मुनि कहते हैं।

ऋषि– जिन्हें ऋद्धियाँ प्राप्त हो चुकी हैं वे ऋषि कहलाते हैं ।

ऋषि के चार भेद हैं– राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि।

जिन्हें विक्रियाऋद्धि और अक्षीण ऋद्धि प्राप्त हो चुकी है वे 'राजर्षि' हैं। बुद्धि ऋद्धि और औषधि ऋद्धि को धारण करने वाले 'ब्रह्मर्षि' हैं। आकाशगामिनी ऋद्धिधारी 'देवर्षि' हैं। केवलज्ञानी 'परमर्षि' कहलाते हैं।

वर्तमान में जितने भी दिगम्बर मुनि हैं चाहे आचार्य हों, उपाध्याय हों अथवा साधु हों, वे सभी अनगार में ही सम्मिलित हैं। जो उन्हें ऋषि, मुनि या यति कहते हैं वह उपचार की अपेक्षा है अथवा साधु के ये सभी पर्यायवाची नाम हैं इसलिये कहते हैं, वहाँ इन लक्षणों की अपेक्षा नहीं रहती है।

1.11 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जो स्त्री, पुत्र, धन आदि के मोह से ग्रसित हैं, वे क्या कहलाते हैं ?

(क) सागार गृहस्थ ☐ (ख) अनगार गृहस्थ ☐ (ग) कोई नहीं ☐

प्रश्न 2-श्रावक के कितने भेद हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) छह ☐ (ग) नव ☐

प्रश्न 3-पूजा कितने प्रकार से मानी गई है ?

(क) दो ☐ (ख) चार ☐ (ग) पाँच ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-चार संज्ञा कौन सी है ?

प्रश्न 2-भद्र का क्या लक्षण है ?

प्रश्न 3-श्रावक के चार आश्रम कौन से हैं और ये कहाँ से निकले हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-गृहस्थाश्रम की परिभाषा देते हुए गृहस्थ के छह भेदों का विस्तृत वर्णन कीजिए ?

पाठ 2 – जैनागम में वर्णित श्रावक धर्म

2.1 प्राणी मात्र का चरम लक्ष्य दु:ख से निवृत्ति एवं शाश्वत सुख–शान्ति की प्राप्ति है। प्रत्येक विवेकशील प्राणी यह तो निर्विवाद स्वीकार करता है कि कर्म से आबद्ध जीव इस जगत में परिभ्रमण करता है और विविध पर्यायों में जन्म–मरण करते हुए अनेक प्रकार के दु:खों का अनुभव करता है तथा उन दु:खों से निवृत्त होने का सतत प्रयास करता है। दु:खों से छुटकारा अर्थात् कर्मबन्ध से मुक्ति, अनन्तसुख, शाश्वत आनन्द एवं परमशान्ति की प्राप्ति। परमपद की प्राप्ति में ही शाश्वत आनंद निहित है। जैनधर्म के अनुसार इसी परमपद की प्राप्ति के लिये साधना का निरूपण जैनाचार में किया गया है। साधना का उद्देश्य किसी बाह्य वस्तु की प्राप्ति करना न होकर बाह्यप्रभाव के कारण छिपे हुए आत्मा के शुद्धस्वरूप को प्रकट करना है। इस शुद्धस्वरूप की प्राप्ति के लिये ही जैनाचार द्वारा जीव अपने विकारों को दूर करता हुआ क्रमश: आगे बढ़ता है।

जैनदर्शन में प्रत्येक धार्मिक क्रिया को प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से आध्यात्मिक विकास के साथ सम्बद्ध किया गया है। इस दृष्टिकोण से आत्मसाधना के मार्ग को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—प्रथम तो श्रमणसाधना और द्वितीय गृही साधना। श्रमणसाधना को हम मुनिधर्म और गृहीसाधना को श्रावकधर्म कह सकते हैं। श्रमणसाधना में निरत साधक सम्पूर्णत: अपने को आत्मसाधना या मोक्ष की आराधना में लगा देते हैं। भौतिक जीवन उनके लिये सर्वथा गौण होता है। दूसरे प्रकार के साधक गार्हस्थ जीवन के साथ–साथ आत्मसाधना के अभ्यास में यथाशक्य संलग्न रहते हैं। श्रमणधर्म और गृहस्थधर्म को हम क्रमश: निवृत्तिमूलक और प्रवृत्तिमूलक धर्म भी कह सकते हैं।

यद्यपि निवृत्तिमूलक मार्ग कठिन है तथापि लक्ष्य की ओर शीघ्र पहुँचाने वाला है। समस्त पर पदार्थों से ममत्व का परित्याग कर वीतराग आत्मतत्त्व की उपलब्धि हेतु श्रमणदीक्षा स्वीकार करना तथा इन्द्रिय और मन को स्वाधीन (आत्माधीन) कर आत्मस्वरूप में रमण करना निवृत्ति या पूर्णतया त्यागमार्ग है। यह आचारमार्ग सर्वसाधारण के लिये सुलभ नहीं है, बिरले महापुरुष ही इस मार्ग पर चंक्रमण करते हैं। नि:सन्देह निवृत्तिमार्ग का अनुसरण करने से राग–द्वेष, मोहादि से रहित निर्मल आत्मतत्त्व की उपलब्धि शीघ्र ही होती है। यह सकलचारित्र साक्षात् मोक्षमार्ग है। इससे विपरीत प्रवृत्तिमार्ग में संलग्न गृहस्थ साधक श्रमणपद के उक्त आदर्शों की मर्यादा का निर्वाह करने में सद्य: समर्थ नहीं होने के कारण शनै:–शनै: क्रम–क्रम से मोक्षमार्ग पर अग्रसर होने का अभ्यास करते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में गृहस्थ साधक को लक्ष्य करके ही श्रावकधर्म के वर्णन का उद्देश्य है अत: उद्देश्यानुसार श्रावकधर्म का वर्णन जैनागम के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत है।

श्रावक शब्द तीन वर्णों के संयोग से बना है और इन तीनों वर्णों के क्रमश: तीन अर्थ हैं—1. श्रद्धावान, 2. विवेकवान, 3. क्रियावान। जिसमें इन तीनों गुणों का समावेश पाया जाता है वह श्रावक है। व्रतधारी गृहस्थ को श्रावक, उपासक और सागार आदि नामों से अभिहित किया गया है।

श्रावकाचार का विभाजन तीन दृष्टियों से आगम में (आचारग्रंथों में) पाया जाता है—1. द्वादशव्रत 2. एकादश प्रतिमाएं, 3. पक्ष, चर्या और साधन अथवा पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक की अपेक्षा श्रावक तीन प्रकार के कहे गये हैं।

2.2 पाक्षिक श्रावक का स्वरूप-

सर्वज्ञ–वीतराग–हितोपदेशी देव, वीतराग धर्म और निर्ग्रन्थ गुरु को मानना पक्ष है। ऐसे पक्ष को रखने वाला अर्थात् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का श्रद्धान करने वाला पाक्षिक श्रावक कहलाता है अथवा असि–मसि, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भरूप कार्यों से गृहस्थों के हिंसा होना सम्भव है तथापि पक्ष, चर्या और साधकपना इन तीनों से हिंसा का निवारण किया जाता है। इनमें सदा अहिंसारूप परिणाम करना पक्ष है। इस पक्ष को करने वाला पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

जिनेन्द्र प्ररूपित धर्म की श्रद्धा करते हुए पाक्षिक श्रावक सर्वप्रथम मद्य–मांस–मधु और पंच उदुम्बर फलों का परित्याग करता है। देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दानरूप षडावश्यक कर्त्तव्यों का यथासंभव नित्य पालन करता है। अहिंसा में वृद्धि करने वाली मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावों की भावना भाता है। पाक्षिक श्रावक अपनी आजीविका न्यायोपार्जित धन के द्वारा ही निर्वाह करता है। देव–शास्त्र–गुरु के प्रति निष्ठा रखने वाला सद्गृहस्थ अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करता है तथा सन्तोषवृत्ति से तृष्णा पिशाची पर विजय प्राप्त करते हुए "कम से कम आरम्भ हो" इस बात का ध्यान रखता है एवं अपने परिवार के भरण–पोषण के लिये अन्याय–अनीति के प्रयोग बिना आजीविकोपार्जन करता है क्योंकि गार्हस्थिक कार्यों को सम्पादित करने के लिये आजीविकार्जन आवश्यक है। इस प्रकार 'न्यायोपात्तधनोपार्जन' यह पाक्षिक श्रावक का सर्वप्रथम गुण है।

पाक्षिक श्रावक की योग्यता के लिये अगला गुण है 'गुणपूजा'। गुणों से गुरुओं का पूजन, बहुमान आदि करना श्रावक का परम कर्त्तव्य है क्योंकि गुणपूजा से आत्मा में अभिमान का ह्रास होकर मार्दव धर्म प्रकट होता है। गुणपूजा से आत्मा का अहंकार नष्ट होता है अतः धर्म के प्रति निष्ठावान श्रावक स्व–परोपकारी सदाचार, सज्जनता, उदारता, दानशीलता, हित–मित–प्रिय वचनशीलता गुणों को प्राप्त करने हेतु गुणीजनों की पूजा–प्रशंसादि करता है। पर–निन्दा, कठोरता आदि दोषों से रहित प्रशस्त वचनों का व्यवहार करता है क्योंकि ये जीवन के लिये हितकर और उपयोगी हैं। यह 'प्रशस्तवचन' नाम का तृतीय गुण है। इसी प्रकार पाक्षिक श्रावक निर्बाध त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का सेवन, धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग के योग्य स्त्री, ग्राम, भवन का सेवन, उचित लज्जा, योग्य आहार–विहार, आर्यसमिति (आत्मगुणों के विकास में सहयोगी सदाचारी पुरुषों की संगति), विवेक, कृतज्ञता, जितेन्द्रियता, धर्मविधि का श्रवण करने वाला, दयालुता और पापभीति आदि गुणों से सहित होते हुए आत्मा को धर्मधारण के योग्य बनाता है।

2.3 नैष्ठिक श्रावक–

श्रावक के द्वादश व्रतों और एकादश प्रतिमाओं का पालन करना चर्या अथवा निष्ठा है। इस चर्या का आचरण करने वाला गृहस्थ नैष्ठिक श्रावक कहा जाता है। देशसंयम का घात करने वाली कषायों के क्षयोपशम की वृद्धि के वश से श्रावक के दार्शनिक आदि ग्यारह संयम स्थान होते हैं।

2.4 श्रावक के द्वादशव्रत–

दर्शन–ज्ञान–चारित्र की त्रिपुटी ही मुक्ति का मार्ग है अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से संयुक्त गृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार चारित्र को भी प्राप्त करते हुए मोक्षमार्ग में प्रवेश करता है। श्रावक द्वादश व्रतों के माध्यम से चारित्र का एकदेशरूप अंश अपने जीवन में ग्रहण करता है और उन व्रतों के पालन से महाव्रतों को (सकलचारित्र को) ग्रहण करने योग्य सामर्थ्य प्राप्त करने का अभ्यास करता है।

निरन्तर प्रवाहमान नदी के प्रवाह को दो तट नियंत्रित करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य की जीवनशक्ति को केन्द्रित करने के लिये, छिन्न–भिन्न नहीं होने देने के लिये व्रत तट रूप हैं, वे भी मानव जीवन को नियंत्रित करते हैं तथा आत्मविकास में सहायक होते हैं। श्रावक के द्वादश व्रतों में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों की गणना की गई है। वस्तुतः इन व्रतों का मूल अहिंसा है, अहिंसा को आध्यात्मिक जीवन की नींव कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

2.5 अणुव्रत का स्वरूप–

हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह इन पांच दोष या पापों से स्थूलरूप या एकदेश रूप से विरत होना अणुव्रत है। अणु शब्द का अर्थ है लघु या छोटा। जो स्थूल रूप से उक्त पंच पापों का परित्याग करता है वही अणुव्रती है। अणुव्रत पांच हैं—

2.5.1 अहिंसाणुव्रत–

स्थूल रूप से जीवों की हिंसा से विरत होना अहिंसाणुव्रत है। 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणों के विनाश को हिंसा कहा जाता है। कषायजन्य राग–द्वेष की प्रवृत्ति प्रमाद कहलाता है अतः हिंसारूप कार्य में प्रमाद कारण है। प्राण दो प्रकार के हैं——1. द्रव्यप्राण, 2. भावप्राण। प्रमत्तयोग के होने पर द्रव्य प्राणों का विनाश हो ही ऐसा कोई नियम नहीं है किन्तु प्रमत्तयोग से भाव प्राणों का विनाश अनिवार्य है अतः राग द्वेष की निवृत्तिरूप अहिंसा ही वस्तुतः अहिंसा है।

संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं——त्रस और स्थावर। द्वीन्द्रिय से लेकर संज्ञीपंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस और एकेन्द्रिय जीव–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति स्थावर कहलाते हैं। इन षट्काय के जीवों की विराधना द्रव्य हिंसा है। हिंसा चार प्रकार की होती है——आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी हिंसा। जीवन निर्वाह, परिवार के पालन–पोषण के लिये अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा आरम्भी हिंसा है। आजीविका चलाने के लिये कृषि, गोपालन, व्यापार आदि जो-जो उद्योग किये जाते हैं, उनमें हिंसा की भावना व संकल्प न होने पर भी अनिवार्यतः जो हिंसा होती है वह उद्योगी हिंसा है। अपने प्राणों की रक्षा एवं परिवार, समाज, राष्ट्र आदि की रक्षा के लिये प्रतिरक्षात्मक रूप में की जाने वाली हिंसा विरोधी हिंसा है। निरपराध प्राणी को जान-बूझकर मारने की भावना से हिंसा करना संकल्पी हिंसा है। इन चारों ही प्रकार की हिंसा में से श्रावक संकल्पी हिंसा का तो पूर्ण रूप से त्यागी होता है और शेष तीन प्रकार की हिंसा का भी यथासम्भव त्याग करते हुए अहिंसाणुव्रत का पालन करता है। संकल्पी हिंसा का त्याग करने से भी बहुत कुछ हिंसा से श्रावक बचता है। साथ ही अहिंसाणुव्रती जीव त्रसहिंसा का त्याग तो करता ही है, स्थावर प्राणियों की हिंसा का भी यथाशक्ति त्याग करता है। अहिंसाणुव्रत का निर्दोष पालन करने के लिये निम्नलिखित अतिचार (दोष) त्याज्य हैं——

अहिंसाणुव्रत के अतिचार–

"बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः" बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण, अन्न–पाननिरोध करना ये पांच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

बन्ध——त्रस प्राणियों को कठिन बन्धन से बांधना अथवा उन्हें अपने इष्ट स्थान पर जाने से रोकना। अधीनस्थ व्यक्तियों को अधिक काल तक रोकना, उनसे निर्दिष्ट समय के पश्चात् भी कार्य करवाना आदि बन्ध के अन्तर्गत आते हैं।

वध——त्रस जीवों को मारना, पीटना या त्रास देना वध है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी भी प्राणी की हत्या करना–कराना तथा करते हुए को अनुमोदना करना, किसी को मारना–पीटना या पिटवाना अथवा पिटते हुए की अनुमोदना करना। स्वार्थाभिभूत व्यक्ति वध के इन विविध रूपों में प्रवृत्ति करता है।

छेद——किसी भी प्राणी के अंगों का भंग करना, विद्रूप करना, अपंग बना देना छेद कहलाता है।

अतिभार——अश्व, ऊंट, वृषभ आदि पशुओं पर तथा मनुष्य जाति के मजदूर आदि जीवों पर उनकी शक्ति से अधिक भार लादना अतिभार है। शक्ति एवं समय होने पर अपना कार्य दूसरों से करवाना तथा उनकी शक्ति का ध्यान नहीं रखना अतिभार के अन्तर्गत आता है।

अन्न–पान निरोध——अपने आश्रित प्राणियों को समय पर भोजन–पानी नहीं देना अन्न–पान निरोध है।

जिस प्रकार बार-बार भावना दी गई औषधि रसायन का रूप धारण कर लेती है और वह रोगी को शीघ्र निरोग करने की सामर्थ्य प्राप्त करती है उसी प्रकार प्रत्येक व्रतों में दृढ़ता प्रदान करने के लिये उन–उन व्रतों की पांच–पांच भावनाओं का भी वर्णन आगम में किया गया है। प्रसङ्गवश यहां भी उसका वर्णन किया जा रहा है——

अहिंसाणुव्रत की भावनाएँ–

"वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च" वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति,

आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपान भोजन ये पाँच अहिंसाणुव्रत की भावनाएँ हैं। वचन की प्रवृत्ति को रोकना वचनगुप्ति है। मन की प्रवृत्ति को रोकना मनोगुप्ति है। सावधानीपूर्वक देखकर चलना ईर्यासमिति है। सावधानीपूर्वक देखकर वस्तु को उठाना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है। दिन में अच्छी तरह देख–भालकर आहार–पानी ग्रहण करना आलोकित पान भोजन है।

2.5.2 सत्याणुव्रत–

अहिंसा और सत्य का परस्पर में घनिष्ट सम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरे की साधना शक्य नहीं। ये दोनों परस्पर पूरक तथा अन्योन्याश्रित हैं। सत्याणुव्रत श्रावक का दूसरा व्रत है। इसका अभिप्राय है मृषावाद विरमण या असत्य भाषण का स्थूल रूप से परित्याग। स्थूल झूठ का त्याग किये बिना प्राणी अहिंसक नहीं हो सकता है। अहिंसा सत्य को स्वरूप प्रदान करती है और सत्य अहिंसा की सुरक्षा करता है। झूठा व्यक्ति आत्मवंचना भी करता है। मिथ्या भाषण में प्रमुख कारण स्वार्थ की भावना है।

निन्दा करना, चुगली करना, कठोर वचन बोलना एवं अश्लील वचनों का प्रयोग करना, छेदन, भेदन, मारण, शोषण, अपहरण एवं ताड़न सम्बन्धी वचन, अविश्वास, भयकारक, खेदजनक, वैर–शोक उत्पादक, सन्तापकारक आदि अप्रिय वचन मृषावाद हैं। झूठी साक्षी देना, झूठा दस्तावेज या लेख लिखना, किसी की गुप्त बात प्रकट करना, आत्मप्रशंसा और परनिन्दा करना, सच्ची अथवा झूठी बात कहकर किसी को गलत रास्ते पर ले जाना, यह सब मृषावाद में सम्मिलित हैं।

सत्याणुव्रत के पांच अतिचार–

'मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः' मिथ्याउपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

सन्मार्ग पर लगे हुए व्यक्ति को अन्य मार्ग ले जाने में सहकारी मिथ्या उपदेश करना, जिससे भ्रम में पड़कर वह सन्मार्ग से उन्मार्ग की ओर अग्रसर हो तथा झूठी गवाही देना और दूसरे पर अपवाद लगाना यह मिथ्योपदेश है। किसी की गुप्त बात को प्रकट करना रहोभ्याख्यान है, विश्वासघात करना भी इसी में गर्भित है। झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज तैयार करना, झूठे हस्ताक्षर करना, गलत बही–खाते तैयार करना, नकली सिक्के बनाना अथवा नकली सिक्के चलाना कूटलेखक्रिया है। कोई धरोहर रखकर उसके कुछ अंश को भूल गया तो उसकी भूल का लाभ उठाकर उस भूले हुए धन के अंश को अपहरण की भावना से कहना कि तुम जितनी बता रहे हो उतनी ही धरोहर रखी थी, यह न्यासापहार है। किसी व्यक्ति की चेष्टा आदि से दूसरे के अभिप्राय को ज्ञातकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है।

सत्याणुव्रत की भावनाएं–

"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच" सत्याणुव्रती को क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि का त्याग तथा अनुवीचि भाषा का प्रयोग करना चाहिए ये इस अणुव्रत की पांच भावनाएं हैं।

2.5.3 अचौर्याणुव्रत–

मनसा, वाचा, कर्मणा किसी की सम्पत्ति को बिना आज्ञा के नहीं लेना अचौर्याणुव्रत है। अचौर्याणुव्रती स्थूल चोरी का त्यागी होता है। जिस चोरी के कारण मनुष्य चोर कहलाता है, न्यायालय से दण्डित होता है और जो चोरी लोक में चोरी कही जाती है वह स्थूल चोरी है। मार्ग चलते हुए तिनका या कंकड़ उठा लेना सूक्ष्म चोरी के अन्तर्गत है। किसी के घर में सेंध लगाना, डाका डालना, ताला तोड़ना, किसी की जेब काटना, ठगना यह सब चौर्य कर्म कहलाता है।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार–

'स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमनोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः' स्तेन प्रयोग, स्तेनाहृत,

विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान, प्रतिरूपकव्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

चोरी करने के लिए किसी को स्वयं प्रेरित करना, दूसरे से प्रेरित करवाना अथवा ऐसे कार्य में अपनी सम्मति देना स्तेन प्रयोग है। अपनी प्रेरणा या सम्मति के बिना भी किसी के द्वारा चोरी कर लाये हुए द्रव्य को खरीदना स्तेनाहृत है। राज्य में विप्लव होने पर हीनाधिक मान से वस्तुओं का आदान–प्रदान करना विरुद्धराज्यातिक्रम है। राज्य के नियमों का उल्लंघन करके जो अनुचित लाभ उठाया जाता है, वह भी विरुद्धराज्यातिक्रम है। मापने या तौलने के न्यूनाधिक बांटों से देन–लेन करना हीनाधिकमानोन्मान है। असली वस्तु के स्थान में नकली वस्तु चलाना या असली में नकली वस्तु मिलाकर उसे बेचना प्रतिरूपकव्यवहार है। इन अतिचारों के त्याग का उद्देश्य विश्वासघात, अनुचितलाभ आदि का त्याग करना है।

अचौर्याणुव्रत की भावनाएँ–

'शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माविसम्वादाः पंच' शून्यागार——निर्जन स्थान में निवास, विमोचितावास——दूसरे के द्वारा त्यक्त आवास, परपरोधाकरण——अपने द्वारा निवास किये जा रहे स्थान में दूसरों का अनवरोध अर्थात् उनको रहने के लिए नहीं रोकना, भैक्ष्यशुद्धि——भिक्षा के नियमों का सम्यक्रीत्या पालन और सधर्माविसम्वाद——साधर्मी जनों से विसंवाद नहीं करना, ये पांच अचौर्यव्रत की भावनाएं हैं।

2.5.4 स्वदारसन्तोषव्रत–

मन–वचन और कायपूर्वक अपनी भार्या के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियों के साथ विषय सेवन का त्याग करना स्वदारसन्तोषव्रत है। इस व्रत में परायी स्त्री के सहवास का परित्याग तो होता ही है किन्तु स्वस्त्री के साथ भी विषय सेवन का मर्यादितरूप होता है। काम एक प्रकार का रोग है इसका प्रतिकार भोग नहीं त्याग है। यह अणुव्रत काम रोग का आंशिक प्रतिवाद तो है किन्तु आत्मिक उत्थान में भी पूर्ण सहकारी है। जीवन का नियन्त्रण और मैथुन सेवन की मर्यादा इसी व्रत पर अवलम्बित है। यह व्रत सामाजिक सदाचार का मूल है तथा व्यक्तिगत विकास के लिए भी अत्यावश्यक है। इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत के नाम से भी कहा जाता है। जिस प्रकार श्रावक के लिए स्वदारसन्तोषव्रत कहा गया है उसी प्रकार श्राविका के लिए स्वपतिसन्तोष का नियम है। वह भी अपने पति के सहवास के अतिरिक्त समस्त पुरुषों के सहवास का परित्याग करती है तथा स्वपुरुष के साथ भी मर्यादित विषयसेवन करती है यही उनका भी ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

स्वदारसन्तोषव्रत के अतिचार–

"परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेशाः" परविवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वरिका अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेष ये पांच स्वदारसन्तोषव्रत के अतिचार हैं।

अपनी सन्तान एवं अपने आश्रित जनों का, जिनका कि विवाह करना अपना उत्तरदायित्व है उनसे अतिरिक्त अन्य लोगों का विवाह सम्बन्ध सम्पादित करना-करवाना परविवाहकरण है। जो स्त्रियां परदारा की संज्ञा में परिगणित नहीं हैं ऐसी स्त्रियों को धन आदि का लालच देकर अपनी बना लेना अथवा जिनका पति अभी जीवित है किन्तु वह स्त्री पुंश्चली (व्यभिचारिणी) है उनका सेवन करना इत्वरिकापरिगृहीतागमन है। जो स्त्री अपरिगृहीत है उसके साथ अल्पकाल के लिए विषयभोग का सम्बन्ध स्थापित करना इत्वरिका अपरिगृहीतागमन है। वेश्या या अनाथ पुंश्चली स्त्री का नियतकाल सेवन करने में यह अतिचार होता है। काम सेवन के प्राकृतिक अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से सहवास करना अर्थात् अप्राकृतिक मैथुन करना अनङ्गक्रीड़ा है। काम एवं भोगरूप विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखना कामतीव्राभिनिवेष है।

स्वदारसन्तोष व्रत की भावनाएं–

"स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच" स्त्रीराग–कथाश्रवण-त्याग, स्त्रीमनोहरअङ्गनिरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरण, वृष्य–इष्टरसत्याग और स्वशरीर–संस्कार त्याग करना ये पांच स्वदारसन्तोषव्रत की भावनाएं हैं।

2.5.5 परिग्रहपरिमाणव्रत–

परिग्रह संसार का सबसे बड़ा पाप है। जब तक मनुष्य के जीवन में अमर्यादित लोभ, तृष्णा, ममत्व या गृद्धि विद्यमान है तब तक वह शान्ति लाभ नहीं कर सकता। श्रावक के द्वारा अपनी सम्पत्ति की मर्यादा करना परिग्रह परिमाणव्रत है। अनियंत्रित इच्छाओं को नियंत्रित करके परिग्रह का परिमाण करना ही इस व्रत का प्रमुख लक्ष्य है। सम्पत्ति हमारे जीवन निर्वाह का साधन है। साधन वहीं तक उपादेय होता है जहाँ तक साध्य की पूर्ति करता है। धन, धान्य, स्वर्ण, चांदी आदि पदार्थों के प्रति ममत्व या लालसा को घटाकर उन वस्तुओं को मर्यादित करना परिग्रहपरिमाणव्रत है। इस व्रत का यही लक्ष्य है कि अपने योग–क्षेम के योग्य भरण–पोषण की वस्तुओं को ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना, अन्याय व अत्याचार द्वारा धन का संचय नहीं करना चाहिये। परिग्रहपरिमाणव्रत वैयक्तिक जीवन पर स्वेच्छा से अंकुश लगाने का मनोवैज्ञानिक प्रयोग है।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत में क्षेत्र——उपजाऊ भूमि की मर्यादा, वस्तु——मकान आदि, हिरण्य——चांदी, स्वर्ण——सोना, द्विपद——दासी, दास, धन——गाय, भैंस, घोड़े, बैल, हाथी आदि चतुष्पद पशु, धान्य——गेहूं जौ, चावल, उड़द, मूंग आदि, कुप्य——भाण्ड (बर्तन) आदि की सीमा बांधी जाती है। इनके अतिरिक्त भी हमारी आवश्यक जीवनोपयोगी सामग्री का सीमाबन्धन इस व्रत में किया जाता है।

परिग्रह परमाणाणुव्रत के अतिचार–

"क्षेत्र वास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः" क्षेत्र (खेत) व मकान के प्रमाण का अतिक्रमण, हिरण्य व स्वर्ण के प्रमाण का अतिक्रमण, धन–धान्य के प्रमाण का अतिक्रमण, दासी–दास के प्रमाण का अतिक्रमण और कुप्य–भाण्ड (बर्तन) आदि के प्रमाण का अतिक्रमण, ये पांच परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार हैं। उक्त पदार्थों की जितनी मर्यादा रखी थी उसका अतिक्रमण——उल्लंघन नहीं करना चाहिये।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत की भावनाएँ–

"मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च" पंचेन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में राग और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना ही इस व्रत की भावनाएँ हैं।

इस प्रकार यहाँ श्रावकाचार के अन्तर्गत नैष्ठिक श्रावक के 12 व्रतों में से अणुव्रतों का वर्णन है, साथ ही उन व्रतों में लगने वाले अतिचारों एवं उनको (व्रतों को) दृढ़ता प्रदान करने वाली पांच–पांच भावनाओं का भी कथन किया है। इसके अनंतर गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का विवेचन क्रम प्राप्त है।

अणुव्रतों की सम्पुष्टि, वृद्धि और रक्षा के लिये जिन व्रतों का विधान जैनागम में प्रतिपादित किया है उन अवश्य पालनीय व्रतों को गुणव्रत और शिक्षाव्रत कहा गया है। इन व्रतों के पालन से मुनिव्रत के ग्रहण की शिक्षा एवं योग्यता प्राप्त होती है। प्रथम गुणव्रत ही प्रतिपाद्य है।

2.6 अब गुणव्रतों को कहा जाता है–

गुणव्रत के तीन भेद हैं–1. दिग्व्रत, 2. देशव्रत (इसे देशावकाशिक व्रत भी कहते हैं) और 3. अनर्थदण्डविरतिव्रत।

2.6.1 दिग्व्रत–

परिग्रहपरिमाणव्रत में तो सम्पत्ति आदि का नियमन कराया गया था किन्तु दिग्व्रत में दशों दिशाओं में गमनागमन की सीमा बांधी जाती है। पूर्वादि दिशाओं में नदी, ग्राम, नगर आदि प्रसिद्ध स्थानों की मर्यादा बांधकर जन्मपर्यन्त उससे बाहर नहीं जाना, उसके भीतर ही व्यापारादि कार्य करना दिग्व्रत——दिशा परिमाणव्रत है। दिशा——क्षेत्र की मर्यादा के बाहर हिंसादि पापों का त्याग हो जाने से मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में उस गृहस्थ का जीवन महाव्रती तुल्य हो जाता है।

मनुष्य की अनन्त इच्छाएं हैं और अखिल विश्व पर वह एकछत्र अपना साम्राज्य स्थापित करने की भावना रखता

है। इस अर्थयुग में मानव सदा ही तृष्णा वृद्धि के कारण देश–विदेशों में जाकर सुख–दुःख उठाकर भी व्यापार करता है और व्यापार को सुचारूरीत्या चलाने के लिये कई व्यापारिक संस्थानों की स्थापना भी करता है। अनियन्त्रित इस मानव तृष्णा को एक ओर जहां परिग्रहपरिमाण के द्वारा अंकुश लगाया है वहीं दिग्व्रत भी उस नियंत्रण में सहकारी है।

दिग्व्रत के अतिचार–

"ऊर्ध्वार्धस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि" ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पांच दिग्व्रत के अतिचार हैं। लोभादि के वश होकर ऊर्ध्वदिशा के प्रमाण का अतिक्रमण, अधोदिशान्तर्गत समुद्र, वापी, कूप, खदान आदि की सीमा का अतिक्रमण और तिर्यग्व्यतिक्रम अर्थात् पृथ्वीतल पर आठों दिशा सम्बन्धी तिरछे गमन की मर्यादा का उल्लंघन करना तथा किसी एक दिशा का मर्यादित क्षेत्र घटाकर दूसरी दिशा में मर्यादित क्षेत्र को अधिक बढ़ा लेना। निश्चित की गई क्षेत्र की मर्यादा का विस्मरण हो जाना। इन पांचों अतिचारों से रहित दिग्व्रत का पालन श्रावक को करना चाहिये।

2.6.2 देशव्रत (देशावकाशिक व्रत)–

दिग्व्रत में जीवन पर्यन्त के लिये दिशाओं का जो परिमाण किया था उसमें से कुछ समय के लिये किसी निश्चित स्थान विशेष, देश विशेष, प्रान्त विशेष, गांव विशेष अथवा गांव या नगर में भी मोहल्ला, गली आदि की सीमा बांध लेना देशावकाशिक व्रत है।

देशव्रत के अतिचार–

"आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः" आनयन——मर्यादा से बाहर की वस्तु को मंगाना अथवा सीमा से बाहर स्थित पुरुष आदि को बुलाना। प्रेष्यप्रयोग——मर्यादित क्षेत्र से बाहर स्वयं तो नहीं जाना किन्तु सेवक आदि को आज्ञा देकर सीमा में बैठे——बैठे ही काम करवा लेना प्रेष्यप्रयोग है। शब्दानुपात——मर्यादा के बाहर स्थित किसी व्यक्ति को शब्द द्वारा बुलाना। रूपानुपात——अपनी आकृति दिखाकर मर्यादित क्षेत्र के बाहर से संकेत द्वारा किसी व्यक्ति को बुलाना। पुद्गलक्षेप——मर्यादित क्षेत्र के बाहर स्थित व्यक्ति को अपने पास बुलाने के लिए पत्र, तार, टेलीफोन आदि का प्रयोग करना। ये पांच देशव्रत के अतिचार हैं।

2.6.3 अनर्थदण्डविरतिव्रत–

जिन कार्यों के करने से अपना कुछ भी लाभ न हो और व्यर्थ ही पाप का संचय होता है, ऐसे अप्रयोजनीभूत कार्यों को अनर्थदण्डविरतिव्रत कहा जाता है अर्थात् निष्प्रयोजन कार्यों का त्याग करना अनर्थदण्डविरतिव्रत कहलाता है।

अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचरित, हिंसादान, अशुभश्रुति ये पांच अनर्थदण्ड के भेद हैं। दूसरों का बुरा सोचना अपध्यान है। पापजनक कार्यों का उपदेश देना पापोपदेश है। आवश्यकता के बिना वन कटवाना, पृथ्वी खुदवाना, पानी गिराना, विकथा या निन्दा आदि कार्यों में प्रवृत्त होना, किसी पर व्यर्थ ही दोषारोपण करना आदि प्रमादचरित है। हिंसा के साधन अस्त्र, शस्त्र, विष, विषैलीगैस आदि सामग्री देना अथवा संहारक अस्त्र–शस्त्रों का आविष्कार करना हिंसादान है। हिंसा और रागादि को बढ़ाने वाली कथाओं का सुनना–सुनाना अशुभश्रुति है।

अनर्थदण्डविरतिव्रत के अतिचार–

"कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि" कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोग–परिभोग अनर्थक्य ये पांच अनर्थदण्डविरति व्रत के अतिचार हैं।

रागभाव की तीव्रतावश हास्यमिश्रित असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है। काय की कुचेष्टा सहित असभ्य वचन का प्रयोग करना कौत्कुच्य है। धीठतायुक्त निस्सार बहुत बकवास करना मौखर्य है। प्रयोजन के बिना ही कोई न कोई तोड़–फोड़ करते रहना या काव्यादि चिन्तवन करते रहना असमीक्ष्याधिकरण है। प्रयोजन न होने पर भी उपभोग–परिभोग की

सामग्री एकत्रित करना या रखना उपभोग-परिभोगआनर्थक्य है।

अनर्थदण्डविरतिव्रत प्रयोजन और महत्त्व-

पहले कहे गए दिग्व्रत और देशव्रत तथा आगे कहे जाने वाले उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत में स्वीकृत मर्यादा में भी निरर्थक गमन आदि एवं विषयसेवनादि सम्बन्धी अतिरेकनिवृत्ति की सूचना के लिये बीच में अनर्थदण्डविरतिव्रत का ग्रहण किया है।

जो पुरुष इस प्रकार अनर्थदण्डों को जानकर उनका त्याग करता है वह निरन्तर निर्दोष अहिंसाव्रत का पालन करता है।

2.7 शिक्षाव्रत के चार भेद हैं-

1. सामायिक 2. प्रोषधोपवास, 3. भोगोपभोगपरिमाण 4. अतिथिसंविभाग।

2.7.1 सामायिक-

तीनों सन्ध्याओं में समस्त पाप कर्मों से विरत होकर नियत स्थान पर नियतकाल के लिये मन, वचन और काय के एकाग्र करने को सामायिक कहते हैं। समभाव या शान्ति प्राप्ति के लिये सामायिक की जाती है। जितने समय तक व्रती सामायिक करता है उतने समय तक वह महाव्रती तुल्य हो जाता है क्योंकि वह सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं का पूर्ण त्यागी उतने पर्यन्त रहता है।

सामायिकव्रत के अतिचार-

'योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि' काययोग दुष्प्रणिधान, वचनयोग दुष्प्रणिधान, मनोयोग दुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृति अनुपस्थान ये सामायिकव्रत के पांच अतिचार हैं।

सामायिक करते समय हाथ-पैर आदि शरीर के अवयवों को निश्चल नहीं रखना, नींद का झोंका लेना आदि कायदुष्प्रणिधान है। सामायिक करते समय गुनगुनाने लगना वचनदुष्प्रणिधान है। मन में संकल्प-विकल्प उत्पन्न करना एवं मन को गृहस्थी के कार्य में फंसाना मनोदुष्प्रणिधान है। सामायिक में उत्साह नहीं रखना अनादर है। एकाग्रता न होने से सामायिक की स्मृति नहीं रहना स्मृत्यनुपस्थान है।

2.7.2 प्रोषधोपवास व्रत-

प्रोषध——पर्व के दिन उपवास करना प्रोषधोपवास है। प्रोषधोपवास से ध्यान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य और तत्त्वचिन्तन आदि की सिद्धि होती है। सामान्यतः अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है किन्तु उपवास में पांचों इन्द्रियों को अपने-अपने विषय से निवृत्त करना भी अपेक्षित समझना चाहिये। इस प्रकार पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्ति का होना भी उपवास का लक्षण बनता है। 'उप' ——समीप में 'वास' ——निवास करना अर्थात् आत्मा के समीप रहना। यह तभी सम्भव है जब चतुराहार के त्याग के साथ-साथ पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्ति हो और चूंकि पर्व के दिनों में उपवास किया जाता है अतः प्रोषधोपवासव्रत यह नाम अन्वर्थ है।

प्रोषधोपवास के अतिचार-

'अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि' अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमि में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तु का आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तर का उपक्रमण, अनादर और स्मृति का अनुपस्थान ये पांच प्रोषधोपवास के अतिचार हैं।

जीव-जन्तु को देखे बिना और कोमल वस्त्रादि उपकरण द्वारा बिना प्रमार्जन ही मल-मूत्र-श्लेष्म का त्याग करना, बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये ही पूजा के उपकरण आदि ग्रहण करना, बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये ही भूमि पर चटाई आदि बिछाना, प्रोषधोपवास करने में उत्साह नहीं दिखाना, प्रोषधोपवास के समय चित्त की चञ्चलता रहने से

स्मृति का अभाव होना ये उक्त पांचों अतिचारों का क्रमशः विवेचन है।

2.7.3 भोगोपभोग परिमाणव्रत–

जो वस्तु एक बार भोगने योग्य हो वह भोग कहलाता है। आहार–पान, गन्धमाला आदि को भोग सामग्री कहते हैं। जिन वस्तुओं को पुनः-पुनः भोगा जा सके उन्हें उपभोग कहते हैं। इन भोग और उपभोग की सामग्री का कुछ समय के लिये अथवा जीवनपर्यन्त के लिये परिमाण कर लेना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। भोगोपभोगपरिमाणव्रत पंचेन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति विशेष पर नियन्त्रण करता है।

भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार–

'सचित्तसम्बन्धसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः' सचित्ताहार, सचित्तसंबंधाहार, सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये उपभोग–परिभोगपरिमाणव्रत के पांच अतिचार हैं।

अमर्यादित वस्तुओं का उपयोग और सचित्त पदार्थों का भक्षण करना सचित्ताहार है। जिस अचित्त वस्तु का सचित्त वस्तु से सम्बन्ध हो गया हो उसका उपयोग करना सचित्तसम्बन्धाहार है। चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं से मिश्रित भोजन का आहार अथवा सचित्त से मिश्रित वस्तु का व्यवहार सचित्तसम्मिश्राहार है। इन्द्रियों को मद उत्पन्न करने वाली वस्तुओं का सेवन अभिषवाहार है। अधपके, अधिक पके, ठीक प्रकार से नहीं पके हुए या जले-भुने हुए भोजन का सेवन दुःपक्वाहार है।

इन्द्रिय-विषयों की उपेक्षा नहीं करना, पूर्वकाल में भोगे हुए विषयों का स्मरण रखना, वर्तमान के विषयों में अतिगृद्धता रखना, भविष्य में इन्द्रिय-विषयों की प्राप्ति की तृष्णा रखना और 'विषय नहीं भोगते हुए भी विषय भोगता हूं' ऐसा अनुभव करना आदि भी भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार हैं।

भोगोपभोग परिमाणव्रत का महत्त्व–

देशव्रती श्रावक के द्वारा भोगोपभोग के निमित्त से होने वाली हिंसा से विरक्त होना ही इस व्रत का सबसे बड़ा महत्त्व है। जो पुरुष भोगोपभोगपरिमाणव्रत के द्वारा तृप्त होते हुए अधिकतर भोगों से विरत होता है उसके बहुत हिंसा का त्याग हो जाने से उसके उत्तम अहिंसाव्रत होता है अर्थात् अहिंसाव्रत का उत्कर्ष होता है।

2.7.4 अतिथिसंविभागव्रत–

अतिथि के लिये संविभाग करना अतिथि संविभाग है। जो मोक्ष के लिये तत्पर हैं, संयम का निरन्तर पालन करते हुए जिनका विहार होता है तथा जिनके आने की कोई तिथि निश्चित नहीं है उस प्रकार के अतिथि के लिये भिक्षा—आहार, औषध, उपकरण—पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र आदि प्रतिश्रय—रहने के लिये वसतिका आदि निर्दोष विधि से देना अतिथिसंविभागव्रत है।

श्रद्धा आदि गुणों से युक्त जो विवेकी श्रावक उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को दान देता है उसके अतिथिसंविभागव्रत होता है। उक्त चार प्रकार का दान सब सुखों का और सिद्धियों का करने वाला होता है।

अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार–

"सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः" सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य, कालातिक्रम ये पांच अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार हैं।

सचित्त कमलपत्र आदि पर रखकर आहार देना सचित्तनिक्षेप है। आहार को सचित्त कमलपत्र आदि से ढकना सचित्तापिधान है। स्वयं दान न देकर दूसरे से दिलवाना अथवा दूसरे का द्रव्य उठाकर स्वयं दे देना परव्यपदेश है। आदरपूर्वक दान न देना अथवा अन्य दाताओं से ईर्ष्या करना मात्सर्य है। भिक्षा के समय को टालकर अयोग्य समय में भोजन कराना कालातिक्रम है।

2.8 सल्लेखनाव्रत–

श्रमण परम्परा जीवन को अपने आप में लक्ष्य नहीं मानती। उसका कहना है कि साधना का लक्ष्य आत्मा का विकास है और जीवन उसका साधन मात्र है। जिस दिन यह प्रतीत होने लगे कि शरीर शिथिल हो गया है, वह धर्मसाधना में सहायक होने के स्थान पर विघ्न–बाधाएं उपस्थित करने लगा है तो उस समय यह उचित है कि उसका परित्याग कर दें। इसी परित्याग विधि को सल्लेखना व्रत कहा जाता है।

सम्यक् रीति से काय और कषाय को क्षीण करने का नाम सल्लेखना है। जब मरण समय निकट आ जावे तो गृहस्थ को समस्त पदार्थों के ममत्व का परित्याग करके शनैः–शनैः आहार–पानी का भी त्याग कर देना चाहिये। शरीर को कृश करने के साथ–साथ ही कषायों को भी कृश करना तथा धर्मध्यानपूर्वक मृत्यु का आनन्दपूर्वक आलिंगन करना सल्लेखना व्रत्त है। वस्तुतः गृहस्थ अथवा साधु के लिये आत्मशुद्धि का अन्तिम अस्त्र सल्लेखना है। सल्लेखना के द्वारा ही जीवन पर्यन्त किये गये व्रताचरण को सफल किया जाता है।

सल्लेखनाव्रत के सम्बन्ध में अनेक भ्रांतियां अनभिज्ञ लोगों में चली आ रही हैं। सल्लेखनाव्रत के स्वरूप, विधि और महत्ता से अपरिचित लोग इसे आत्महत्या कहने तक का दु:साहस करते हैं। व्यक्ति आत्महत्या तो तब करता है कि जब वह अपनी किसी मनोकामना को पूरा नहीं कर पाता और वह मनोकामना इतनी बलवती हो जाती है कि उसकी पूर्ति के बिना जीवन बोझ लगने लगता है। उस बोझ को उतारे बिना उसे शान्ति असम्भव प्रतीत होती है। आत्महत्या का एक और कारण यह होता है कि मानव के जीवन में मार्मिक मानसिक आघात लग जाता है जिसे वह सहन नहीं कर पाता और कषाय के वशीभूत होकर वह उसके प्रतिकारस्वरूप आत्महत्या कर डालता है। आत्महत्या में जीवन की आकांक्षा करते हुए मानव की निर्बलता स्पष्ट झलकती है, जबकि सल्लेखनाव्रत धारण करने में वीरता प्रगट होती है। एक में मात्र जीवन की आकांक्षा प्रधान है तो दूसरी का आधारस्तम्भ आत्मविकास और उसके कारणभूत व्रतों की सुरक्षा की भावना। आत्महत्या करने वाला मानव जीवन से निराश होता है और निराश व्यक्ति की विवशता ही आत्महत्या से प्रगट होती है। सल्लेखना में किसी प्रकार का कषायावेश नहीं होता है अतः सल्लेखना व्रत को आत्महत्या कहना बहुत बड़ी भूल है।

सल्लेखनाव्रत के अतिचार–

"जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि" जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पांच सल्लेखनाव्रत के अतिचार हैं। सल्लेखनाव्रत धारण करने के पश्चात् मन में जीवित रहने की भावना होना जीविताशंसा है। सल्लेखनारत होने के पश्चात् किसी शारीरिक वेदना आदि कारणों से शीघ्र मरण की भावना करना मरणाशंसा है। मित्रों के प्रति अनुराग उत्पन्न होना मित्रानुराग है। पूर्व में भोगे हुए सुखों का पुनः–पुनः स्मरण करना सुखानुबन्ध है। तपश्चर्या–व्रतपालन का फल पंचेन्द्रिय के विषयभोगरूप में चाहना निदान है।

जैनदर्शन में मृत्यु को एक कला कहा गया है, सल्लेखना उसी का दूसरा नाम है अतः अणुव्रती गृहस्थ और महाव्रती साधु दोनों ही के लिये सल्लेखना अनिवार्य है। सल्लेखना जीवन पर्यन्त पालन किये व्रतरूपी मन्दिर का स्वर्ण कलश है अतः सल्लेखना विधि से मृत्यु के लिये तत्पर रहना चाहिये।

श्रावकाचार के मूलभूत द्वादश व्रतों का विवेचन किया। इसी आधारशिला पर स्थित होकर क्रम से आगे बढ़ते हुए आत्मविकास की ओर अग्रसर होना।

2.9 एकादश प्रतिमा–श्रावक के 11 सोपान–

श्रावक अपने विकास के लिये मूलभूत व्रतों का पालन करते हुए सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के साथ चारित्र में प्रवृत्त

होता है। चारित्र विकास जिस क्रम से होता जाता है वह श्रावक अपने योग्य 11 संयमस्थानों को प्राप्त हो जाता है। यहां संयमस्थान से अभिप्राय एकादश प्रतिमाओं से है जिन्हें श्रावकापेक्षा आध्यात्मिक सोपान कहा जा सकता है। इन प्रतिमारूप सोपानों पर आरोहण कर उत्तरोत्तर चारित्र का विकास करते हुए श्रमण जीवन के निकट पहुँचने का अधिकारी बन जाता है। एकादश प्रतिमाएं इस प्रकार हैं–

1. दर्शन प्रतिमा, 2. व्रत प्रतिमा, 3. सामायिक प्रतिमा, 4. प्रोषधोपवास प्रतिमा, 5. सचित्तत्याग प्रतिमा, 6. रात्रिभुक्ति त्यागप्रतिमा, 7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा, 8. आरम्भत्याग प्रतिमा, 9. परिग्रहत्याग प्रतिमा, 10. अनुमतित्याग प्रतिमा और 11. उद्दिष्ट त्यागप्रतिमा।

उपर्युक्त प्रतिमाक्रम श्रावक जिस–जिस प्रतिमारूप व्रतों को उत्तरोत्तर धारण करता जाता है उससे पूर्ववर्ती समस्त प्रतिमाव्रतों का परिपालन अनिवार्य है।

2.10 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1–श्रावक शब्द कितने अक्षरों के संयोग से बना है ?

(क) छह ☐ (ख) तीन ☐ (ग) बारह ☐

प्रश्न 2–पाक्षिक श्रावक का सर्वप्रथम गुण कौन सा है ?

(क) न्योपात्तधनोपार्जन ☐ (ख) प्रशस्त वचन ☐ (ग) आजीविकोपार्जन ☐

प्रश्न 3–स्वदारसंतोष व्रत की कितनी भावनाएँ हैं ?

(क) दस ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) आठ ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1–सल्लेखना व्रत किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2–अनर्थदण्डविरतिव्रत के पाँच अतिचार कौन से हैं ? अर्थ सहित लिखिए ?

प्रश्न 3–पाक्षिक श्रावक का स्वरूप बताइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1–जैनागम में वर्णित श्रावक धर्म को परिभाषित कीजिए ?

पाठ 3 – गृहस्थों के अष्टमूलगुण

3.1 मूलगुण मुख्य गुणों को कहते हैं। जिस प्रकार मूल–जड़ के बिना वृक्ष नहीं ठहरते, उसी प्रकार मूलगुणों के बिना मुनि और श्रावक के व्रत नहीं ठहरते। इस तरह मूलगुण का वाच्यार्थ अनिवार्य आवश्यक गुण है। मुनियों के 28 मूलगुण होते हैं और श्रावकों के 8 मूलगुण होते हैं। श्रावकों के आठ मूलगुणों का उल्लेख कई प्रकार का मिलता है। उपलब्ध श्रावकाचारों में समन्तभद्र का रत्नकरण्डश्रावकाचार सबसे प्राचीन ग्रंथ है। उसमें उन्होंने श्रावकों के मूलगुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है–

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।।

मुनियों में उत्तम–गणधरादिकदेव, मद्यत्याग, मांसत्याग और मधुत्याग के साथ पाँच अणुव्रतों को गृहस्थों के मूलगुण कहते हैं।

यहाँ उनका ऐसा अभिप्राय जान पड़ता है कि मुनियों के 28 मूलगुणों में पाँच महाव्रत सम्मिलित हैं अतः गृहस्थों के आठ मूलगुणों में पाँच अणुव्रतों का सम्मिलित होना आवश्यक है। मूलगुण चारित्र गुण की भूमिका हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पाप की प्रणालियों से सम्यग्ज्ञानी जीव का विरत होना सम्यक्चारित्र है अतः सम्यक्चारित्र की भूमिका में पाँच पापों का एकदेश त्याग होना अत्यन्त आवश्यक है। मद्यत्याग आदि यद्यपि अहिंसाणुव्रत के अन्तर्गत हो जाते हैं तथापि विशेषता बतलाने के लिये उनका पृथक् से उल्लेख किया है।

आचार्यश्री जिनसेन स्वामी ने मधुत्याग को मांस त्याग में गर्भित कर उसके स्थान में द्युत त्याग का उल्लेख किया है।

हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः।।

स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह तथा जुआ, मांस और मदिरा से विरत होना, ये गृहस्थ के आठ मूलगुण हैं।

आदिपुराण की उपलब्ध प्रतियों में यद्यपि यह श्लोक नहीं पाया जाता है तथापि पण्डितप्रवर आशाधरजी ने सागारधर्मामृत की अपनी स्वोपज्ञ टीका के टिप्पण में जिनसेन के नाम से इसे उद्धृत किया है, इससे जान पड़ता है कि आशाधर जी के समय प्राप्त आदिपुराण की प्रति में यह श्लोक रहा होगा।

जिनसेनाचार्य के परवर्ती आचार्यों ने और भी सरलता करते हुए पाँच अणुव्रतों के स्थान पर पाँच उदुम्बर फलों के त्याग का समावेश किया है। जैसा कि सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू सम्बन्धी उल्लेख से स्पष्ट है–

मद्यमांसमधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते।।

मद्य–मांस–मधु के त्याग के साथ पाँच उदुम्बर फलों का त्याग करना ये गृहस्थों के आठ मूलगुण आगम में कहे गये हैं।

इसी मत का समर्थन करते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में कहा है–

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसा व्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव।।61।।

हिंसा त्याग की इच्छा करने वाले पुरुषों को सर्वप्रथम यत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों को छोड़ना चाहिये।

3.2 अमृतचन्द्र स्वामी ने मूलगुणों की उपयोगिता बतलाते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है–

अष्टावनिष्टदुस्तर दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।।74।।

अनिष्ट और दुस्तर पाप के स्थानभूत इन आठ का परित्याग कर शुद्धबुद्धि के धारक पुरुष जिनधर्म की देशना के पात्र होते हैं। तात्पर्य यह है कि जब तक गृहस्थ इन आठ पाप स्थानों का त्याग नहीं करता है तब तक वह जिनधर्म का उपदेश सुनने का भी पात्र नहीं है।

3.3 सागारधर्मामृत में पण्डित आशाधरजी ने कहा है–

तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसा मपासितुम्।
मद्य मांसमधून्युज्झेत्पञ्च क्षीरिफलानि च।।2।।

उनमें सर्वप्रथम, जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का श्रद्धान करता हुआ गृहस्थ हिंसा का परित्याग करने के लिये मद्य, माँस, मधु और पाँच क्षीरिफल——उदुम्बरफल का त्याग करें।

आठ मूलगुणों का नाम परिगमन करते हुए उन्हीं आशाधरजी ने कहा है–

अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा।
फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा।।3।।

इन आठ को गृहस्थों के मूलगुण कहा है। कहीं फलों के स्थान में स्थूल हिंसा त्याग आदि अहिंसाणुव्रतादि को और मधु के स्थान में द्यूत का समावेश किया है।

इन मतों के अतिरिक्त आशाधरजी ने एक नवीन मत का समुल्लेख और भी किया है–

मद्यपलमधुनिशाशन पञ्चफलीविरति पञ्चकाप्तनुती।
जीवदया जलगालन मिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः।।

मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग, रात्रि भोजन त्याग, पञ्चफली त्याग, देवआप्तनुति——देवदर्शन, जीवदया और जलगालन——पानी छानना ये भी कहीं आठ मूलगुण माने गये हैं।

3.4 रत्नमाला में शिवकोटि महाराज ने कहा है–

मद्यमांसमधुत्याग संयुक्ताणुव्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चार्यकेश्चपि।।

मद्य–मांस–मधु त्याग के साथ पाँच अणुव्रत धारण करना आठ मूलगुण हैं और कहीं बालकों में मूलगुणों की स्थापना के लिये अणुव्रतों के स्थान पर पाँच उदुम्बर फलों के त्याग का भी समावेश किया गया है।

3.5 पञ्चाध्यायी के उत्तरार्ध में पं. राजमल्ल ने भी कहा है–

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे।।723।।
निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम्।।724।।
एतावता बिनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिका साधकोऽथवा।।725।।

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही।।726।।

व्रती गृहस्थों के आठ मूलगुण होते हैं और कहीं अव्रती गृहस्थों के भी होते हैं क्योंकि मूलगुण व्रती और अव्रती दोनों के साधारण——समान हैं। ये मूलगुण स्वभाव से अथवा कुलाम्नाय से चले आते हैं क्योंकि इनके बिना जीवों के न व्रत होता है और न सम्यक्त्व ही होता है। इनके बिना मनुष्य नाम से भी श्रावक नहीं होता फिर पाक्षिक, गूढ़, नैष्ठिक अथवा साधक तो हो ही कैसे सकता है ? जो मद्य, मांस और मधु का त्यागी है तथा पाँच उदुम्बर फलों का जिसने त्याग किया है ऐसा गृहस्थ ही नाम से श्रावक होता है अन्य प्रकार से नहीं।

इस संदर्भ में यह बात ध्यान में रखने के योग्य है कि गृहस्थों के मूलगुणों में जो मतभेद पाया जाता है वह क्षेत्र और काल के अनुसार ही उत्पन्न हुआ है। हिंसादि पापों का परित्याग कर मनुष्य सच्चा श्रावक बने, यह सब मतों का सार समझना चाहिए।

3.6 यहाँ मद्यत्याग आदि पर भी संक्षेप से विचार कर लेना प्रासंगिक है–

3.6.1 मद्यत्याग–

अनेक वस्तुओं को सड़ाकर मदिरा बनाई जाती है जिससे उसमें अनेक जीवों की उत्पत्ति हो जाती है साथ ही उसके पीने से मनुष्य मतवाला होकर धर्म-कर्म सब भूल जाता है। पागलों के समान चेष्टा करता है इसलिये इसका त्याग करना श्रेयस्कर है। भांग, चरस, अफीम आदि नशीली वस्तुओं का सेवन भी इसी मद्य में गतार्थ है अतः मद्यत्यागी को इन सब वस्तुओं का सेवन भी त्याग करने के योग्य है।

3.6.2 मांसत्याग–

त्रस जीवों के घात से मांस की उत्पत्ति होती है। इसमें कच्ची और पक्की दोनों ही अवस्थाओं में उसी वर्ण के अनेक समूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं। खाना तो दूर रहा स्पर्श मात्र से उन जीवों का विघात होता है अतएव अहिंसा धर्म की रक्षा के लिये मांसभक्षण का त्याग करना चाहिये। मांसभक्षण करने वाले मनुष्य का हृदय अत्यन्त क्रूर होता है। दयालुता, सहृदयता और परोपकारिता आदि गुण मांसभक्षी जीव में निवास नहीं करते हैं। मांसभक्षण अनेक दुर्गुणों को उत्पन्न करता है। मांसभक्षी जीव सम्यक्त्व का भी पात्र नहीं है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के त्रस और स्थावर हिंसा का त्याग नहीं है तो भी मांसभक्षण जैसे कार्य में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। जिसके अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी लोभ का अभाव हो गया है तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट हुए हैं वह मांसभक्षण में कभी प्रवृत्त नहीं हो सकता। कितने ही लोग सिंहादिक दुष्ट जीवों की बात उठाकर यह समर्थन करते हैं कि उनका मांस ही भोजन है अतः सम्यक्त्व होने पर भी वे मांसभक्षण करते रहते हैं परन्तु आगम में सम्यक्त्व तो दूर रहा साधारण सुधार भी जिनके जीवन में हुआ है ऐसे भरत चक्रवर्ती तथा भगवान महावीर स्वामी के जीव जब सिंह पर्याय में थे तब उन्होंने शेष दिनों में हिंसा का त्याग करके ही सन्यास धारण किया है–ऐसी चर्चा आई है। थोड़ी बहुत धर्म-कर्म की चर्चा कर लेना जुदी बात है और सम्यक्त्व का प्रगट हो जाना एवं उस रूप परिणति बना लेना जुदी बात है। कोई मांसभक्षी मनुष्य कुछ धर्म-कर्म की बात करने लगे और जिनधर्म के प्रति अपनी आस्था प्रकट करने लगे तो इतने मात्र से उसे सम्यग्दृष्टि नहीं समझ लेना चाहिए ।

3.6.3 मधुत्याग–

मधुमक्खियों के मुख से निकली हुई लार ही मधु रूप में परिणत होती है। इसमें अनेक जीवों का निवास है। शास्त्रकारों ने तो यह लिखा है कि मधु की एक बूंद के खाने से उतना पाप होता है जितना कि सात गांवों के जलाने से

होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सात गांवों में जितने स्थूल जीव रहते हैं उतने सूक्ष्म जीव मधु की एक बूंद में रहते हैं। मधुमक्खियों के छत्ते में अनेक जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, मधु बनाने वाले लोग उन सब जीवों का संहार करके ही मधु को बनाते हैं। इसके सिवाय मधु में प्रत्येक समय सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं अतः विवेकी मनुष्य को इसका त्याग करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि तो दूर रहा, साधारण गृहस्थ भी इसका सेवन नहीं कर सकता। जिह्वा इन्द्रिय के लंपट मनुष्य ही नाना कुयुक्तियाँ प्रदर्शित कर इसके सेवन का समर्थन करते हैं, जितेन्द्रिय मनुष्य नहीं, वे औषधि आदि में भी इसका उपयोग नहीं करते।

3.6.4 द्यूतत्याग–

हार-जीत की शर्त लगाकर पाशा आदि से खेलना द्यूत——जुआ कहलाता है। इसके द्वारा अनेक घर बरबाद हो जाते हैं। शास्त्रों में युधिष्ठिर तथा राजा नल आदि की कथाएँ तो प्रसिद्ध हैं ही पर प्रत्यक्ष में भी हम देखते हैं कि जुआरी लोग कभी सुखी नहीं होते। लाटरी आदि लगाना भी जुआ का ही एक रूप है। किन्हीं दश-पाँच आदमियों को लाटरी से होने वाले भारी लाभ को देख, जनता उसके प्रलोभन में आ जाती है पर यह नहीं देखती कि इस लाटरी से लाखों लोग अपने आवश्यक खर्चों से वंचित रह जाते हैं। जिन लोगों को लाटरी का प्रलोभन लग जाता है वे अपने आवश्यक खर्चों से भी रुपये काटकर लाटरी के टिकटों में लगाते हैं। खेद की बात है कि हमारी सरकार भी इसका प्रचार करती है और किसी को थोड़ा सा देकर जनता से बहुत अधिक रुपया वसूल करती है। ज्ञानी——विवेकी जीव अपनी लोभकषाय पर नियन्त्रण रखता है और न्यायोचित साधनों से आजीविका का उपार्जन करता है। जुआ और लाटरी आदि कार्य तीव्र लोभ के ही परिणाम हैं।

3.6.5 अहिंसाणुव्रत–

संकल्पपूर्वक त्रस जीवों के घात का त्याग करना तथा स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा से दूर रहना अहिंसाणुव्रत है। आरम्भी, विरोधी और उद्यमी हिंसा का त्याग अहिंसाणुव्रत में गर्भित नहीं है।

3.6.6 सत्याणुव्रत–

लोक में जो असत्य के नाम से प्रसिद्ध है ऐसे स्थूल असत्य भाषण का त्याग करना सत्याणुव्रत है। पशुओं में भाषण की कला नहीं है। यह कला मनुष्य को प्राप्त हुई है तो इसके द्वारा स्वपर कल्याण ही करना चाहिये। असत्य भाषण के द्वारा उस कला का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये।

3.6.7 अचौर्याणुव्रत–

किसी की गिरी, पड़ी या भूली हुई वस्तु को भी न स्वयं उठाना, न उठाकर किसी को देना अचौर्याणुव्रत है। मिट्टी, पानी आदि सर्वोपयोगी वस्तुएँ सर्वसाधारण के लिये खुले हुए स्थान से यह जीव ग्रहण कर सकता है पर वर्जित स्थान से उन्हें भी ग्रहण नहीं करता। लोभकषाय की तीव्रता में यह जीव इस बात का विचार भूल जाता है कि जिस प्रकार यह धन-धान्यादिक वस्तुएं मेरे लिये इष्ट हैं, इनके बिना मैं दुखी हो जाता हूँ उसी प्रकार दूसरे के लिये भी इष्ट हैं इनके बिना वे भी दुखी होते हैं। इस विचार के बिना ही वह चोरी में प्रवृत्त होता है। चोरी करना जहाँ अधार्मिक परिणति है वहीं अनैतिक परिणति भी है। विवेकी मानव इससे दूर रहता है।

3.6.8 ब्रह्मचर्याणुव्रत–

विवाहित और अविवाहित सभी प्रकार की परस्त्रियों का परित्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। सद्गृहस्थ के लिये शीलव्रत की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसके बिना सज्जातित्व नामक परमस्थान की सुरक्षा नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्याणुव्रत की रक्षा के लिये वेषभूषा और भोजन का सात्त्विक रखना आवश्यक है। अधिकांश लोग कुसंगति में पड़कर शीलव्रत से भ्रष्ट होते हैं अतः निरन्तर कुसंगति से बचना चाहिये।

3.6.9 परिग्रहपरिमाणव्रत–

अपनी आवश्यकता के अनुसार धन-धान्य आदि परिग्रह का परिमाण करना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है। इसी का दूसरा नाम इच्छा परिमाण व्रत भी है। परिग्रह से सबका निर्वाह होता है। एक स्थान पर आवश्यकता से अधिक परिग्रह के रुक जाने से अन्यत्र उसकी कमी हो जाती है और कमी के कारण अन्य लोग दुखी हो जाते हैं इसलिये अनावश्यक संग्रह से बचना ही इस व्रत का लक्ष्य है।

3.6.10 पञ्चोदुम्बर फल त्याग–

जो फल, फूल के बिना काठ फोड़कर उत्पन्न होते हैं वे उदुम्बर फल कहलाते हैं। बड़, पीपल, पाकर, कठूमर और अंजीर इन पाँच फलों का इनमें समावेश किया है। बड़, पीपल, पाकर आदि फलों में प्रत्यक्ष त्रस जीव दिखते हैं। इन फलों के खाने से उन जीवों का विघात नियम से होता है अतः अहिंसा व्रत की रक्षा के लिये इनका त्याग करना आवश्यक है।

3.6.11 रात्रिभोजन त्याग–

रात्रि में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकार के भोजन का त्याग करना रात्रिभोजन त्याग है। पं. आशाधरजी के उल्लेखानुसार मूलगुण का धारी मनुष्य रात्रि में पान, सुपारी तथा पानी का सेवन कर सकता है परन्तु प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावक इनका सेवन नहीं कर सकता।

3.6.12 आप्तनुति–

प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करना, पूजन करना आदि आप्तनुति कहलाती है। देववन्दना से अपने वीतराग आत्मस्वभाव का लक्ष्य बनता है इसलिये प्रमाद छोड़कर उसे अवश्य करना चाहिये। आचार्यों ने देवदर्शन को सम्यक्त्व की प्राप्ति का बाह्य साधन कहा है।

3.6.13 जीवदया–

आहार–विहार आदि प्रवृत्ति करते हुए जीवदया का भाव रखना जीवदया है। इस गुण का धारी जीव सदा देखभाल कर चलता है तथा अपनी प्रवृत्ति से जीवों का घात नहीं होने देता। मनुष्य को अपनी शक्ति का प्रयोग जीवरक्षा में करना चाहिये न कि जीवघात में।

3.6.14 जलगालन–

पानी की एक बूंद में हजारों जीव हैं यह बात आज यन्त्रों से देखकर अच्छी तरह सिद्ध की जा चुकी है अतः अगालित (बिना छना) जल का त्याग करना गृहस्थ का कर्तव्य है।

इस तरह संक्षेप से मूलगुणों में आई हुई बातों का विचार किया गया है। उपर्युक्त मूलगुणों का धारण करना व्रती और अव्रती दोनों के लिये आवश्यक है। अन्तरङ्ग में प्रतिपक्षी कषायों का अभाव हुआ है या नहीं, इसका निर्णय करना प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। चरणानुयोग के अनुसार तो गृहस्थ गृहस्थ के योग्य और मुनि मुनि के योग्य आचार का पालन करता है और श्रद्धा के साथ करता है। किसी के आतंक या ख्याति, लाभ आदि की आकांक्षा से नहीं करता है तो वह चारित्र का धारक कहलाता है। चरणानुयोग ऐसे चारित्र के धारक की भक्ति, विनय आदि करने की आज्ञा देता है।

जैन गृहस्थ का आचार अन्य लोगों की अपेक्षा जो सुधरा हुआ पाया जाता है वह आचार को प्रधानता देने से ही सुधरा हुआ पाया जाता है। आजकल कुछ लोग कह देते हैं कि मूलगुणों के बिना भी सम्यक्त्व हो सकता है, सद्गृहस्थ रहा जा सकता है तथा जिनधर्म की देशना प्राप्त की जा सकती है आदि..... किन्तु ऐसा उपदेश और व्याख्यान करने वाले जैन, गृहस्थों के साथ धोखा करते हैं और उन्हें मोक्षमार्गी बनने से वंचित करते हैं ऐसा समझना चाहिए क्योंकि चरणानुयोग के द्वारा प्रतिपादित चारित्र/रत्नत्रय बुद्धिपूर्वक ही ग्रहण किया जाता है।

3.7 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-गृहस्थों के अष्टमूलगुण कितने हैं ?

(क) आठ ☐ (ख) तीन ☐ (ग) अट्ठावीस ☐

प्रश्न 2-ये अष्टमूलगुण कितने प्रकार से माने गये हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) छः ☐ (ग) पाँच ☐

प्रश्न 3-जैन दर्शनानुसार पानी की एक बूंद में कितने जीव माने हैं ?

(क) करोड़ों ☐ (ख) असंख्यात ☐ (ग) हजारों ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-पंच उदम्बर फल कौन-कौन से हैं, नाम लिखिए ?

प्रश्न 2-'रत्नकरण्ड श्रावकाचार'' ग्रंथ के अनुसार मूलगुण के नाम लिखिए ?

प्रश्न 3-मूलगुण किसे कहते हैं ? उदाहरण देकर समझाइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अनुसार आठ मूलगुणों की व्याख्या कीजिए ?

पाठ 4 – गृहस्थों के षट् आवश्यक कर्म

4.1 'आवश्यक' शब्द का सामान्य अर्थ है जिसका अवश्य पालन होना चाहिये; जरूरी या सापेक्ष। निरुक्तिपरक अर्थ है—वश्य उसे कहते हैं जो किसी के अधीन होता है और जो ऐसा नहीं होता उसे अवश्य कहते हैं और उसके कर्म को आवश्यक कहते हैं।

अवश्य करने योग्य जो कोई भी कार्य हो वह आवश्यक शब्द से कहा जाना चाहिये परन्तु आवश्यक शब्द यहां पारिभाषिक अर्थ में साधु और श्रावक की विशेष क्रियाओं के लिये प्रसिद्ध है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में कहा है–

1. जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।।गाथा।141।

2. ण वसो अवसो, अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा।।गाथा 142।

मूलाचार (गाथा 215) में कहा है कि जो कषाय, रागद्वेष आदि के वशीभूत न हो वह अवश है, उस अवश का जो आचरण वह आवश्यक है।

4.2 'अनगार धर्मामृत' में 'आवश्यक' शब्द को परिभाषित करते हुए पण्डित आशाधर जी कहते हैं–

''यद्व्याध्यादिवशेनापि क्रियतेऽक्षावशेन तत्।
आवश्यकमवश्यस्य कर्माहोरात्रिकं मुनेः।।8/16।।''

रोग आदि से पीड़ित होने पर भी इन्द्रियों के अधीन न होकर मुनि के द्वारा जो दिन-रात के कर्त्तव्य किये जाते हैं, उन्हें आवश्यक कहते हैं। जो 'वश्य' अर्थात् इन्द्रियों के अधीन नहीं होता उसे अवश्य कहते हैं और अवश्य के कर्म को आवश्यक कहते हैं।

'आवासक' ऐसा शब्द मानकर 'आवासयन्ति रत्नत्रयमपि इति आवश्यकाः' ऐसी भी निरुक्ति होती है अर्थात् जो आत्मा में रत्नत्रय का निवास कराते हैं, उनको आवासक/आवश्यक कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि चाहे अनगार हो या सागार–आगम में दोनों ही के लिये अपनी–अपनी स्थिति के अनुरूप कुछ ऐसी क्रियाएँ निर्दिष्ट की गई हैं जो उन्हें मोक्षमार्ग में सतत गतिमान रखती हैं और जिन्हें नियमतः कर्त्तव्यरूप में बिना प्रमाद किए सोल्लास प्रतिदिन सम्पन्न करना चाहिये। इन क्रियाओं को 'आवश्यक' संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

विवेकवान, विरक्तचित्त गृहस्थ को श्रावक कहते हैं, जो पाक्षिक, नैष्ठिक व साधक के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। आचार्यों ने श्रावकों के मूल व उत्तरगुणों का निर्देश किया है। प्रत्येक श्रावक को मूलगुण अवश्य धारण करने चाहिये क्योंकि (अष्ट) मूलगुण धारण व (सप्त) व्यसनों के त्याग के बिना नाम से भी श्रावक नहीं हो सकता। पंचाध्यायीकार का कथन है—

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा।।उत्तरार्द्ध 725।।

सागार धर्मामृतकार ने विभिन्न आचार्यों की मूलगुण सम्बन्धी स्थापनाओं का उल्लेख किया है जिनका सुष्ठु समाहार निम्नलिखित श्लोक में हो जाता है–

मद्यपलमधुनिशासन पञ्चफलीविरति पञ्चकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः।।2/18।।

मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन व पांच उदुम्बर फलों का त्याग, देववन्दना, जीवदया करना और पानी छानकर पीना ये आठ मूलगुण माने गये हैं। इन आठ मूलगुणों में एक पाक्षिक श्रावक के योग्य सभी आचार आ जाता है। 'मूल' जड़ को कहते हैं, जैसे—दृढ़ जड़ के अभाव में वृक्ष की स्थिति सम्भव नहीं है उसी प्रकार इन मूलगुणों के अभाव में श्रावक भी धार्मिक क्रियाओं का सम्यक् निर्वाह नहीं कर सकता है अतः प्रत्येक श्रावक या गृहस्थ को 'पात्र' कहलाने के लिये

इन आठ मूलगुणों को अवश्य धारण करना चाहिये।

मूलगुणों के बाद आचार्यों ने श्रावक के अनेक उत्तर गुणों की भी विशद चर्चा की है। गृहस्थ के आवश्यक या गृहस्थ के कर्त्तव्य भी उत्तरगुणों के अन्तर्गत ही आते हैं।

अनेक आचार्यों ने अपेक्षाभेद से श्रावक के 2, 4, 5 और 6 तक आवश्यक कर्त्तव्य निश्चित किये हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने 'रयणसार' में दान और पूजा को श्रावक का प्रमुख कर्त्तव्य माना है, इनके बिना वह श्रावक नहीं है। "दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा" 10 (श्रावकाचार संग्रह, पृ. 480) भाग 3

'व्रतोद्योतन श्रावकाचार' में अभ्रदेव ने भी आचार्य के उक्त कथन को ही प्रधानता दी है–

बहुना जल्पितेनात्र किं प्रयोजनमुच्यते।
श्रावकाणामुभौ मार्गौ दानपूजाप्रवर्तिनौ।।184।। (श्रावकाचारसंग्रह भाग 3, पृ. 226)

कषायपाहुड में श्रावक के चार धर्म कहे गये हैं—"दाणं पूजा सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो" दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावक के धर्म हैं।

सागार धर्मामृतकार ने भी एक स्थान पर श्रावकों के लिये चार प्रकार का आचार निर्दिष्ट किया है–

"दानशीलोपवासार्चाभेदादपि चतुर्विधः।
स्वधर्मः श्रावकैः कृत्यो भवोच्छित्त्यै यथायथम्"।।51।। (ज्ञानपीठ संस्करण–पृ. 305)

अमितगति आचार्य ने भी अपने श्रावकाचार में श्रावकों के संसार–कान्तार को जलाने के लिये चार प्रकार का धर्म कहा है—

दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः।
श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः।।9/1।। (पृ. 344 श्रा. संग्रह भाग 1)

पण्डित आशाधरजी ने सागार धर्मामृत के प्रथम अध्याय के 18वें श्लोक में श्रावक के पांच धर्म–कर्म गिनाये हैं—

नित्याष्टाह्निक सच्चतुर्मुखमहान्कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा–
विज्याः पात्रसमक्रियान्वयदयादत्तीस्तपः संयमौ।
स्वाध्यायं च विधातुमाहतकृषी सेवावणिज्यादिकः
शुद्ध्याऽऽप्तोदितया गृही मललवं प्रक्षादिभिश्च क्षिपेत्।।18।। (पृ. 34 ज्ञानपीठ सं.)

कृषि, सेवा, व्यापार आदि छह आजीवन कर्मों को यथायोग्य स्वीकार करने वाले गृहस्थ को नित्यपूजा, आष्टाह्निक पूजा, सच्चतुर्मुख पूजा, कल्पद्रुम पूजा और इन्द्रध्वज पूजा को, पात्रदत्ति, समक्रियादत्ति, अन्वयदत्ति और दयादत्ति को तथा तप, संयम और स्वाध्याय को करने के लिये गुरुओं के द्वारा कहे हुए प्रायश्चित्त के द्वारा तथा पक्षचर्या साधन के द्वारा पाप के लेश को दूर करना चाहिये।

आचार्य जिनसेन ने महापुराण में गृहस्थ के षट्कर्म इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम तथा तप बतलाए हैं। "इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायः संयमं तपः" 38/24।

पण्डित आशाधरजी ने वार्ता को छोड़कर—जो आजीविका से सम्बद्ध हैं, शेष पांच ही गिनाए हैं।

चामुण्डराय प्रणीत चारित्रसार में भी गृहस्थों के छह आर्य कर्म उल्लिखित हुए हैं—"गृहस्थस्येज्या वार्ता दत्तिः स्वाध्यायः संयमः तप इत्यार्य षट्कर्माणि भवन्ति।।" (श्रा. सं. 1/258)

4.3 आचार्य सोमदेव ने श्रावक के छह दैनिक कर्म बतलाए हैं–

"देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमं तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने"।। (उपासकाध्ययन)

आचार्य पद्मनन्दि ने भी अपनी पंचविंशतिका में यही छह आवश्यक कर्म बताये हैं—

"देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने"।।6/7।। (श्रा. सं. भाग 3 पृ. 427)

मेधावी पण्डित विरचित धर्मसंग्रह श्रावकाचार में गृहस्थ के छह कर्म बताए गए हैं। इसमें गुरुपास्ति के स्थान पर 'वार्ता' को गृहस्थ का आवश्यक कर्म माना है–

इज्या वार्त्ता तपो दानं स्वाध्यायः संयमस्तथा।
ये षट्कर्माणि कुर्वन्त्यन्वहं ते गृहिणो मताः।।6/26।।(श्रा. संग्रह भाग 2 पृ. 154.)

महापुराण, चारित्रसार और मेधावी पण्डित रचित श्रावकाचार में 'वार्ता' को गृहस्थ के षट्कर्मों में गिनाया गया है परन्तु वार्ता तो कृषि आदि षट्कर्म रूप है जो आजीविका से सम्बद्ध है अतः धर्म-कर्म में सम्भवतः उसे स्वीकृति न देकर गुरुपासना को सम्मिलित किया गया है।

4.4 उमास्वामी श्रावकाचार में भी गृहस्थ के छह कर्म बताये गये हैं–

देवपूजादिषट्कर्मनिरतः कुलसत्तमः।
अद्यषट्कर्मनिर्मुक्तः श्रावकः परमो भवेत्।।94।।

देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ही यहां षट्कर्म के रूप में उल्लिखित हुए हैं।

इस तरह भिन्न-भिन्न आचार्यों ने 2, 4, 5, 6 तक षडावश्यक निश्चित किये हैं तथा उन्हें आवश्यक, दैनिक कर्म, धर्म–कर्म, आर्यकर्म, कर्त्तव्य, मुख्यकर्म आदि विविध संज्ञाओं से अभिहित किया है। इन धार्मिक कर्त्तव्यों को प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। गृहस्थ दशा में शुभोपयोगरूप धर्म की सिद्धि होती है। उपर्युक्त सभी आवश्यक कर्त्तव्य—कर्म पुण्यबन्ध के हेतु हैं तथा वीतराग भाव की ओर लक्ष्य ले जाने में अत्यन्त सहायक हैं।

4.4.1 देवपूजा–

मन, वचन, काय से भगवान जिनेन्द्र–अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी के गुणों का विशेष रूप से वर्णन, चिंतन व मनन करते हुए अष्ट द्रव्यों से पूजन करना देवपूजा है। यह गृहस्थ का सर्वाधिक प्रमुख कर्त्तव्य है। यदि किसी कारणवश अष्ट द्रव्य से पूजन न कर सके तो स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर मन्दिर में जाकर अतिविनय और बहुत हर्ष के साथ देवाधिदेव का दर्शन करें। दर्शन, स्तवन, नमस्कार, प्रदक्षिणा आदि भी एक लघुपूजन है।

(अ) दर्शन विधि–जिनेन्द्रदेव के सम्मुख जाते ही अत्यन्त विनयपूर्वक हाथ जोड़कर सिर झुकावें। णमोकार मन्त्र पढ़कर कोई स्तवन, स्तोत्र या श्लोकादि पढ़कर अक्षत या फल चढ़ावें। अनन्तर अष्टांङ्ग अथवा पञ्चाङ्ग नमस्कार करें (धोक देवें)। फिर मन्द किन्तु स्पष्ट स्वर में शुद्ध उच्चारणपूर्वक संस्कृत या हिन्दी भाषा का स्तोत्र पढ़ते हुए अपनी बांयी ओर से चलकर वेदी की धीरे–धीरे तीन प्रदक्षिणा दें। स्तोत्र पूरा होने पर फिर नमस्कारपूर्वक धोक देवें। दर्शन करते समय अपनी दृष्टि जिनबिम्ब पर ही केन्द्रित रखनी चाहिये। स्तोत्र का वाचन उसके अर्थ को ध्यान में रखते हुए करना चाहिये। दर्शन करते समय या प्रदक्षिणा लगाते समय इस बात की विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि कहीं मेरी इन क्रियाओं से अन्य व्यक्तियों के दर्शन–पूजन में तो विघ्न नहीं पड़ रहा है।

दर्शन के बाद भगवान के अभिषेक का 'गन्धोदक' शरीर के उत्तम (नाभि से ऊपर के) अंगों में लगाना चाहिये। देव दर्शन–पूजन करने हेतु गृहस्थ को खाली हाथ नहीं आना चाहिये–

"रिक्तपाणिर्नैव पश्येद् राजानं देवतां गुरुम्।"

चढ़ाने के लिये चावल आदि अवश्य साथ में ले जाने चाहिये। चावल चढ़ाने का अभिप्राय यह है कि जिस तरह धान से छिलका उतर जाने पर फिर धान में उगने की शक्ति नहीं रहती, इसी प्रकार भगवान के दर्शन, पूजन–भक्ति करने

से आत्मा पुनः जन्म लेने योग्य न रहे।

(आ) पूजन विधि–पूजा करने के लिए पूजक को शुद्ध छने जल से स्नान करके शुद्ध, स्वच्छ एवं अखण्ड वस्त्र (धोती, दुपट्टा) पहनना चाहिये। धोती और दुपट्टा अलग-अलग होना चाहिये।

पूजन की सामग्री कुँए के जल से ही धोनी चाहिये क्योंकि वह जल शुद्ध होता है। जहां तक हो सके पूर्व या उत्तरदिशा की ओर मुख करके पूजन आदि शुभ कार्य करने चाहिये। पूजन प्रारम्भ करने से पूर्व अभिषेक एवं शान्तिधारा करनी चाहिये। यह पूजन का ही एक अंग है।

अभिषेक कर लेने के बाद विधिपूर्वक अष्टद्रव्य से पूजन प्रारम्भ करना चाहिये। अष्टद्रव्यों को चढ़ाते समय जलधारा झारी से, चन्दन अनामिका अंगुली से, अक्षत बँधी हुई मुट्ठी से, पुष्प दोनों हाथों से, धूप अग्नि में तथा नैवेद्य, फल और अर्घ्य रकेबी से चढ़ाने का विशेष ध्यान रखना चाहिये। जितनी पूजाएँ करनी हों उतनी सब करने के पश्चात् भगवान् की आरती करके शांतिपाठ और विसर्जन करना चाहिये। अभिषेक, आह्वान, स्थापना, सन्निधिकरण, पूजन, शांतिपाठ और विसर्जन ये सब पूजा के अंग हैं। इनको किए बिना पूजा अपूर्ण रहती है। जो अभिषेक करें उन्हें भगवान का पूजन अवश्य करना चाहिये। पूजा भी अभिषेकपूर्वक ही की जानी चाहिये।

प्रातःकाल दर्शन-पूजन करने से हमारा मन पवित्र रहता है। अपने आदर्श के स्मरण के लिये सबको प्रातःकाल सबसे प्रथम शुभ पदार्थ को देखना चाहिये, वीतराग भगवान से बढ़कर शुभ दर्शन और किसका हो सकता है ? अतः अन्य कोई घर, व्यापार आदि का कार्य आरम्भ करने से पूर्व भगवान का दर्शन-पूजन करना अत्यन्त आवश्यक कर्म है।

4.4.2 गुरु उपासि–

पूजन के बाद समस्त परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरुओं (आचार्य, उपाध्याय, साधु, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका) के पास जाकर उन्हें अक्षत या फल आदि चढ़ाकर यथायोग्य नमोस्तु, वन्दामि आदि करके भक्तिभाव से उनकी स्तुति एवं पूजन करना चाहिये, धर्मोपदेश सुनना चाहिये। उनकी सेवा-सुश्रूषा करना, आवश्यकतानुसार कमण्डलु, पीछी, शास्त्र आदि उपकरण देना, विधिपूर्वक प्रफुल्ल हृदय से निर्दोष आहार कराना आदि क्रियाएँ भी गुरु उपासना ही हैं। यदि निकट में गुरुओं का समागम लाभ न हो तो बड़ी भक्ति सहित उनकी स्तुति आदि पढ़नी चाहिये।

4.4.3 स्वाध्याय–

अर्हन्त भगवान द्वारा उच्चरित, गणधरों द्वारा ग्रथित तथा आचार्यों द्वारा लिखित चारों अनुयोग (प्रथमं, करणं, चरणं, द्रव्यं) रूप आगम का पढ़ना–पढ़ाना, सुनना–सुनाना, पूछना व बताना, चिन्तन व मनन करना, चर्चा करना, स्वाध्याय नाम का तीसरा आवश्यक कर्म है।

स्वाध्याय शब्द का अर्थ तीन प्रकार से किया जाता है—1. स्व + अध्याय (स्वस्य आत्मनः अध्ययनम्) अपनी आत्मा का अध्ययन, आत्मनिरीक्षण 2. स्व + अध्याय (स्वयं अध्ययन) = अपने आप अध्ययन, मनन 3. सु + अध्याय = उत्तम अध्ययन, आत्महित करने वाली वाणी का अध्ययन। प्रारम्भिक स्थिति सु + अध्याय की है और विकसित स्थिति स्वाध्याय की।

आचार्यों ने स्वाध्याय को आभ्यन्तर तप माना है और इसके पाँच भेद किए हैं—"वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशाः" (9/25 त. सू.) वाचना (पढ़ना), पृच्छना (संशय को दूर करने के लिये अथवा कृत निश्चय को दृढ़ करने के लिये प्रश्न पूछना), अनुप्रेक्षा (जाने हुए पदार्थ का बार-बार चिंतवन करना), आम्नाय (निर्दोष उच्चारण करते हुए पाठ करना) और धर्मोपदेश—धर्म का उपदेश करना।

संसारी प्राणी रात दिन सुख, शान्ति पाने के लिये प्रयत्नशील रहता है किन्तु उसे मन की स्थिरता के अभाव में प्रायः निराशा ही मिलती है अतः चित्त की चञ्चलता को कम करने का प्रयत्न अपेक्षित है। स्वाध्याय मन को स्थिर करने का

प्रथम और अमोघ उपाय है अतः प्रतिदिन नियमितरूप से कुछ समय निकालकर स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। आत्महित स्वाध्याय से ही होता है।

प्रथमानुयोग के ग्रंथ महापुरुषों के चरित्रों के माध्यम से हमें प्रेरणा प्रदान करते हैं तो करणानुयोग के ग्रंथों के माध्यम से सम्पूर्ण लोक का स्वरूप ज्ञात होता है। चरणानुयोग के ग्रंथ पापरूप कर्म से बचने व जीवन में सदाचार को ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं तथा द्रव्यानुयोग के ग्रंथों से तत्त्व विवेक जागृत होता है। सभी विषयों में ज्ञान के विकास के लिये सभी ग्रंथ पठनीय हैं। मुक्तिमार्ग पर अग्रसर होने वाले प्रत्येक मानव को सभी सद्शास्त्रों का अध्ययन, मनन और चिन्तन करना चाहिये।

4.4.4 संयम–

इच्छाएँ आकुलता की जननी हैं। मोक्षमार्ग पर चलने वाले पथिक को अपनी बढ़ती हुई इच्छाओं पर नियन्त्रण करना चाहिये तथा हिंसादि पांच पापों से बचना चाहिये। संयम शब्द का अर्थ है सम्यक् प्रकार से नियमन करना, दमन करना, किसको ? आकुलता-व्याकुलता उत्पादक विकल्पों को–जो विषयभोगों के दृढ़ संस्कारवश प्रतिक्षण नवीन रूप धारण करके चित्त को चञ्चल किए रहते हैं, मुक्तिपथ में बाधक बनते हैं। इन्द्रिय संयम एवं प्राणिसंयम के भेद से संयम दो प्रकार का होता है। गृहस्थों को शक्त्यनुसार पांचों इन्द्रियों और मन के प्रसार को रोकना चाहिये तथा त्रस जीवों की दया करते हुए बिना प्रयोजन स्थावर प्राणियों की हिंसा भी नहीं करनी चाहिये। संयम के बिना जीवन निष्फल है। स्वच्छन्द प्रवृत्ति आत्मा को संसार में भटकाने वाली है अतः प्रतिदिन भोजन–पान, वस्त्राभूषण, मनोरंजन, काम सेवन आदि भोगोपभोग की सामग्री का नियम करना चाहिए तथा जीवों की विराधना से बचना चाहिये।

4.4.5 तप–

"इच्छा निरोधः तपः" इच्छाओं को रोकना ही तप है। तप से कर्मों का संवर होता है साथ ही निर्जरा भी होती है। यद्यपि पुण्यकर्म का बन्ध होना भी तप का फल है तथापि तप का प्रधान फल कर्मों की निर्जरा ही है। जब तप में कुछ न्यूनता होती है तब उससे पुण्यकर्म का बन्ध होता है इसलिये पुण्य का बन्ध होना तप का गौण फल है।

मुनिधर्म तपश्चरण प्रधान है। आचार्यों ने 6 अन्तरंग और 6 बहिरंग तप माने हैं—

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यारसपरित्यागविविक्तशय्यासन कायक्लेशा बाह्यं तपः।।19।।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।।20।। (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 9)

श्रावक भी मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ने के भाव रखता है अर्थात् उसके भाव भी मुनि बनने के रहते हैं अतः वह भी अभ्यासरूप में इन तपों को धारण करता है किन्तु शक्ति के अनुसार। गृहस्थ दशा में पूर्ण तप का पालन तो नहीं किया जा सकता है परन्तु फिर भी शक्ति के अनुसार ही तप, व्रत आदि करना चाहिये, शक्ति से अधिक नहीं। व्रतों या उपवासों के माध्यम से जिनगुणसम्पत्ति आदि व्रत करना भी तप में है।

सम्यक् श्रद्धा व संयम के साथ किया गया तप ही मुक्तिपथ की ओर ले जाने वाला होता है, आत्मा को निर्मल बनाने वाला होता है। भावों के बिना किया गया तप सार्थक नहीं होता। तप ख्याति लाभ से परे हो, छलकपट से रहित हो, इच्छाओं से रहित हो तभी उसकी सार्थकता है। उसी से आत्मशुद्धि सम्भव है इसलिये भले ही तप थोड़ा हो परन्तु समीचीन हो। गृहस्थ को यथाशक्ति प्रतिदिन इन तपों का अभ्यास करना चाहिये।

4.4.6 दान–

मोक्षमार्ग में प्रवृत्त सत्पात्रों के रत्नत्रय की वृद्धि के लिये, धर्मक्षेत्रों के निर्माण विकास के लिए तथा दीनदुःखी जीवों की प्राण रक्षा के लिए आवश्यकतानुसार, न्यायपूर्वक अर्जित अपने धन का त्याग करना, हमेशा के लिए दे देना दान कहलाता है।

4.5 शास्त्रों में दान की महती महिमा गाई गई है।

"पञ्चसूनाकृतं पापं यदेकत्र गृहाश्रमे।
तत्सर्वमतये वासौ दाता दानेन लुम्पति"।।59।। (रत्नमाला; श्रावकाचार संग्रह भाग 3, पृ. 414)

आरम्भ परिग्रह से उत्पन्न पाप दान से नष्ट होता है।

आहारदान, औषधिदान, ज्ञानदान और अभयदान के भेद से दान चार प्रकार का होता है। उत्तम पात्रों (रत्नत्रयधारी नग्न दिगम्बर साधु), मध्यम पात्रों (आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, व्रती श्रावक) तथा जघन्य पात्रों (अविरत सम्यग्दृष्टि) को आहार आदि चतुर्विध दान देना दानदत्ति है।

साधर्मियों के लिए धर्म, अर्थ, काम के साधनभूत पदार्थों का देना समदत्ति दान है।

दीन-दुःखी जीवों को करुणापूर्वक भोजन, वस्त्र, औषधि आदि देने के साथ-साथ उन्हें पूर्ण अभय प्रदान करना दयादत्ति दान है।

गृहस्थ दशा का सम्पूर्ण भार स्वपुत्र को सौंपकर निश्चित होकर दीक्षा धारण करना या पूर्णतः धर्माराधन में तत्पर हो जाना अन्वयदत्ति दान है।

जिस दान के प्रदान करने से दाता और पात्र की आत्मा का कल्याण होता हो और जिस दान से मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति निरन्तर वृद्धिंगत होती रहे, वही दान वास्तव में दान है।

गृहस्थ को प्रतिदिन अपने बनाए हुए भोजन में से कुछ भोजन तथा अपनी आमदनी में से कुछ न कुछ द्रव्य का अवश्य दान करना चाहिये।

ये छह कर्तव्य या आवश्यक गृहस्थ को प्रतिदिन अवश्य करने चाहिए। इनके बिना गृहस्थ धर्म सार्थक नहीं होता।

पद्मनन्दि आचार्य ने पंचविंशतिका में षडावश्यकों से शून्य गृहस्थजीवन को पत्थर की नाव के समान बताया है जो नियम से भवसागर में डूबने वाला है-

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते, न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम्।
सामर्थ्ये सति तद् गृहाश्रमपदं पाषाणनावा समं, तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च।।18, देशव्रतोद्योतन।।

षडावश्यकों का गृहस्थ जीवन में अनिवार्यतः प्रतिदिन पालन करना चाहिये अन्यथा मनुष्य पर्याय और तिर्यञ्च पर्याय में क्या अन्तर रहेगा ? आहार, निद्रा, भय, मैथुन इन संज्ञाओं की अपेक्षा तो मनुष्य और पशु समान ही हैं।

4.6 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-गृहस्थों के षट् आवश्यक कर्म कितने हैं ?

(क) 9 ☐ (ख) 3 ☐ (ग) 6 ☐

प्रश्न 2-दान कितने प्रकार का है ?

(क) 4 ☐ (ख) 7 ☐ (ग) 12 ☐

प्रश्न 3-कौन से आचार्य ने दान और पूजा को प्रमुख कहा है ?

(क) कुन्दकुन्दाचार्य ☐ (ख) अमितगति आचार्य ☐ (ग) जिनसेनाचार्य ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-आवश्यक शब्द का सामान्य अर्थ क्या है ?

प्रश्न 2-आचार्यों ने अपेक्षा भेद से श्रावक के आवश्यक कर्तव्य कितनी प्रकार से कहे हैं, किसी एक ग्रंथ के अनुसार नाम लिखिए ?

प्रश्न 3-संयम किसे कहते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-स्वाध्याय तप शब्द का अर्थ पूर्णतः प्रतिभासित कीजिए ?

इकाई–2 गृहस्थों की आचार शुद्धि

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) उत्तम आचरण का आधार-शाकाहार

(2) खानपान की शुद्धि परमावश्यक

(3) मानव धर्म की विराट भूमिका

(4) श्रावकाचार संग्रह में वर्णित श्रावक के विशेष कर्तव्य

पाठ 1–उत्तम आचरण का आधार-शाकाहार

1.1 जैन आचार, आहार एवं जीवन शैली का सम्बन्ध व्रतों से है। अहिंसा के विचार का मनुष्य में उदय तथा पोषण होता है इसीलिए इन व्रतों से मानव में संयम तथा अहिंसा का पोषण होता है। आहार संयम के लिए प्राचीन काल में एक परम्परा थी कि श्रावक अपने घर के भोजनालय में शुद्ध, सात्विक एवं पौष्टिक भोजन करता था। समय एवं खाद्य पदार्थों में पूर्ण प्रामाणिकता थी किन्तु आज परम्परागत गृहस्थों के भोजनालय बदल गये हैं। उनका परिवर्तित स्थान आधुनिक होटल, डाइनिंग हाल आदि आहार के व्यापारिक संस्थानों ने ले लिया है। आधुनिक कारखानों में निर्मित आहार का व्यापक रूप में प्रयोग (होम डिलिवरी के रूप में) प्रचलित हो चुका है। आगामी समाज की पीढ़ी इसी आहार एवं पेय द्रव्यों पर निर्भर होगी, उससे जो शरीर एवं मन बनेगा वह भविष्य के गर्भ में है। सम्पूर्ण राष्ट्र एवं समाज पर इसका कुप्रभाव होगा अत: इसका स्वस्थ विकल्प ढूँढना हमारा कर्तव्य है इसलिए अब विचार करना जरूरी हो गया है।

यह सर्वविदित है कि धर्मोपदेशक एवं साधु जैनागमों में वर्णित खान–पान का समय–समय पर प्रवचन करते हैं और समाज का ध्यान उसके लाभ-हानियों की ओर भी आकृष्ट करते हैं किन्तु उसका फल न्यून है अत: इस सम्बन्ध में विशेषज्ञों को विचार करना चाहिए तथा सक्रिय कदम उठाना चाहिए। कृषि कार्यों में कीटनाशक औषधियों के प्रयोग पर भी अहिंसक समाज को विचार करना चाहिये। आज विश्व में सूखी खेती तथा कीटनाशक दवाओं के बगैर कृषि सम्भव है। इजराइल का **अमिरिम** ग्राम इसका उदाहरण है। भारत में ऐसा हो, इसके लिए सामूहिक प्रयास आवश्यक है। इससे अहिंसक विचार को बल मिलेगा।

बहुत–सी औषधियाँ जान्तव द्रव्यों (हिंसक रीति) से निर्मित होती हैं। वे अहिंसक एवं शाकाहार आस्था रखने वाले समाज के लिए अभक्ष्य हैं अत: चिकित्सकों को समाज के समक्ष एक विचार रखना चाहिए कि कौन–कौन सी औषधियाँ भक्ष्य या अभक्ष्य हैं। जैन चिकित्सकों का यह दायित्व भी है। कैप्सूल का भी विकल्प ढूँढना चाहिए। इसके लिए उद्योगपति पहल कर सकते हैं।

सौन्दर्य प्रसाधनों में अनेक प्राणीजन्य द्रव्यों का प्रयोग होता है। अहिंसा के विचार की दृष्टि से इस पर विचार करना होगा। Beauty without cruelity के विचार को मान्य करना चाहिए और इसके लिए जो करना हो, करना चाहिए। वस्त्रों में रेशम का प्रयोग भी विचारणीय है। वस्त्र उत्पादन में **मटन टेलो** (मांस चर्बी) का प्रयोग होता है, यह सभी जानते हैं अत: अहिंसक एवं शाकाहारी समाज को यथासम्भव खादी, सूती अथवा सिन्थेटिक वस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए।

1.2 शाकाहार से आशय—

शाकाहार क्या है ? सहज स्वभाव है। शाकाहार में दो शब्द सम्मिलित हैं—शाक और आहार। शाक से आशय साग–पात, तरकारी–फल, दूध–घी आदि का है और आहार से अभिप्राय रोटी, दाल, चावल आदि से है। जिस प्रकार

दीर्घ जीवन के लिए शुद्ध जल, वायु आवश्यक है उसी प्रकार शुद्ध शारीरिक, मानसिक भोजन भी आवश्यक है। शाकाहार जितना धार्मिक है, माँसाहार उतना ही अधार्मिक है। शाकाहार हितकर भोजन है।

शाकाहार क्यों ? दुनिया के उच्च कोटि के वैज्ञानिक चिकित्सक और खिलाड़ियों का कहना है कि शाकाहार सर्वश्रेष्ठ भोजन है। शाकाहारी भोजन में भोजन तन्तु अधिक पाये जाते हैं। भोजन तन्तुओं की अधिकता से आँतों में भोजन का चलन व्यवस्थित रहता है। विभिन्न वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य स्वभाव से माँसाहारी नहीं है। वह तो स्वाद की लोलुपता और निर्दयता से माँसाहारी बनता जा रहा है।

1.3 शाकाहार से लाभ–

शाकाहारी भोजन से अनेक लाभ हैं। शाकाहारी भोजन से हमें भरपूर रेशे मिलते हैं। इसके नियमित प्रयोग से कब्ज होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। स्वास्थ्य की दृष्टि से शाकाहार भोजन उत्तम है इसलिए आज विश्व में सभी डॉक्टर शाकाहार का समर्थन करते हैं। इसमें रोगनिरोधन शक्ति है। आर्थिक दृष्टि से भी शाकाहार उत्तम भोजन है। शाकाहार के द्वारा कम मूल्य में अधिक ऊर्जा व कैलोरी प्राप्त की जा सकती है।

भारत की जीवन शैली के दो प्रमुख प्रेरक सूत्र हैं—'जियो और जीने दो' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (यह धरती हमारा परिवार है)। अहिंसा और सहअस्तित्व की पवित्र भावनाओं ने इस देश में परस्पर–सहयोग, प्रीति और विश्वास का खुशहाल वातावरण बनाया है। कोई भी भारतीय धर्म जीव हिंसा/रक्तपात के पक्ष में नहीं है।

जहाँ तक शाकाहार के उद्भव का प्रश्न है, यहाँ सदियों से कृषि पर जोर दिया जाता रहा है। जैनधर्म के वर्तमान युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ ने कृषि संस्कृति का प्रवर्तन किया था। उन्होंने मनुष्य को ऐसी अहिंसक जीवन शैली प्रदान की थी, जिसने एक–दूसरे के साथ प्रेम से रहने की सम्भावनाओं को समृद्ध दिया था। भारत गाँवों का देश रहा है। पशुपालन भारतीय संस्कृति की प्रमुख पहचान है। माँसाहार का भारतीय संस्कृति से कोई तालमेल नहीं है।

माँसभक्षी मनुष्य ऐसा समझते हैं कि माँसादि में अन्न, फल, दूध, सब्जी आदि से अधिक शक्ति के अंश होते हैं तो उनका यह सोचना बिलकुल गलत है। वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा विशिष्ट पदार्थों से प्राप्त होने वाली शक्ति की मात्रा निम्न तालिका से पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है—

वस्तु	**शक्ति की मात्रा**
सूखे चने, मटर में	87 प्रतिशत
बादाम में	91 प्रतिशत
दाख आदि मेवा में	73 प्रतिशत
घी में	87 प्रतिशत
दूध में	14 प्रतिशत
दूध में 86 प्रतिशत जो पानी होता है वह भी स्वास्थ्य के लिये लाभदायक है।	
माँस में	28 प्रतिशत
इसका जलीय अंश मानव शरीर के लिये हानिकारक होता है।	
चावल में	87 प्रतिशत
गेहूँ के आटे में	86 प्रतिशत
जौ के आटे में	84 प्रतिशत
मलाई में	69 प्रतिशत

अंगूर आदि फलों में 25 प्रतिशत

इन फलों का जलीय अंश भी मनुष्य शरीर के लिये फायदेमन्द होता है।

मछली में 13 प्रतिशत

अण्डे में 21 प्रतिशत

इनका जलीय अंश भी हानिकारक होता है।

इसके अनुसार माँस में सूखे चने, मटर, चावल, गेहूँ, जौ, बादाम, घी, मलाई, फल आदि से शक्ति की मात्रा बहुत ही कम होती है अत: साधारण मनुष्य भी चना-मटर चबाकर माँसाहारियों की अपेक्षा अधिक बलवान बन सकता है।

1.4 शाकाहार में सभी आवश्यक तत्व मौजूद-

शाकाहार में सभी आवश्यक तत्व पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं।

प्रोटीन-यह दूध, दही, छाछ, पनीर, फल, मेवों तथा दाल आदि में पायी जाती है।

चिकनाई-यह शरीर में गर्मी और शक्ति पैदा करती है। यह दूध, दही, मक्खन, तेल, बादाम, अखरोट आदि में पायी जाती है।

खनिज लवण-भोजन शक्ति को अच्छा रखते हैं। रोगों से शरीर की रक्षा करते हैं।

कार्बोहाइड्रेट-शरीर में गर्मी और शक्ति प्रदान करते हैं। यह चावल, गेहूँ, मक्का, ज्वार आदि में पाया जाता है।

कैल्शियम-हड्डियों और दाँतों को मजबूत करता है। यह दूध, दही व हरी सब्जियों में पाया जाता है।

विटामिन-शरीर को स्वस्थ और रोगों से मुक्त रखता है। यह चावल, गेहूँ, दूध, मक्खन, फल, नींबू, सेम आदि में पाया जाता है।

1.5 शाकाहार सर्वोत्तम आहार है—

''जैसा अन्न वैसा मन'' यह उक्ति इस तथ्य को रेखांकित करती है कि आपका खानपान जैसा होगा आपके मन में भी वैसा ही प्रभाव परिलक्षित होगा क्योंकि भोजन से शरीर में शक्ति का निर्माण होता है क्रूरतम खाद्य पदार्थों के सेवन से क्रूरतम मन बनेगा। मन को निर्मल बनायें, शाकाहार अपनायें यही संदेश हमारे ऋषि-मुनियों ने दिया है।

शाकाहार समूची मानवता के लिए श्रेष्ठतम आहार माना गया है जो मानव की अंत:प्रेरणा से सम्बन्ध रखता है। आहार स्वाद या स्वास्थ्यविषयक तथ्य मात्र नहीं है। यह संस्कृति एवं प्रकृतिविषयक जीवनशैलीमूलक सिद्धान्त है। भारतीय संस्कृति शाकाहार को शक्तिपुंज मानती है। यजुर्वेद में ऋषिगण कहते हैं कि शाकी शक्तिमान अर्थात् जो शाकाहारी है वही शक्तिमान है।

लोकजीवन में ही नहीं लोकोत्तर जीवन में भी भारतीय संस्कृति शाकाहार का अत्यधिक महत्व स्वीकार करती है। छन्दोपनिषद में ऋषिगण कहते हैं कि आहार की शुद्धि (अहिंसक आहार) से प्राणी के विचार शुद्ध होते हैं। शाकाहार सुखी जीवन की कुंजी है। यह ध्रुव सत्य है क्योंकि शाकाहार सात्विक भोजन है, जो शांत, सरल, निश्छल एवं प्रगतिशील चिंतनधारा को जन्म देता है। तभी तो प्रो. मैक्समूलर को कहना पड़ा था कि "भारत सोते-जागते धर्माचरण ही करता है।"

विश्व में ऐसा कोई धर्म नहीं है जिसमें अहिंसा को आधार मानकर माँसाहार को वर्जित न किया गया हो। जार्ज बर्नार्ड शॉ ने कहा है—माँसभक्षण कर अपने उदर को कब्रिस्तान न बनाओ। वेद-पुराण, बाइबिल, महाभारत, रामायण, गुरुग्रंथ, सभी विश्वप्रसिद्ध ग्रंथों एवं धर्माचार्यों ने, धर्म संस्कृतियों ने माँसाहार का विरोध तथा शाकाहार का समर्थन किया है इसीलिए यह मानव जाति का मात्र नैतिक पहलू ही नहीं है।

आधुनिक शोधकर्ताओं, वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि शाकाहारी भोजन से न केवल उच्चकोटि के प्रोटीन प्राप्त होते हैं अपितु भोजन से प्राप्त होने वाले सभी पोषक तत्व विटामिन, खनिज, ऊर्जा आदि प्राप्त होती है।

माँस एक अत्यधिक शीघ्र सड़ने-गलने वाली वस्तु है। मृत्यु के तुरन्त बाद इसमें विकृति आने लगती है व बीमार पशुओं की बीमारियाँ मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाती हैं। इसके साथ ही वध के भय से जो एक प्रकार का रसायन इन पशुओं के शरीर में उत्पन्न होता है वह माँस को जहरीला बनाता है। अण्डे और माँस में निहित यूरिक एसिड से माँसाहार में जहरीला प्रभाव होता है। माँस में खून मिला होने से इन्फेक्शन बहुत जल्दी होता है। इसके शरीर के रक्त में मिलकर हृदय रोग, टी. वी., एनीमिया, हिस्टीरिया, फेफड़े के रोग, इन्फ्लुएंजा जैसी अनेक बीमारियाँ हो जाती हैं। इसके विपरीत शाकाहारी भोजन में यह यूरिक तथा यूरिया एसिड नाम का विष बिल्कुल नहीं पाया जाता है। शिकागो में हुए रिसर्च के अनुसार अधिकतम मानसिक रूप से अविकसित तथा शारीरिक रूप से अविकसित बच्चे भी माँसाहारी माता-पिता के ही अधिक होते हैं।

शाकाहारी दीर्घायु, शांतप्रकृति तथा सौम्य स्वभाव के होते हैं क्योंकि यह निश्चित है कि "जैसा खाओ अन्न वैसा होवे मन", "जैसा पीओ पानी वैसी बोले वाणी"। शाकाहार जीवदया की भावना से ओतप्रोत होने के कारण वन्य जीवन और पर्यावरण से भी सम्बन्धित है। आजकल उन्नत चिकित्सा पद्धति ने अनेक खोजपूर्ण तथ्यों से यह सिद्ध कर दिया है कि दीर्घायु और स्वस्थ रहने के लिये शाकाहार सर्वोत्तम आहार है।

आज शाकाहार के गुणों व माँसाहार के अवगुणों तथा वास्तविकताओं से अवगत होना प्रत्येक मानव के लिये आवश्यक हो गया है क्योंकि यह निश्चित है कि जब तक व्यक्ति को पूर्ण ज्ञान नहीं मिलेगा व्यक्ति अपना स्वभाव या विचार नहीं बदल सकता है अतः सब कुछ जान-समझ लेने के पश्चात् इन निर्बल, निसहाय, मूक प्राणियों के लिये कुछ सोचने व स्वयं के स्वास्थ्य और जीवन के लिए सोच-समझकर निर्णय लेने का आपका अपना मत है कि आप माँसाहारी रहें या शाकाहारी। यह वहम भी माँसाहारी का झूठा है कि माँसाहारी अधिक चुस्त और फुर्तीले होते हैं। आज अनेक पुरस्कारों से सम्मानित भारत के गौरव गुरु हनुमान को कौन नहीं जानता, पूर्ण शाकाहारी रहकर आज वे अपने जीवन की लंबी पारी खेल रहे हैं एवं उन्होंने विश्वप्रसिद्ध कई पहलवानों को अपनी शिक्षा से विभूषित किया है।

एवरेस्ट पर विजय हासिल करने वाले शेरपाओं की तंदुरुस्ती का भी यही राज है, शेरपा तेनसिंह अपनी फुर्ती और स्फूर्ति के लिए शाकाहारी भोजन को श्रेय देते हैं।

देश में बढ़ रहे माँसाहार एवं अण्डा व उनसे निर्मित वस्तुओं से आज हमारी संस्कृति खतरे में पड़ गई है। माँसाहार के प्रचार-प्रसार को रोकने के लिए यदि शाकाहारी समाज ठोस कदम नहीं उठाता है तो यह उनके लिए खतरे का बिगुल है। आज देश भर में बूचड़खाने खुलते जा रहे हैं तथा सरकारी माध्यम, आकाशवाणी, दूरदर्शन के लुभावने आकर्षक विज्ञापनों के चंगुल में आज का मानव फंसता जा रहा है, कई राष्ट्रीय कंपनियाँ भारत में इस प्रकार के पदार्थों के उत्पादन बढ़ाने लगी हैं, जो दिखने में आकर्षक लेकिन वास्तव में माँस, अण्डा आदि से निर्मित होते हैं। फैशन के नाम पर भारी संख्या में कृत्रिम प्रसाधन तैयार हो रहे हैं।

आज सभी को जानने-समझने की आवश्यकता है कि अहिंसक भाव हमें विरासत में मिले हैं, यह बात अलग है कि वे भौतिकवादी चकाचौंध से डगमगा गये हैं इसीलिये यथार्थता का बोध कराने हेतु मानव में अहिंसा भावों की पुनर्स्थापना के लिये वर्तमान में जगह-जगह शाकाहार के कार्यक्रम आयोजित कर समूची मानव जाति को आहार के माध्यम से जीवनपद्धति और जीवनशैली को समझाने का प्रयत्न किया जा रहा है जो प्रकृतिजन्य है और ऐसा चिंतन, जो व्यक्ति को जीवन जीने के अधिकार की स्वतंत्रता का पोषक है। जो किसी के जीवन को छीनकर अपनी उदरपूर्ति के लिये उसे आहार की वस्तु नहीं बनाते। भारतीयों में बढ़ता मांसाहार आज जीवन-मरण का यक्ष प्रश्न बनकर खड़ा है

इसलिये आज की सबसे बड़ी आवश्यकता बन गई है कि शाकाहार का सिंहनाद घर-घर तक पहुंचाने के लिये सभी कृतसंकल्प होवें।

1.6 शाकाहार एवं माँ की ममता—

हमारी इस शस्यश्यामला भूमि पर आदिकाल से ही मानव ने आदिब्रह्मा, परमपिता भगवान् ऋषभदेव के द्वारा सिखाई गई जीवनकला के अनुसार अन्न, फल, सब्जी, मेवा आदि खाद्य पदार्थों को खेतों में अपने परिश्रम द्वारा उत्पन्न कर "कृषि" कला का परिचय प्रदान किया है। जिसके आधार पर हम सभी शाकाहारी जीवन जीकर अपनी "भारतीय संस्कृति" पर गौरव करते हुए दुनिया भर की दृष्टि में सदाचारी के रूप में स्वीकार किये जाते हैं।

परन्तु इसे कलियुग का अभिशाप कहा जाए अथवा पाश्चात्य संस्कृति का आक्रमण ? इसे मानवीय अत्याचार कहें अथवा अत्याधुनिक बनने की होड़ में छिपा अमानुषिक व्यवहार ? समझ में नहीं आता कि राम, कृष्ण, महावीर के जिस देश में सदैव दूध की नदियाँ बहती थीं, खेतों में सुगन्धित हरियाली लहराती थी, सड़क के आजू-बाजू वृक्षों पर लगे स्वादिष्ट फल मन को मुग्ध करते थे तथा जहाँ गरीब, अमीर सभी के घर गोधन से समाविष्ट रहते थे, प्रत्येक घरों में दूध की पौष्टिक सुगन्धि महकती थी और बच्चे, बूढ़े सभी मिल-बांटकर काजू, बादाम, मूंगफलियाँ खाते-खाते मनोरंजन करते तथा रामलीलाएँ देखा करते थे, आज बीसवीं सदी के समापन दौर पर इस उपर्युक्त जीवन प्रक्रिया में बहुत तेजी से विकृति आ रही है। जैसे—पशुपालन केन्द्रों के स्थान पर लगभग समस्त राज्यों में अनेक बड़े-बड़े बूचड़खाने खुल गये हैं, जिनसे सतत खून की नदियाँ बहकर धरती माता की छाती कम्पित कर रही हैं। हरे-भरे खेतों की जगह धरती का तमाम प्रतिशत भाग मुर्गीपालन केन्द्र (पॉल्ट्री फार्म), मत्स्यपालन, सुअरपालन, कछुवा पालन आदि केन्द्रों के रूप में कृषि के नाम को कलंकित कर रहा है जिसके कारण सड़क पर चलते पथिकों को वहाँ से निकलती दुर्गन्ध के कारण नाक बन्द करके द्रुतगति से कदम बढ़ाने पड़ते हैं। यदि भूल से कभी उधर नजर पड़ जाए तो पेड़ों के फलों की जगह अण्डों के दुर्दर्शन होने लगते हैं जो हृदय को दुर्गन्धित और घृणा से पूरित कर देता है।

गरीब-अमीर सभी भारतीयों के कुछ प्रतिशत घरों में अब प्रातःकाल से ही गरम-गरम दूध की जगह नशीली चाय और उसके साथ अण्डों से बनी वस्तुएँ—बिस्कुट, केक, पेस्ट्री आदि तथा डायरेक्ट अण्डों का मांसाहारी नाश्ता और भोजन प्रचलित हो गया है जो बालक, वृद्ध सभी के मन और तन को विकृत कर रहा है। इसी प्रकार गाँव-गाँव की चौपालों पर अब सामूहिक रूप से देशी-विदेशी शराबों का दौर तथा जुआ व्यसन का वृद्धिंगत रूप देखने में आने लगा है।

ऐसी न जाने कितनी विकृतियाँ भारतीय समाज में व्याप्त हो गई हैं जो परिवार, समाज एवं देश के पतन का कारण तो हैं ही, भारत को पुनः परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ने की भूमिका भी निभा रही हैं। देश के सम्भ्रान्त वर्ग को इस ओर शीघ्रता से ध्यान देना होगा अन्यथा भारतीयता की रीढ़ टूटते देर नहीं लगेगी और लकवायुक्त मनुष्य की भाँति भारत पुनः दाने-दाने का मोहताज होकर दूसरे देशों की ओर दयनीय मुद्रा से ताकता हुआ नजर आएगा।

भगवान ऋषभदेव के वंशज एवं भारतीय होने के नाते हमें यह अटल विश्वास रखना चाहिए कि पेड़ से उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु शाकाहारी और पेट से उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुएं मांसाहारी होती हैं। शाकाहारी वस्तु में खून, पीव, मांस, हड्डी आदि का सम्मिश्रण नहीं होता है तथा मांसाहारी वस्तुएं अण्डा, मछली सभी खून, मांस वगैरह का पिण्ड होने से अखाद्य ही कहलाती हैं। इन्हें शाकाहारी कभी भी नहीं कहना चाहिए और न ही ऐसे उत्पत्ति स्थलों को कृषि संज्ञा प्रदान करनी चाहिए।

आधुनिक युग में इन उपर्युक्त हिंसक केन्द्रों एवं राज्य सरकारों के द्वारा जो प्रोत्साहन प्रदान किया जा रहा है तथा विभिन्न बैंकों के द्वारा इन व्यापार केन्द्रों को कृषि के नाम पर ऋण दिये जा रहे हैं वह तीव्र पापबन्ध के कार्य हैं। इन

क्रियाकलापों से भारत देश की गरीबी कभी भी मिट नहीं सकती है प्रत्युत उसकी आर्य संस्कृति का विनाश होकर क्रूर म्लेच्छ संस्कृति का विकास होगा।

वास्तव में हम सबके लिए यह अत्यन्त विचारणीय विषय है कि जिस देश में हमेशा आध्यात्मिकता और अहिंसा धर्म का विदेशों में निर्यात होता था, जिसके कारण हमने आजादी प्राप्त की थी उस देश से आज मांस का निर्यात करना अथवा अण्डों को शाकाहार कहकर जनता को स्वतंत्र रूप से मांसाहार की प्रेरणा देना क्या अपनी संस्कृति पर कुठाराघात नहीं है ? धरती माता आखिर इन पशु अत्याचारों को कितना सहन कर सकती है ? उस माँ की ममता पर मानव और पशु सभी का समान अधिकार है। यहाँ जब मनुष्य अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके पशुओं पर अत्याचार करने लगा, उनकी गर्दनों पर छुरी चलाने लगा तो धरती माँ काँप उठी और उसने भूकम्प, प्रलय आदि अनेक प्राकृतिक प्रकोपों के द्वारा मनुष्य को दण्ड देने का निर्णय ले लिया अर्थात् इन हिंसात्मक कृत्यों के कारण ही आज जगह-जगह भूकम्प, बाढ़, गैसकाण्ड, रेल दुर्घटना, बादल फटना आदि अनेक दुर्घटनाएँ घटित हो रही हैं जिससे मानव विनाश के कगार पर पहुँच गया है।

देश से बाहर मांस का निर्यात करना आर्य संस्कृति के साथ बहुत बड़ा विश्वासघात और नैतिक अपराध है। जैसे कोई नारी अपनी अस्मिता को बेचकर यदि पैसा कमाने का धन्धा करती है तो उसे सभी दुराचारिणी एवं वेश्या के नाम से बुरी नजरों से देखते हैं, उसी प्रकार भारत देश अपनी अस्मितारूप पशुधन को क्रूरतापूर्वक पश्चिमी देशों के हाथों बेचकर अन्य देशों की नजरों में हिंसक व क्रूर बन गया है।

1.7 शाकाहार क्यों ?–

शाकाहार प्राकृतिक भोजन है, मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी है।
शाकाहार में भोजन तन्तु अधिक पाये जाते हैं।
शाकाहार सस्ता एवं पौष्टिक होता है।
शाकाहार शक्ति से भरपूर होता है।
शाकाहार से चित्तवृत्तियाँ शान्त होती है एवं मन प्रसन्न रहता है।
शाकाहार से व्यवहार में शालीनता आती है, शरीर स्वस्थ-चुस्त रहता है।
शाकाहारी पद्धति विश्व में हिंसा दूर करने की दिशा में ठोस कदम है।
शाकाहार हमारे अनुकूल निर्दोष, निरापद, आरोग्यवर्धक और तृप्तिकर आहार है।
शाकाहार हमारे उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन के लिये नैतिक और धार्मिक दोनों रूपों में सही आहार है।
शाकाहार शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति एवं शारीरिक क्षमता में वृद्धि करता है।
शाकाहार पर मनुष्य पूरी एवं लम्बी उम्र सरलता से जी सकता है परन्तु मांसाहार पर नहीं।
शाकाहार सात्विक आहार है, वह मानवीय गुणों को विकसित करता है।
शाकाहार एवं अहिंसा एक दूसरे के पर्यायवाची हैं।
शाकाहार के अभाव में अहिंसक समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती।
शाकाहार विश्व की भोजन समस्या का सबसे किफायती समाधान है।

1.8 मांसाहार क्यों नहीं ?–

मांसाहार मानवता पर कलंक है।
मांसाहार रोगों का जन्मदाता है।

मांसाहार से हृदय रोग, मिर्गी, गुर्दे के रोग, पथरी, कैन्सर एवं ब्लडप्रेशर आदि ऐसे रोगों की सम्भावना रहती है, जिनकी कोई सर्वसुलभ एवं स्थायी चिकित्सा नहीं है।

मांसाहार नैतिक एवं आध्यात्मिक पतन का कारण है।

मांसाहार तामसी वृत्ति को जन्म देता है।

मांसाहार प्राकृतिक आहार नहीं है।

मांसाहार के प्रचलन से भूस्खलन, वनों की बरबादी, जल प्रदूषण जैसे दुष्परिणाम प्रगट हुए हैं।

मांसाहार से शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति कम हो जाती है।

मांसाहार से प्रकृति में पर्यावरण का संतुलन बिगड़ जाता है।

मांसाहार करना धर्मविरुद्ध है। इसका निषेध पृथ्वी के सभी धर्म प्रवर्तक एवं महापुरुषों ने किया है।

मांसाहार मनुष्य को क्रूर, बेरहम, हृदयहीन एवं हिंसक बनाता है। मांसाहार आर्थिक रूप से अधिक महंगा होता है। एक मांसाहारी के भोजन का खर्च 7 शाकाहारी व्यक्तियों के भोजन के खर्च के बराबर होता है।

मांसाहार से पाचन तंत्र पर काफी दबाव पड़ता है इसलिये पाचन शक्ति असन्तुलित एवं कमजोर हो जाती है।

मांसाहार से पाचन क्रिया मन्द, विखण्डित और दुर्गन्धयुक्त हो जाती है।

मांसाहार यदि मनुष्य का भोजन होता तो उसके दाँत और नाखून मांस खाने वाले, शेर आदि जानवरों की तरह नुकीले और तीखे होते परन्तु मनुष्य के नहीं हैं, वह प्रकृति से शाकाहारी है।

1.9 क्या कहते हैं धर्म ग्रंथ एवं धर्माचार्य—

जियो और जीने दो।

किसी प्राणी के साथ ऐसा व्यवहार न करो, जैसा तुम अपने लिये नहीं चाहते।–भगवान महावीर

किसी भी प्राणी का वध मत करो।–वेद धर्मोपदेश

जीव मारने की सलाह देने वाला, माँस को बेचने वाला, पकाने एवं खाने वाला ये सभी पापी हैं।

–मनुस्मृति (5–45)

जो कच्चा या पक्का मांस खाते हैं जो गर्भ का विनाश करते हैं, उनका सर्वनाश होगा।–अथर्ववेद (8–6–23)

जो लोग दूसरों के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहते हैं उनसे बढ़कर संसार में कोई निर्दयी नहीं है।

–महाभारत 116

जो रत्त लागे कापडा, जामा होइ पलीत। ते रत पीवे मानवा, तिन क्यूँ निर्मल चीत।।–गुरुग्रंथ साहब

अल्लाह खून और गोश्त पसन्द नहीं करता। अल्लाहताला को तुम्हारी कुर्बानियों (बलि) के गोश्त और लहू से कोई वास्ता नहीं है।–पवत्रि कुरान शरीफ

दुनिया के प्रत्येक प्राणी पर रहम करो क्योंकि खुदा ने तुम पर बड़ी मेहरबानी की है।–पवित्र ग्रंथ हदीस

तुम सदैव मेरे पास एक पवित्र आत्मा होंगे, बशर्ते कि तुम किसी का माँस नहीं खाओ।–होली बाइबिल

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल। जो बकरी को खात है, ताको कौन हवाल।।–महात्मा कबीरदास

मद्य मांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम्। ये कुर्वन्ति वृथा तेषां, तीर्थयात्रा जपस्तप:।।

जो मनुष्य मदिरापान करते हैं, माँस खाते हैं, रात्रि में भोजन करते हैं, जमीकन्द का भक्षण करते हैं, उनकी तीर्थयात्रा जप-तप सभी व्यर्थ जाते हैं। –महाभारत

परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई। –रामचरितमानस

1.10 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जैन आचार, आहार एवं जीवन शैली का संबंध किससे है ?

(क) व्रतों से ☐ (ख) सूखपूर्वक रहने से ☐ (ग) साधु सेवा से ☐

प्रश्न 2-भारतीय संस्कृति की प्रमुख पहचान क्या है ?

(क) पशु पालन ☐ (ख) माता-पिता की सेवा ☐ (ग) शास्त्र स्वाध्याय ☐

प्रश्न 3-गेहूँ के आटे में कितने प्रतिशत शक्ति की मात्रा है ?

(क) 87 प्रतिशत ☐ (ख) 86 प्रतिशत ☐ (ग) 91 प्रतिशत ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-भारत की जीवन शैली के दो प्रमुख प्रेरक तत्त्व कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 2-शाकाहार में मौजूद आवश्यक तत्त्व कौन-कौन से हैं, नाम बताते हुए किन्हीं चार के बारे में बताइए ?

प्रश्न 3-शाकाहार एवं मांसाहार की परिभाषा बताइए ?

प्रश्न 4-मनुस्मृति में मांसाहार त्याग के बारे में किस पर्व में क्या कहा गया है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-शाकाहार और मांसाहार में शाकाहार क्यों आवश्यक है और मांसाहार क्यों नहीं ? इस पर विस्तृत प्रकाश डालिए ?

पाठ 2—खानपान की शुद्धि परमावश्यक

2.1 जैन समाज में खान पान की शुद्धि पर विशेष ध्यान हमेशा से दिया जाता रहा है। खान पान की शुद्धि जैनत्व की पहचान रही है। हमारे आचार्यों ने श्रावकाचार ग्रंथों के माध्यम से हमें श्रावक बनाये रखने का भरपूर प्रयास किया है परन्तु अब मर्यादायें टूटती जा रही हैं। पाश्चात्य संस्कृति की देखादेखी ने जीवन का दृष्टिकोण ही बदल दिया है। विज्ञान के नए-नए चमत्कार जहाँ समृद्धि के सूचक हैं, ज्ञानार्जन में सहयोगी हैं, वहीं नई पीढ़ी को अपनी पावन परम्पराओं से दूर हटाने में भी सहायक हो रहे हैं। व्यसन और फैशन का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है। लगता है श्रावकाचार शब्द कहीं खो गया है। आधुनिक पीढ़ी में खान-पान का विवेक चिंतनीय स्थिति तक गिर गया है। खान-पान की अशुद्धता इस पीढ़ी को धर्म विमुख भी कर रही है और सदाचारी भी नहीं रहने दे रही क्योंकि खानपान के विवेक बिना श्रावक धर्म का पालन तो दूर, सदाचारी नागरिक होना भी कठिन है। उक्ति प्रसिद्ध है—

यादृशं भक्ष्येदन्नं, तादृशी जायते मतिः।
दीपोऽपि भक्षयते ध्वांतं, कज्जलं च प्रसूयते।।

जैसा खान-पान होता है उसी के अनुसार व्यक्ति की मति हो जाती है, दीपक अंधकार का भक्षण करता है अतः काजल उत्पन्न करता है। हमारे धर्मगुरु खान-पान की इस गिरावट से खिन्न हैं, समाज का नेतृत्व भी चिंतित है, सोच रहा है कि किस प्रकार युवाशक्ति को धर्म और समाज के कार्यों के लिए प्रोत्साहित करते हुए उनमें श्रावकाचार-सदाचार को प्रतिष्ठित किया जाये किन्तु यदि जनक ही दिग्भ्रमित होकर खान-पान की शुद्धि को शिथिल कर रहा हो तो फिर नई पीढ़ी में संस्कार कहाँ से आयेंगे। अर्थतंत्र के इस युग में शिक्षा का उद्देश्य भी मात्र अर्थप्राप्ति रह गया है। अर्थ प्राप्ति की होड़ में लोग यह देखने की आवश्यकता ही नहीं समझते कि अर्थ-अनर्थ भी कर रहा है। बचपन में पड़े संस्कार आसानी से बदलते नहीं हैं। यदि वे संस्कार अच्छे हुए तो भविष्य अच्छा होगा और यदि हमारी लापरवाही से बच्चों में बुरे संस्कार पड़ गये तो भविष्य भी अंधकारमय ही होगा अतः हमें पहले अपने और परिवार के खान-पान की ओर ध्यान देना होगा।

इस स्थिति में श्रावकाचार का पालन संजीवनी का कार्य कर सकता है। वर्तमान में श्रावकाचार के ग्रंथों का पठन-पाठन कम ही देखा जाता है। या तो अपने को शुद्ध-बुद्ध सिद्ध करने के लिए समयसार, प्रवचनसार जैसे महान ग्रंथों का स्वाध्याय होता है या साधुओं में दोष देखने के लिए श्रमणाचार बताने वाले ग्रंथ पढ़े जाते हैं। विचार करें फिर अपना कल्याण कैसे होगा ? उपरोक्त ग्रंथों का हार्द भी यदि हृदयंगम किया जाये तो वह भी श्रावकाचार का पाठ पढ़ायेगा। यदि हम श्रावक धर्म का यथाविधि पालन करना-कराना चाहते हैं तो मेरी दृष्टि में हमें तीन बातें परिवार में अपनाना आवश्यक है।(1) सत्संग (साधु संगति), (2) सत्साहित्य (स्वाध्याय) और (3) सत्संगति (गुणी और सदाचारी लोगों की संगति)। यह कार्य सभी उम्र के लोगों के लिए लाभदायक होगा, यदि हम यह कर सकें तो हम सच्चे श्रावक बन सकेंगे और नई पीढ़ी को भी श्रावकाचार का पाठ पढ़ा सकेंगे। श्रावकाचार का स्वतंत्र रूप से वर्णन करने वाले प्रथम ग्रंथ 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने मद्य, मांस, मधु के त्याग के साथ अहिंसादि पाँच अणुव्रतों के पालन को श्रावक के आठ मूलगुणों के रूप में बताकर हमें श्रावकधर्म का उपदेश दिया है। यथा—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रत पंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमः।।66।।

उक्त श्लोक से यह ध्वनित होता है कि आचार्य महाराज गृहस्थों के लिए खानपान की शुद्धि पर विशेष जोर देना चाहते हैं। अभक्ष्य आहार से धार्मिक प्रवृत्ति और शारीरिक शक्ति शिथिल होकर चित्त की प्रवृत्ति अनुचित विषयों में

लग जाती है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये जो पाँच पाप हैं ये अशुभ कर्मबंध के कारण होने से हमारे आगामी भवों को भी बिगाड़ते हैं और वर्तमान में भी व्यक्ति को परिवार, समाज और कानून की दृष्टि में हेय बनाकर दुखी और अपमानित करते हैं। रात्रिभोजन का त्याग न होना भी नई पीढ़ी में खान-पान की अशुद्धि का कारण बन रहा है। आचार्य श्री सकलकीर्ति महाराज ने अपने ग्रंथ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में रात्रिभोजन त्याग आवश्यक मानते हुए एक श्लोक दिया है—

इत्येवं दोष संयुक्तं त्याज्यं सम्भोजनं निशि।
विषान्नमिव निःशेषं पापभीतैर्नरैः सदा।।22-81।।

अर्थात् पापों से डरने वाले मनुष्यों को अनेक दोषों से भरे हुए रात्रिभोजन को विष मिले हुए अन्न के समान सदा के लिए अवश्य त्याग कर देना चाहिए। रात्रिभोजन त्याग की बात विज्ञान की कसौटी पर भी खरी उतरती है। चिकित्सा विज्ञान मानता है कि रात्रि विश्राम से चार घंटे पूर्व भोजन बंद कर देना चाहिए क्योंकि नींद आ जाने के बाद पाचन क्रिया बंद हो जाती है। उसकी मान्यता यह भी है कि भोजन के कुछ तत्व मस्तिष्क को उत्तेजित कर देते हैं जिससे नींद नहीं आती। यह उत्तेजना मादक पदार्थों के सेवन या गरिष्ठ भोजन से विशेष रूप से आती है। एक वैज्ञानिक तथ्य यह भी है कि दिन में वायुमंडल अधिक आक्सीजनयुक्त होने के कारण स्वास्थ्य के लिए अनुकूल होता है। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि सूर्य की रोशनी में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति कम होती है तथा सूर्यास्त के बाद बढ़ जाती है। रात्रि में उत्पन्न होने वाले विषाक्त कीड़े आदि भोजन में पड़ जायें, तो फूड पायजिनिंग की घटनों भी हो जाती हैं। जैन श्रावकाचार ग्रंथों के अतिरिक्त वैदिक शास्त्रों में भी रात्रि भोजन का निषेध किया गया है।

इस प्रसंग में महाभारत का यह श्लोक भी महत्वपूर्ण है—

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्द भक्षणम्।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां, तीर्थयात्राजपस्तपः।।

अर्थात् जो मद्यपान करते हैं, मांस खाते हैं, रात्रि भोजन करते हैं, कन्दमूल भक्षण करते हैं, उनकी तीर्थयात्रा और जप तप सब व्यर्थ हो जाते हैं। श्रावकाचार के अनुसार कन्दमूल खाना भी हम श्रावकों के लिए वर्जित है। इस पर बहुत ऊहापोह होता है, अनेक प्रकार के कुतर्कों का सहारा लेकर कन्दमूल खाना उचित ठहराने का प्रयत्न किया जाता है परन्तु सत्य तो सत्य ही रहेगा। जैनाचार्यों का मानना है कि कन्दमूल अनन्त जीवों का पिण्ड है। देखें प्रश्नोत्तर श्रावकाचार का यह श्लोक-

तिलमात्रसमे कन्दे चानन्तजीवसंस्थितिः।
तस्य भक्षणतो भुक्ताः सर्वे जीवाः कुदृष्टिभिः।।98-17।।

अर्थात् तिल के समान थोड़े से कन्दमूल में भी अनन्त जीवों का निवास होता है। इस श्लोक में आचार्य सकलकीर्ति महाराज ने कन्दमूल की स्थिति भी बताई और यह भी घोषित कर दिया कि सम्यग्दृष्टि जीव कन्दमूल नहीं खाते। जैनाचार्यों ने पाँच प्रकार के अभक्ष्यों का वर्णन किया है। ये अभक्ष्य हमें धर्मविमुख भी करते हैं और हमारे शरीर में विकृति उत्पन्न करके हमें अस्वस्थ भी बनाते हैं। पंडित आशाधर जी ने गृहस्थ धर्म के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सागारधर्मामृत' में इन अभक्ष्यों का वर्णन इस प्रकार किया है—

पलमधुमद्यवदखिल त्रसबहुघात प्रमादविषयोऽर्थः।
त्याज्योऽन्यथाऽप्यनिष्टोऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धि फलमिष्टम्।।

अर्थात् मद्य, मांस, मधु के समान ही त्रसघातविषयक, बहुघातविषयक, प्रमादविषयक, अनिष्टकारक और अनुपसेव्य पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए। आचार्य श्री कुंथुसागर महाराज ने अपने श्रावकाचार ग्रंथ 'श्रावक धर्म

प्रदीप' में तो यहाँ तक लिख दिया कि—

मद्यमांसमधूनां हि सेवनं स्पर्शनं तथा।
अकार्यं दुःखदं निन्द्यं श्रावकैर्धर्मवत्सले।।

अर्थात् मांस आदि पदार्थों का सेवन तो बहुत दूर उसे स्पर्श करना भी निंद्य और पापकर्म होने से दुःखदायक है। और भी अनेक प्रकार से आचार्य भगवन्तों ने और पंडित आशाधरजी जैसे विद्वानों ने अपने ग्रंथों में श्रावकधर्म का वर्णन करते हुए खान-पान की शुद्धि के लिए हमें सचेत किया है। आवश्यकता है उनके उपदेशों को जीवन में उतारने की और आधुनिक पीढ़ी को उन उपदेशों का मर्म समझाने की। आधुनिक पीढ़ी हमसे अधिक समझदार है, वह यदि श्रावकाचार की उपयोगिता को समझ लेगी तो हमें चिंतित होने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

2.2 भक्ष्याभक्ष्य मर्यादा—

भोजन की शुद्धि एवं स्वास्थ्य के संरक्षण हेतु अभक्ष्य वस्तुओं के सेवन करने का त्याग भी गृहस्थ का प्रथम कर्त्तव्य है। मद्य, मांस, मधु एवं मर्यादा से बाहर की वस्तुओं को अभक्ष्य कहा गया है। जैसा कि पूर्व में मूलगुणों के प्रकरण में कहा गया है। मदिरापान करना स्वास्थ्य के लिये तो हानिकारक है ही, वह अपने जीवन को बर्बाद करने का भी एक प्रमुख कारण है। हजारों घर अपने घर के एक ही मद्यपायीजन के द्वारा बर्बाद होते रहते हैं। मद्यपायी का जीवन धर्म-कर्म और सभी सत्कार्यों के विनष्ट हो जाने से अनेक आपत्ति-विपत्तियों का घर बन जाता है। मदिरापान करने वालों की दुर्दशा से प्रायः सभी परिचित हैं।

मांसभक्षण तो और भी अनेक अनर्थों की जड़ है। मांस पंचेन्द्रिय जानवरों के शरीर का कलेवर है जो उनकी हत्या किये बिना प्राप्त नहीं होता। इसके सिवाय स्वयं मरे हुए जानवरों के मांस में भी निरन्तर असंख्य सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते और मरते रहते हैं, जिसके सेवन से अनेक रोग सहज ही उत्पन्न हो जाते हैं अतः मांसाहार जैनियों के चौके में कहीं भी और कभी भी निर्माण नहीं किया जाता और न कोई जैन मांसाहार करता ही है।

ग्रंथों में अभक्ष्य पांच प्रकार के वर्णित हैं—

1. जिसके सेवन से दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की हिंसा हो, जैसे—मांसाहार।

2. जिस एक वस्तु के सेवन से अनंत स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों का घात हो, जैसे—कंदमूल, आलू, गाजर, घुइयां, जमीकंद, अदरक आदि।

3. वे पदार्थ जिनका भक्ष्य होकर भी मर्यादा से बाहर हो जाने से स्वाद बिगड़ गया हो, जिनसे सड़ांध पैदा हो गई हो, इन्हें चलित रस भी कहते हैं। जैसे—सड़े-गले फल, बदबूदार घी, तेल, दही, दूध आदि। इनमें सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाने से अभक्ष्य हैं।

4. वे पदार्थ जो भक्ष्य और निर्दोष तो हैं किन्तु व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिये हानिकर हैं। जैसे—खांसी के बीमार को खटाई आदि।

5. वे पदार्थ जो सेवन करने योग्य नहीं हैं, जैसे—जानवरों का मल-मूत्र अथवा स्वयं के मूत्र का पान करना आदि।

इसके सिवाय निम्न 22 प्रकार के अभक्ष्यों का वर्णन भी शास्त्रों में मिलता है।

ओला, घोर, बड़ा, निशिभोजन, बहुबीजा बैगन संधान।
बड़, पीपल, ऊमर, कठऊमर, पाकर फल जो होय अजान।।
कंदमूल, माटी, विष, आमिष, मधु माखन अरु मदिरापान।

फल अति तुच्छ, तुषार चलित रस, ये बावीस अभक्ष्य बखान।।

जिन खाद्य पदार्थों के निर्दोष होने से सेवन की जो मर्यादा बताई गई है वह इस प्रकार है। ये मर्यादों विज्ञानसम्मत हैं। मर्यादा के पश्चात् सूक्ष्म जीव भोज्य पदार्थों में उत्पन्न हो जाते हैं अतः निषेध किया गया है।

1. आटा, बेसन, पिसा हुआ अनाज—शीत ऋतु में 7 दिन, ग्रीष्म ऋतु में 5 दिन, वर्षा ऋतु में 3 दिन।
2. पानी छना हुआ 1 मुहूर्त (दो घड़ी) अर्थात् 48 मिनट।
3. लवंगादि द्रव्यों से प्रासुक (दो पहर—छः घंटे)
4. गरम पानी की 8 पहर (24 घंटे) की मर्यादा है।
5. दूध दुहकर दो घड़ी में उबाल लेने पर उसकी मर्यादा 24 घंटे की है। मर्यादा के बाहर या दूध के न उबालने पर दूध में सम्मूर्छन जीव पैदा हो जाते हैं अतः वह दूध अभक्ष्य-अशुद्ध माना जाता है।
6. दूध गर्म कर जमाया हुआ दही भी 8 पहर तक भक्ष्य है।
7. दही बिलोते समय गर्म पानी डालकर बनाई गई छाछ भी उसी दिन भक्ष्य है। यदि ठंडा पानी डाला गया तो केवल एक मुहूर्त ही भक्ष्य है।
8. शकर के बूरे की मर्यादा शीत ऋतु में एक मास, गर्मी में 15 दिन और बरसात में 7 दिन की है।
9. घी, गुड़, तेल आदि की मर्यादा इसके स्वाद न बिगड़ने तक है।
10. खिचड़ी, कढ़ी, दाल की मर्यादा दो पहर (छः घंटे) की है तथा पुआ, रोटी, पराठा आदि की मर्यादा 4 पहर है। पूड़ी, पपड़िया, खाजा, घेवर, लाडू की मर्यादा 8 पहर है।
11. मगद के लड्डू की मर्यादा आटे के बराबर 7-5-3 दिन है।
12. पिसी हल्दी, मसाला, धनिया आदि की मर्यादा भी आटे के बराबर है।
13. बूरा, मिश्री, खारक, किसमिस आदि मीठे पदार्थों से मिश्रित दही या रायते की मर्यादा दो घड़ी है।

2.3 जैन रसोई पद्धति की वैज्ञानिकता–

जैन रसोई के मुख्य किरदार हैं—श्रावक एवं श्राविका। जिनका मुख्य दायित्व अपने परिवार के अलावा श्रमण अर्थात् साधुओं व त्यागियों के लिये उचित आहार उपलब्ध कराना है। जैनाचार में आहार पर गहराई से विचार हुआ। श्रावक के लिये व साधुओं के लिये कौन सा आहार उपयुक्त है इसकी विवेचना प्रत्येक ग्रंथ में हुई है। जैन चिंतन में भोजनशाला को एक प्रयोगशाला के रूप में वर्णित किया है, जिसके उपकरण व कर्मी सभी नियमों से बंधे हैं, जिनका लक्ष्य ऐसे भोजन का निर्माण करना है जो स्वास्थ्यवर्धक हो, शुद्ध हो, शाकाहारी हो व मन व मस्तिष्क को चैतन्य रखने में सक्षम हो।

वर्तमान युग में अनेक खाद्य सामग्री बाजार में उपलब्ध है। नये स्वादों ने चटोरों की भीड़ खड़ी कर दी है। अभक्ष्य वस्तुओं की एक लंबी लिस्ट हमारे सामने है। प्रत्येक रसोईघर बाजारवाद का प्रतिनिधित्व करने वाले होटल बन गये हैं। फलतः परिवारों में बढ़ रहा है—बीमार एवं अर्द्धजीवी समूह का प्रतिशत। मेडिकल साइंस ने फास्ट फूड, प्रिजर्वफूड, रात्रिभोजन, मांसाहार आदि के दुष्परिणामों को स्वीकार किया है। कई बीमारियों का कारण खाद्य आदतें हैं, शोध व अनुसंधानों ने इसे सत्य साबित किया है जबकि हमारे श्रमण चिंतकों ने जीवन की प्रयोगशाला में पहले ही समझ लिया था इसलिये जैनागम में रसोई के लिये चार प्रमुख शर्तें निर्धारित हैं–

1. **द्रव्य शुद्धि**—खाना तैयार करने वाली सामग्री की शुद्धि, अन्न की शुद्धि, जल की शुद्धि, वनस्पति की शुद्धि ।
2. **क्षेत्र शुद्धि**—खाना बनाने के स्थान का शुद्धिकरण ।

3. काल शुद्धि— भोजन बनाने वाली सामग्री की समय मर्यादा एवं रात्रि में भोजन तैयार न करना काल शुद्धि कहलाता है।

4. मन शुद्धि— प्रसन्नतापूर्वक भोजन तैयार करना व खिलाना, ये चारों प्रकार की शुद्धियां बनाने का उद्देश्य है— शुद्धता, प्रासुकता, संतुलन व निरामिष भोजन।

आज समय की कसौटी पर यह सिद्ध हो गया है कि रात्रि में भोजन न देने वाली माँ बड़ी भारी वैज्ञानिक होती है। छना पानी पीने वाला जैन समाज एक्वागार्ड के सिद्धांत से 5000 वर्ष पूर्व भी परिचित था। जैन रसोई के भेद विज्ञान को समझने के लिये हम प्रवेश करते हैं हमारे चौके में, जिसकी डायरेक्टर है जैन विदुषी गृहणी। हमारी दैनिक क्रिया आरम्भ होती है पानी छानने की क्रिया से। । बासी पानी को एक मटके से दूसरे मटके में छानना, उसके बाद गलने को एक पात्र में धोना तथा जीवाणी को उचित स्थान पर पहुँचाना कितना सूक्ष्म विवेक है यह अहिंसा का, जो शायद ही अन्य समाज में होता होगा। पानी छानकर पीना न केवल वैज्ञानिक दृष्टि से अपितु स्वास्थ्य की दृष्टि के अनुरूप है। वाशिंगटन के वर्ल्ड वाच संस्थान ने साफ पानी को लंबी उम्र का कारण माना है। डॉ. जगदीशचन्द्र वसु ने एक बूंद जल में 36450 बैक्टीरिया को साबित किया है अतः पानी छानना जो कि जैन जीवनाचार का एक अंग है वही वैज्ञानिक भी है।

जैन चौके की लगाम सूरज के हाथ में है। सूरज की पहली किरण जैन किचन पर दस्तक देती है। अंतिम किरण उसकी चटखनी लगा देती है। आज वैज्ञानिक व हमारा आयुर्वेद भी स्वीकार करता है कि रात्रि भोजन अहितकर है। सूरज की रोशनी में अनेक जीवाणु निकल नहीं पाते किन्तु रात में वे सक्रिय हो जाते हैं जो भोजन के साथ शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। वैज्ञानिक तर्क है कि जीवाणुओं की ऐसी प्रकृति है कि एक निश्चित तापमान पर तेजी से बढ़ते हैं इसलिये किसी खाद्य सामग्री का कब तक उपयोग करना यह मर्यादित करना नितांत आवश्यक है। जैनागम में उदम्बर फल व जमीकंद को खाने योग्य नहीं माना गया है। आलू, प्याज में अधिक रुचि रखने वाली हमारी युवा पीढ़ी को यह जानकारी होनी चाहिए कि यदि हम जड़, तना तथा किसी कंद को भोज्य पदार्थ के रूप में लेते हैं तो उस जाति के सम्पूर्ण पौधे का नाश होता है। यही नहीं, सूर्य के प्रकाश के अभाव में प्रचुर मात्रा में सूक्ष्म जीव उत्पत्ति इस भूमिगत वनस्पति में हो जाती है, इसका सेवन सूक्ष्म जीवों का घात है।

जैन चौके में जीवाणुओं की उत्पत्ति, नियंत्रण के उपाय विज्ञानसम्मत हैं। वर्तमान में जहाँ हम कीटनाशी दवाइयों का धड़ल्ले से प्रयोग कर रहे हैं जो कि स्वास्थ्य व पर्यावरण दोनों के लिए हानिकारक है। हमारे बुजुर्ग खाद्य पदार्थ के संरक्षण के लिये जिन चीजों का इस्तेमाल करते थे यथा—अनाज की सुरक्षा के लिए नीम की पत्ती, अरंडी का तेल, गुजरे जमानों की बात हो गई है जहाँ इन करिश्माई उत्पादों को हम भूलते जा रहे हैं वहाँ पाश्चात्य देशों में इनका भरपूर उपयोग प्रारंभ हो गया है। जैन भोजन पद्धति जीवन को तामसिकता से दूर रखकर, शारीरिक व मानसिक रूप से संतुलित रखकर निर्बाधगति से जीवन को अपनी चरमावस्था तक पहुँचाता है। हमारे रसोईघर की वैज्ञानिकता तभी कारगर रह सकती है जब भोजन ग्रहण करने वाले सभी सदस्यों की अवस्था इस पद्धति पर हो। सारे परिवार की सोच इसके साथ जुड़े तभी अपेक्षित सफलता मिलेगी। सुखद स्वस्थ जीवन शैली के लिये जैन भोजन विज्ञान आवश्यक है।

सर्वप्रथम आप दाल, चावल, गेहूं आदि को शोधने के कार्य में चतुराई बर्तें। गेहूं के जिन दानों में छोटे–छोटे छेद दिखा करते हैं उन्हें नाखून से कुरेद कर देखें, अंदर से छोटा सा जीव जिसे घुन कहते हैं वह निकलता है। यदि साफ किये हुए गेहूं में कुछ घुने गेहूँ रह जाते हैं तो दो–तीन दिन बाद उस गेहूं को छलनी से छानकर देखें तो कितने ही घुन निकलेंगे तथा बहुत सारे गेहूं या किसी भी घुने अन्न को काम में नहीं लेना चाहिये। चना, मटर, लोबिया,

राजमा आदि किसी भी अन्न को रात्रि में पानी में भिगो दीजिए सुबह साफ करते समय आप पायेंगी कि सजीव चना या मटर के ऊपर एक काला गोल निशान मिलेगा, उसके छिलके को उतारने पर जीव बाहर निकल आता है। बरसात में इन चीजों में जीव अधिक पाये जाते हैं। बाजार में बनी हुई चीजो को खाने से इसलिये अनेकों प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाया करती हैं क्योंकि वहाँ बिना देखे, शोधे चीजों को पकाकर कमाई का साधन बनाया जाता है अत: घर का बना हुआ शुद्ध, सात्त्विक और सन्तुलित भोजन ही स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद है। यह तो सूखे अन्न से सम्बन्धित शुद्धि है, इसके साथ ही आप सब्जियां बनाती हैं उसमें भी शोधन क्रिया की अत्यन्त आवश्यकता है। जैसे कि सर्दी के सीजन की फलियां आती हैं उनको छीलते समय कभी आप ध्यान से देखें, किन्हीं-2 मटर के दानों पर बहुत सूक्ष्म छोटे-छोटे मटर के रंग के ही हरे जीव चिपके नजर आयेंगे, कभी-कभी वे चलने भी लगते हैं। मटर की फली में जो मोटी लटे होती हैं वे तो आसानी से दिख जाती हैं और उन्हें हम निकाल देते हैं किन्तु ये सूक्ष्म जीव शायद ही कोई दृष्टिपात करता हो। जब आप प्रत्यक्ष में ये जीव देख लेंगे तो उसके बाद किसी दूसरे के द्वारा शोधित वस्तु के प्रति आपकी ग्लानि बनी रहेगी और जब तक आप स्वयं अपनी दृष्टि से उसका शोधन नहीं करेंगे उसे खाने की इच्छा नहीं हो सकती। पत्तियों के साग में बथुआ, पालक, मेथी, सरसों सभी कुछ प्रयोग में आता होगा। खासतौर से इनकी शोधन क्रिया और भी सूक्ष्म है। जैसे बथुआ को ले लें इसमें पत्तियों से मिश्रित सफेद छोटे-छोटे फूल भी होते हैं। उन फूलों में अनन्तकायिक जीव जैनागम में बताये गये हैं। बथुआ की चार पत्तियों के आस-पास 4-5 फूल तो अवश्य मिलते हैं, लेकिन आज तक किसी को भी फूल तोड़कर बथुआ संवारते नहीं देखा गया है। हाँ यह अवश्य है कि इन कार्यों में समय काफी नष्ट होता है किन्तु दोषास्पद अभक्ष्य वस्तुओं से तो अच्छा है कि उसके स्थान पर किसी दूसरी सब्जी का चयन किया जाए कि जिसे सरलता से अचित्त किया जा सके। अनन्तकायिक जीवों का ही पिण्ड गोभी को बतलाया है जिसे आज भी जैन समाज के बहुत से व्यक्ति अभक्ष्य मानकर नहीं खाते हैं। गोभी के फूल को सूरज की रोशनी में जमीन पर एक बारीक सफेद कपड़ा बिछाकर उस पर रख दीजिए। थोड़ी देर में साक्षात् त्रस जीव उस कपड़े पर चलते नजर आयेंगे। सूखे मसाले तैयार करते समय भी विशेष चतुराई की आवश्यकता है। जैसे कि सौंफ, धनिया में बारीक छेद या काला निशान देखने में आता है जिन्हें टुकड़े करने पर जीव या अण्डा बाहर निकलता है। लाल मिर्ची के टुकड़े करके देखिये, कई मिर्चियों में फफूंदी आदि मिलेंगे जिनमें बारीक जीव भी पाये जाते हैं। इन्हें सूक्ष्मता से साफ किये बिना प्रयोग में नहीं लेना चाहिये। अब हमारी महिलाएँ स्वयं ही सोच सकती हैं कि हमें कितनी चतुराईपूर्वक गृहस्थ कार्यों का संचालन करना चाहिये। घर के पुरुषवर्गों के, बड़े बुजुर्गों के स्वास्थ्य का उत्तरदायित्व महिलाओं पर ही आधारित है।

खानपान की शुद्धि प्रत्येक दृष्टि से आवश्यक है। धार्मिक दृष्टि से, वैज्ञानिक व स्वास्थ्य की दृष्टि से हमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की शुद्धिपूर्वक भोजन ग्रहण करना योग्य है। इन चार के नाम से ही 'चौका' शब्द परम्परा में प्रचलित चला आ रहा है। शुद्ध ज्ञात पदार्थ, काल मर्यादित पदार्थ, शुद्ध स्थान पर निर्मित भोजन, विशुद्ध भावनायुक्त निर्मित एवं प्रदत्त भोजन ही मन को शुद्ध रखने में कारण होता है। रात्रि भोजन त्याग एवं छने जल को भी मूलगुण तक में सम्मिलित किया गया है। मद्य-मांस-मधु तथा पाँच उदुम्बर का त्याग तो सर्वप्रथम ही श्रावक को कराया जाता है। यद्वा-तद्वा भोजन, बाजार का भोजन, अज्ञात भोजन त्याज्य है। वर्तमान में रेडीमेड फास्ट फूड आदि के नाम पर जो आकर्षण दिखाई देता है, वह चिन्तनीय है। साधुवर्ग की आहार व्यवस्था में मन-शुद्धि, वचन शुद्धि और कायशुद्धि की अनिवार्यता है, आहार-जल शुद्धि की भी अनिवार्यता है, इससे गृहस्थ एवं साधु दोनों का जीवन शुद्ध रहता है अत: भोजन शुद्धि का सदैव ध्यान रखना योग्य है क्योंकि अहिंसा परम धर्म है।

चौके पर एक वैज्ञानिक दृष्टि डालें। यह वो प्रयोगशाला है, जहाँ अन्नपूर्णा प्रतिदिन स्वाद और स्वास्थ्य के लिये नये परीक्षण करती है। जहाँ बनने वाली प्रत्येक वस्तु, कच्ची सामग्री और उठने वाली सुगन्धों का हमारे जीवन और दर्शन से सीधा सम्बन्ध होता है। बिना चौके के घर की कल्पना भी नहीं हो सकती। घर का आग्नेय कोण जहाँ से शांति का जन्म होता है, माँ जहाँ काम करती है और किसी जादूगर की तरह जो भी कच्ची सामग्री उपलब्ध हो, उससे ही भोजन बनाना और उसमें श्रेष्ठता का जादू जगाना तो कोई माँ से सीखे। हल्दी, सोंठ, काली मिर्च और तुलसी तथा और भी कितनी औषधियाँ, हर मर्ज का इलाज जैसे उनके चौके में मौजूद है। यह प्रात:स्मरणीय चिकित्सक हर घर में प्रतिदिन नि:शुल्क मातृत्व के पर्चे पर आपके तन के लिये ममता की चाशनी में पका हुआ भोजन जो औषधि भी है और पथ्य भी है, लिखती रहती है, बनाती रहती है। यह मात्र भोजन ही नहीं जो शरीर को पोषित कर रहा है, यह तो सात्विक भावों को निरन्तर आपके मन में जड़ें जमाने के लिये उत्प्रेरित करने वाला शाकाहार भी है, और यह माँ ही तो है, जो तपती रहती है। बस, इसीलिये कि जिन्दगी की तपिश सहन करने के काबिल आप बने रहें।

2.4 चौके के शृँगार-

कहीं-कहीं जैन चौके के सोलह शृंगार माने गये हैं—जिसे आज हम 'किचन' कहते हैं, मध्यकाल में उसे 'रसोईघर', 'रसोई' या 'रसोड़ा' कहते रहे हैं। यह शब्द आज भी प्रचलित है। अधिक लोकप्रिय शब्द है किचन, जो अंग्रेजी का शब्द है। रसोई संस्कृत के 'रस' शब्द में हिन्दी के 'ओई' प्रत्यय के मेल से बना है। जिसके मायने हैं पका हुआ भोजन, तैयार आहार। 'किचन'' लैटिन मूल का शब्द है। जिसका अर्थ है 'रसोई बनाना।' 'चौका' शब्द भी काफी प्रचलित है। यह एक ऐसा शब्द है जो हमारी सांस्कृतिक गरिमा और सांस्कृतिक श्रेष्ठता को व्यक्त करता है। चौका संस्कृत के ''चतुष्क'' प्राकृत के 'चउक्क' और हिन्दी के ''चौके'' का विकसित रूप है। जिसका अर्थ है वह स्थान, जहाँ रसोई तैयार की जाती है और कुटुम्ब के सदस्य, अतिथि आदि जहाँ बैठकर भोजन करते हैं, आज रसोई बनती है किन्तु भोजन डाइनिंग कक्ष में बैठकर किया जाता है। जब हम चार कोने वाले रसोई घर की बात करते हैं तो 'सोला' शब्द हमारे कदमों में लिपट जाता है। सोला शब्द का अर्थ सोलह भी है, यह संख्या बड़े महत्त्व की है, सोलह स्वर्ग हैं। चन्द्रमा की सोलह कलायें हैं। सोलहकारण भावनायें हैं, सोलह वर्ष का लड़का, मित्र और लड़की सयानी हो जाती है। स्त्री के सोलह शृंगार सर्वविदित हैं। चूँकि चौके या किचन का एक गृहिणी से सीधा सरोकार है। अत: क्या हम यह नहीं सोचें कि जिस तरह नारी के सोलह शृंगार हो सकते हैं वैसे ही एक किचन के सोलह शृंगार होते हैं। किचन में किसी तरह की किच-किच न होना किचन है। सन्तुलित स्वास्थ्य के लिए सन्तुलित आहार आवश्यक है, सन्तुलित आहार का मतलब ऐसे आहार से है जो तन के लिये हो, मन और आत्मा के उन्नयन के लिए भी लाभकारी हो, जो सिर्फ शरीर की शीर्णता को मन्द रखता हो वही आहार सन्तुलित नहीं, बल्कि वह आहार सन्तुलित है जो क्रोध, मान, माया, लोभ की गति को भी मन्द रखता हो। इस सन्तुलन का परिणाम यह होगा कि हमारा अन्तर बाह्य चरित्र विकसित होगा और हम अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे। खुराक सिर्फ खुराक कहाँ है ? वह कला, शिल्प, पुरातत्त्व, इतिहास, भूगोल, व्यापार, उद्योग, साहित्य, धर्मदर्शन, संस्कृति, कानून, भक्ति और उपासना सब है—प्रश्न मात्र रहस्य बोध है जिसने आहार के मर्म को सब कुछ समझ लिया, उसे नियन्त्रित कर लिया, उसने वस्तुत: वह सब कुछ पा लिया, जिसके लिये सदियों साधना करनी होती है।

दो शब्द हैं—'सोला और शोला', 'सोला' शब्द पवित्रता, मांगलिकता और उज्वलता का प्रतीक है। यह संस्कृत से व्युत्पन्न शब्द 'सोला अरबी' का शब्द है, जिसके मायने हैं–आग की लपट। आग का स्वभाव है, वह किसी वस्तु में दोष नहीं रहने देती। मराठी में 'सोंवला' शब्द आये हैं, जिसका अर्थ है–स्वाभाविक, निर्मल, अविकृत, स्वच्छ, पवित्र।

'सोंवले' उस रेशमी वस्त्र को भी कहा गया है जो किसी धार्मिक कृत्य के लिये सुरक्षित रखा गया हो। (अब रेशमी वस्त्र को अपवित्र माना जाता है क्योंकि रेशम उत्पादन में काफी हिंसा होती है) सोंवले का अर्थ धोया-सुखाया वस्त्र भी है। गुजराती में 'सोल' का अर्थ—'सोलह' और 'सोलु' का अर्थ—तेजोमय, स्वच्छ; साफ-सुथरा होता है। इसे संस्कृत में उज्ज्वल विशेषण से विकसित माना गया है। सोला करना महाराष्ट्र, दक्षिण भारत और बुंदेलखण्ड में बहुत प्रचलित है और इसका मतलब है बहुत साफ-सुथरे ढंग से किसी धार्मिक कृत्य को सम्पन्न करना। जैन चौके की लगाम सूरज के हाथ में है, वही उसके द्वारा खोलता और बन्द करता है किन्तु आज यह सच नहीं है। हमने सूरज से अपना सरोकार तोड़ लिया है, अब ना तो हम सूर्योदय देख पाते हैं और ना ही सूर्यास्त। कभी चौका ही हमारा चिकित्सक होता था किन्तु आज हमने चौके की बागडोर बड़े-बड़े होटलों, रेस्त्राँ और बड़ी दुकानों को सौंप दी है और स्वस्थ रखने का ठेका डॉक्टरों और दवा की दुकानों को दे दिया है।

जैन चौके का पहला श्रृंगार है—अहिंसा। जल से लेकर अन्न तक, रसोईघर के फर्श से लेकर उसकी छत तक, यह देखना कि उसका फर्श प्रासुक है, उसका आकाश प्रासुक है। पहली शर्त है कि छत को या तो नियमित साफ रखा जाये या फिर चन्दोवा बाँधा जाए। चन्दोवा यदि लगायें तो उसे सप्ताह में या फिर 15 दिन में एक बार धोएं जरूर।

अलमारियाँ साफ रखें। पात्र पोंछे, नेपकिन स्वच्छ रखें। जिन पात्रों में कच्ची सामग्री हो उन्हें सकरे हाथों से ना छुएं। खाने-पीने की वस्तुओं को शोधें, छानें, बीनें। तरल पदार्थों को छानने के लिये शुद्ध सूती वस्त्र काम में लें। स्वच्छता इतनी रखें कि चीटियाँ, तिलचट्टे, मकड़ियाँ, चूहे, छछूँदर और बिल्ली आपके चौके में परिक्रमा न करें। अप्रमत्त रहकर हम जैन किचन के इस शीर्ष श्रृंगार को अविचल रख सकते हैं। अहिंसा के अन्तर्गत रसोई बनाने वाले पर यह दायित्व अपने आप आ जाता है कि वह ना तो स्वयं की भावनाओं को दूषित रखे और ना ही चौके में भोजन के लिये पधारे परिजनों और अतिथियों के बारे में कोई दुर्भाव रखे।

दूसरा श्रृंगार है—प्रासुकता/निर्जन्तुकता, चौके की हर वस्तु को यहाँ तक कि मन को प्रासुक रखें। हर चीज इस तरह और इतनी अवधि तक रखें कि वह निर्जन्तुक और पौष्टिक बनी रहे। दु:खद है कि पश्चिम के जंक, कचरा और फास्ट (तुरता) फूड ने हमारे चौके की प्रभुसत्ता और वैयक्तिकता को लगभग ध्वस्त और खण्डित कर दिया है। जलगालन अर्थात् पानी छानना चौके का तृतीय श्रृंगार है जिसका विवरण पूर्व के पृष्ठों पर दिया जा चुका है। तेल, दूध जो भी तरल पदार्थ हों, उन्हें छानें, पानी छानकर पीने के अपने व्रत, अपनी मर्यादा को अवश्य निभों। चौथा श्रृंगार है शुद्धता अर्थात् बर्तन धोना, सब्जी सुधारना, निर्जन्तुक खाद्यों का इस्तेमाल करना शुद्धता के अन्तर्गत आ जाता है। जहाँ अहिंसा और प्रासुकता का पालन है, वहाँ करुणा की झिरियाँ (पाँचवां श्रृंगार) मन के भीतर खुद ब खुद फूट निकलती हैं। ध्यान रहे, करुणा की नहीं जाती, हो जाती है।

छठवें श्रृंगार का सम्बन्ध स्वाद और परिमाण से है, हम कैसा खा रहे हैं और कितना खा रहे हैं, चौका इस पर तब नजर रख सकता है, जब हम चौके के अलावा कहीं और ना खाते-पीते हों। यदि हमारा चौका मीलों तक फैला हुआ हो तो संयम का प्रश्न बहुत मुश्किल हो जाता है। हम एक तो अस्वाद को अपने जीवन में लायें और दूसरा पेट में जितना आ सकता हो उसका तीन चौथाई खायें। खाने के लिये न जीयें, जीने के लिये खायें, बेहतर जीने के लिये बेहतर खायें। सांतवें श्रृंगार के लिये हमने सादगी को चुना है। प्रासेस्ट/संसाधित खाने से बचें, कम मसाले खायें, तले हुए पदार्थ रोज न खायें, ऐसा खाना खायें जो प्राकृतिक रूप से और आसानी से बनाया जा सके और हमारा पाचन तन्त्र जिसे सरलता से पचा सके। वस्तुत: तामसिक पदार्थों से तन-मन की रक्षा ही सादगी है।

अब आठवें श्रृंगार में बात आती है स्वच्छता की। नहायें, धोयें, झाड़ें, बुहारे, माँजें।

एक दूसरी वस्तु को अनावश्यक रूप से एक-दूसरे में न मिलायें। समय की मर्यादा का पालन करें। रसोई के उपकरणों को निर्मल/स्वच्छ रखें/उनकी अप्रमत्त/सावधानीपूर्वक देखभाल करें।

निरामिषता को हम नवम् शृंगार कह सकते हैं। जैन चौके में मांस, मछली, अण्डे के प्रवेश का तो प्रश्न ही नहीं है। अहिंसा और प्रासुकता में निरामिषता अपने आप शामिल है। मधु, मांस, मद्य इन तीनों मकारों (मक्कारों) के लिये चौके के द्वार बन्द हैं। इनको कभी न खोलें, न खुलने दें। दसवाँ शृंगार है जमीकन्दों का त्याग, ये एकेन्द्रिय जीवों की कालोनियाँ हैं, इन्हें ना खायें। जो पदार्थ सूर्य की रोशनी में पनपते हैं, वे स्वास्थ्यकर और श्रेष्ठ होते हैं। अन्धेरे में रहकर प्रकाश को जन्म दे पाना जमीकन्दों के बस की बात नहीं है। जैन चौके का ग्यारहवाँ शृंगार—रात्रि में आहार न लें। जैन ग्रंथों में रात्रि में भोजन का निषेध है ही। महाभारत जैसे महान् ग्रंथ में भी लिखा है—मद्यमांसाशन रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम्। ये कुर्वन्ति वृथा तेषां, तीर्थयात्रा जपस्तपः।। (जो पुरुष मद्यपान करते हैं, माँस खाते हैं, रात में भोजन करते हैं, कंद भक्षण करते हैं। उनकी तीर्थयात्रा और जप-तप व्यर्थ हैं।) महर्षि मार्कण्डेय का कथन है—अस्तंगते दिवानाथे, आपो रुधिरमुच्यते। अन्न मांस समं प्रोक्तं मार्कण्डेय महर्षिणा।। (अर्थात् सूर्यास्त के बाद जल रुधिर हो जाता है, और अन्न मांस)। अब समय है सूरज से निवेदन करने का, कि वह पहले की तरह फिर से जैन चौके की चिटकनी ही नहीं, ताला भी बन्द करे।

बारहवाँ शृंगार—सड़ी-गली वस्तुओं के प्रवेश का कोई सवाल नहीं है। अचार तक वर्जित है । धर्म के अलावा यदि हम स्वास्थ्य और स्वच्छता के साधारण नियमों का भी ध्यान रखते हैं तो किचन में हम बाजारू जंक/फास्ट फूड के प्रवेश की अनुमति नहीं दे सकते जो पैकेजिंग के आकर्षण के कारण बाहर से खूबसूरत दिखते हैं किन्तु भीतर ही भीतर सड़ते रहते हैं । इसी तरह फ्रिज में रख देने से क्या वस्तु समय की मार से बच सकती है अतः वस्तुओं का इस्तेमाल करिए पर एडीटिव्ह /प्रिजर्वेटिव्ह्ज के चक्कर में अपने स्वास्थ्य को खतरे में नहीं डालिये। इस तरह ताजगी जैन चौके की अनिर्वायता है, वह उसका सर्वोत्तम आभूषण है। उक्त एक दर्जन शर्तों का पालन यदि हम करते हैं तो यह असम्भव ही है कि हम अस्वस्थ हों। अतिक्रमण या उल्लंघन की बात अलग है, उसके तो दुष्परिणाम निकलेंगे ही। स्वास्थ्य के बाद बारी आती है **सन्तुलन** की, हमें कितना चाहिये, हमें क्या चाहिये, हमें कब चाहिये, हमें कब चाहिये, हमें किसलिये चाहिए, इस आहार-विवेक का नाम सन्तुलन है। इसे निभाने पर स्वास्थ्य सम्बन्धी कोई गड़बड़ी पैदा हो, वह असम्भव है।

जब हम इन शृंगारों का जोड़ करते हैं तो जो जोड़ आता है, जो प्रकट होता है, उसका नाम है—चरित्र । यहाँ चरित्र का मतलब अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकार के आचरण से है।

किसी का रसोईघर कैसा है, इसे जानकर उस आदमी का स्वभाव, रहन-सहन आदि का पता लगा सकते हैं।

किसी व्यक्ति के आहार की तालिका को देखकर आप आसानी से उस आदमी के बारे में सुनिश्चित भविष्यवाणी कर सकते हैं।

भेद विज्ञान जैन आगम का तकनीकी शब्द है। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी जानना, शरीर को शरीर और आत्मा को आत्मा जानना और दोनों की अपनी-अपनी खुराकें अपने-अपने किचन से देना भेद विज्ञान का महत्त्वपूर्ण प्रभाग है। शरीर का किचन—रसोईघर और आत्मा का किचन—पुस्तकालय अथवा कोई धर्मस्थल। "सही जगह से सही खुराक उपलब्ध कराना जैन किचन का अन्तिम शृंगार है। सर्वविदित है कि आहार का विचार पर और विचार का आहार पर प्रभाव पड़ता है। यदि हम इस रहस्य को पूरी तलस्पर्शिता से जान सकें तो हमारी अनेक सामाजिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत समस्याएँ सुलझ जाती हैं।

2.5 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जैसा खान-पान होता है, उसी के अनुसार.....

(क) वायुमण्डल हो जाता है। ☐

(ख) मति हो जाती है। ☐

(ग) वाणी हो जाती है। ☐

प्रश्न 2-श्रावक धर्म का यथाविधि पालन करने हेतु जो तीन बातें परिवार में अपनाना आवश्यक है, उसमें से दूसरी बात कौन सी है ?

(क) सत्साहित्य (स्वाध्याय) ☐

(ख) सत्संग (साधुसंगति) ☐

(ग) सत्संगति (गुणी और सदाचारी लोगों की संगति) ☐

प्रश्न 3-आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में मद्य, मांस, मधु के साथ-साथ किनके पालन का उपदेश दिया है ?

(क) श्रावक के 12 व्रत ☐

(ख) अहिंसादि पाँच अणुव्रत ☐

(ग) रत्नत्रय ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-रात्रिभोजन त्याग के विषय में वैज्ञानिक तथ्य क्या है ?

प्रश्न 2-पाँच प्रकार के अभक्ष्य कौन-कौन से हैं ? वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 3-तीनों ही ऋतुओं में पिसे हुए अनाज की मर्यादा कितने दिन की है ?

प्रश्न 4-जैनागम में रसोई के लिए चार प्रमुख शर्तें कौन सी हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-जैन रसोई के जो सोलह शृँगार माने हैं, नामोल्लेख करते हुए उनका विस्तार सहित वर्णन कीजिए ?

पाठ 3 – मानव धर्म की विराट भूमिका

3.1 'योगशास्त्र' में योग के विविध अंगों का वर्णन है, जिन पर चलकर कोई भी साधक लघु से महान, क्षुद्र से विराट और जीवन की अनन्त दिव्यता का वरण कर सकता है। स्त्री या पुरुष, जैन या अजैन, मानव मात्र उसका आचरण कर सकता है। ऐसे सहज, सरल एवं व्यापक मानव धर्म का चिंतन-मनन कर जीवन में उतारना ही मानव धर्म है।

3.2 धर्म का अधिकारी कौन ?—

अधिकारी से अभिप्राय है पात्रता। किसी भी वस्तु को प्राप्त करने से पूर्व उसके योग्य बनना। वस्तु को धारण करने की योग्यता नहीं होने पर हठात् उसको धारण करने से वस्तु एवं व्यक्ति दोनों का अनिष्ट होता है। कच्चे घड़े में यदि अमृत भर दिया जाए तो घड़ा और अमृत दोनों नष्ट हो जाते हैं—'आमकुम्भा एव वारिगर्भा:।' सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ही ठहरता है। योग्य में योग्य का आधान ही श्रेष्ठ होता है—'योग्ये हि योग्य संगम:'।

जिस प्रकार कुशल चित्रकार गारे की दीवार पर चित्र नहीं बना सकता, उसके लिए उसे अच्छी, साफ और चिकनी दीवार चाहिए। इसी प्रकार किसान अच्छी से अच्छी किस्म के बीच को खेत में डालने से पूर्व भूमि को तैयार करता है। वस्तु को धारण करने के लिए तदनुकूल योग्यता आवश्यक है। इसी तरह से जैन सिद्धांत की अपेक्षा 'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ' धर्म शुद्ध हृदय में ठहरता है अर्थात् पवित्र हृदय ही धर्म का आधार है।

हृदय की पवित्रता—

जीवन में मलिनता, अशुद्धि एवं अपवित्रता होने से धर्म नहीं होता। मन की अपवित्रता धर्म की तेजस्विता को ढक देती है, जिससे धर्म प्रकट नहीं हो पाता। जीवनरूपी भूमि को धर्म के योग्य सद्गुण बनाते हैं। सद्गुणों के आचरण से मन और जीवन पवित्र एवं शुद्ध होता है, गुण जीवनभूमि को तैयार करते हैं। अणुव्रत और महाव्रतरूपी धर्म की पृष्ठभूमि सद्गुणों के आधार पर तैयार हो सकती है। कुशल किसान की तरह जीवन की भूमि को धर्म की खेती योग्य बनाने से धर्मरूपी बीज स्वत: ही पल्लवित व पुष्पित होने लगते हैं।

परिवर्तन की दशा—

चैतन्य सत्ता "आत्मा" है। अशुद्ध दशा में संसारी और शुद्ध अवस्था में परमात्मा है। आत्मा की विशुद्ध अवस्था निरपेक्ष है जिसका वर्णन तर्क, युक्तियों, शब्दादि द्वारा नहीं किया जा सकता है। श्वेताम्बर ग्रंथ आचारांग में कहा है—"तक्का जत्थ न विज्जई, मइं तत्थ न गाहिया।" अर्थात् तर्क उस दशा का वर्णन नहीं कर सकता, मति उसका अनुभव ग्रहण नहीं कर सकता। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" तर्क के द्वारा, बुद्धि की समझ में आने का विषय नहीं है।

परिवर्तन की अवस्थाएं—

प्रसुप्त, जागृत, उत्थित और समुत्थित।

प्रसुप्त—वह अवस्था जिसमें जीव गाढ़ मोह निद्रावश निरंतर संसार परिभ्रमण करता है। कर्मों का उपशम तथा क्षयोपशम हो सकता है परन्तु क्षय नहीं। आत्मा में निर्वाण की योग्यता होने पर भी प्रगाढ़ मोहनिद्रा से योग्यता विकसित नहीं होती है, यही "अभव्यदशा" है।

सुप्त—इस अवस्था में तन्द्रा, सुसुप्ति जैसी स्थिति रहती है। ज्ञान चक्षु नहीं खुल पाते, साथ ही सत्य का दर्शन नहीं होता। यह आत्मा की प्रथम गुणस्थान की स्थिति है। तत्त्व के प्रति जिज्ञासा से सत्य को समझने की भावना जागृत होती है लेकिन सम्यक् बोध और यथार्थ दृष्टि नहीं।

जागृत—ज्ञान के उदय से आत्मा स्व-स्वरूप के बोध से मिथ्यात्व, संशय एवं अज्ञान से परे होती है। यह चतुर्थ गुणस्थान की अवस्था है। आत्मा ग्रंथिभेद से अपूर्वकरण का अनुभव करता है। उपनिषद् में कहा है—

भिद्यते हृदय-ग्रन्थिरिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन से हृदय की समस्त ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती हैं और समस्त संशय क्षीण हो जाते हैं। यह अवस्था आनन्दमय है। आत्मज्ञान प्रकाश से सम्यक्त्व का अधिकारी स्व पुरुषार्थ व पराक्रम सूर्य को प्रकाशित करता है। कहा भी है—

''जागरह णरा णिच्चं।
जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धि।।

अर्थात् मनुष्य जागो। निद्रा का त्याग करो। जो जागता है उसकी बुद्धि भी जागती है। इस विषय में एक लोकोक्ति भी है—

''सोवे सो खोवे, जागे सो पावे।''

उत्थितथा—'उट्ठिए नो पमायए' जागने के पश्चात् कहते हैं उठो, प्रमाद न करो। दुर्लभ सम्यक्त्व को आत्मसात कर पुरुषार्थ सहित आगे अग्रसर होना आत्मा की उत्थित दशा है। यह पाँचवें गुणस्थान की स्थिति है। धर्माचरण पर बढ़ने वाला श्रावक धर्म/गृहस्थ धर्म है। श्रावक उत्थित आत्मा है।

समुत्थित—सम्यक् प्रकार से चलना समुत्थित है। जागृत आत्मा लक्ष्य करके मार्ग पर दृढ़ संकल्प से चलता है। यह छठे गुणस्थान की दशा है। इस दशा में साधक का विश्वास अत्यन्त दृढ़, स्पष्ट और स्थिर होता है।

सद्गुणों के विकास की अवस्था—

केवल ईंट, पत्थर व चूने के ढेर घर नहीं हैं। जिसमें गृहिणी, पुत्रादि परिवार सहित रहते हैं वही घर है। गृहस्थ होना एक स्थिति है, सद्गृहस्थ बनना एक गुण है। गृहस्थ जीवन में सद्गुणों के विकास से उदात्त भावना और उच्च संकल्प होते हैं। धर्म के आचरण से धर्म का अधिकारी (सच्चा श्रावक) बनता है। आत्मा का स्वभाव धर्म है। 'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है। जल का स्वभाव शीतलता, अग्नि का स्वभाव उष्णता, आत्मा का स्वभाव ज्ञानानंद है।

3.3 व्यवहार धर्म—

श्री अमितगति आचार्य ने कहा है—

''सत्वेषु मैत्रीं, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्य भावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।''

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावना ये चार धर्मरूप प्रासाद के स्तंभ हैं।

मैत्री—इस भावना में आत्मा संसार के सभी जीवों के प्रति मित्रता का संकल्प करता है। मैत्रीभाव अभय देता है। "मेत्ति मे सव्व भूएसु। मेत्तिं भूएसु कप्पए।" वेद एवं उपनिषद् में भी—"मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।" अर्थात् सब प्राणियों को मित्रता की दृष्टि से देखें। मैत्री भाव जगत् में मेरा सब जीवों से नित्य रहे।" प्राणिमात्र के साथ मित्रता के भाव से जीवन में आनंद, अभय और प्रसन्नता प्राप्त होती है।

प्रमोद—प्रसन्नता। अच्छाई, सद्गुणों को देखकर प्रसन्न होना, हृदय में आनन्द होना प्रमोद भावना है। जो व्यक्ति सद्गुणों की प्रशंसा करता है उसके जीवन में भी सद्गुण आते हैं और वह प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रहता है।

करुणा—करुणा अर्थात् दया, अनुकंपा। दया, करुणा, अहिंसा में हमारे प्रतिदिन की सभी गतिविधियाँ आ जाती हैं। हमारी किसी भी प्रवृत्ति से किसी प्राणी को कष्ट, पीड़ा न हो, व्यवहार में परिवार, समाज एवं राष्ट्रीय जीवन में हमारे द्वारा ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं हो जिससे शांति भंग होती हो।

''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।''

जो आपके मन के प्रतिकूल आचरण है वैसा दूसरों के लिए न करें।

जं इच्छसि अप्पणत्तो जं च न इच्छसि अप्पणत्तो।
तं इच्छ परस्स वि एत्तियंग जिणसासणयं।

जिस आत्मा में करुणा की भावना जागृत होती है, उसमें शुभ भावनाएँ होती हैं।

माध्यस्थ—मध्यस्थ—दो किनारों के मध्य ठहरना। कोई व्यक्ति हमारे सामने धर्मगुरु या प्रिय व्यक्ति की निंदा करता है तो मध्यस्थ वृत्ति से मन में शांति होती है कि "यह अज्ञानी है, क्रोध आदि के वश में होकर निंदा कर रहा है, इससे इसकी आत्मा का पतन हो रहा है। यह व्यक्ति क्रोध का नहीं वरन् दया का पात्र है। इस प्रकार की मध्यस्थ वृत्ति से व्यावहारिक जीवन की सैकड़ों उलझनें सुलझ जायेंगी। जीवन में कलह, विवाद कम होंगे जिससे शांतिमय जीवन होगा।

आदर्श जीवन—मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भाव से मानव धर्म की पृष्ठभूमि तैयार होती है। साधक धर्म का बीज मन की भूमिका, सद्भावों, मैत्री आदि भावनाओं से धर्म के योग्य बनाने पर व्रत, नियम, त्याग आदि के बीज सरलता व शीघ्रता से अंकुरित होते हैं। मानव जीवन उत्तरदायित्वों का जीवन है। गृहस्थ जीवन का क्षेत्र व्यापक, उत्तरदायित्व असीम हैं। परिवार, समाज, धर्म एवं राष्ट्र आदि के दायित्वों का निर्वाह करने में मानव धर्म की कुशलता है। यह साधु जीवन का भी आधार है। व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र में अपने कर्तव्य निष्ठापूर्वक करके आदर्श जीवन यापन करता है।

सम्यक् आजीविका—आचार्य भद्रबाहु कहते हैं—

"सच्छासयप्पओगा अत्थो वीसंभओ कामो।"

अर्थात् स्वच्छ आशयप्रयुक्त अर्थ, मर्यादानुकूल काम धर्मविरोधी नहीं हैं। सद्गृहस्थ "न्यायसम्पन्न विभवः" न्याय-नीतिपूर्वक अर्थोपार्जन।

"न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोक हितायेति...."
न्यायोपात्तधनो यजन्! गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजेत्।

और भी कहा है—

"अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षो समूलं च विनश्यति।।"

बौद्धधर्म में आष्टांगिक मार्ग में पाँचवां मार्ग सम्यक् अर्थात् न्यायपूर्वक जीविका चलाना। नीति एवं न्यायपूर्वक व्यापार करके जीविका चलाने वाला श्रावक "धम्मा जीवी" है। "सम्यक्-प्रतिपत्तिः सम्पत्तिः" अर्थात् जो न्यायपूर्ण शुद्ध एवं सही तरीके से प्राप्त होती है, वह संपत्ति है।

3.4 गांधीजी का दृढ़संकल्प—

हमेशा सत्य बोलना। सत्य में साहस होता है, असत्य में कायरता। सत्य में स्पष्टता होती है असत्य में छिपाव। अन्याय छिपाव और कायरता का मार्ग है। असत्य से आत्मपतन होता है, जीवन का विकास रुक जाता है। साधक के मन में जब सत्य की अटूट निष्ठा होती है तो ईश्वर हृदय में विराजमान होता है। यही मानव धर्म का सार है। कहा है—

"ग्रंथ पंथ सब जगत् के बात बतावत तीन।
राम हृदय, मन में दया, तन सेवा में लीन।।"

इस प्रकार हृदय की पवित्रता, सद्गुणों के द्वारा आदर्श जीवन एवं सम्यक् आजीविका से मानव धर्म की पृष्ठभूमि तैयार होती है।

3.5 जीवन और समाज का आधार : अनेकांत-

दर्शन के किसी भी सिद्धान्त का महत्त्व सिर्फ इस बात तक सीमित नहीं रहता कि वह नि:श्रेयस की प्राप्ति के लिए कितना जरूरी है, और न ही सिर्फ इस बात तक सीमित रहता है कि उसने प्रकृति के रहस्यों की कितनी सटीक व्याख्या की है ? आज के इस दौर में दर्शन का महत्त्व इस बात से भी आँका जा रहा है कि दर्शन के अमुक सिद्धांत या अवधारणा की उपयोगिता जीवन व समाज में कितनी है ? यदि वह सिद्धांत या अवधारणा हमारे जीवन और समाज की रोजमर्रा की समस्याओं में समाधान बनकर सामने नहीं आती है तो उसका शास्त्रीय महत्त्व चाहे जितना हो, मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में उसकी कीमत नहीं रहती।

आज अनेकान्त दर्शन की धूम मच रही है। वह इसलिए क्योंकि उसने वस्तु तत्व को समझाने के साथ-साथ जीवन और समाज से जुड़ी तमाम समस्याओं के समाधान भी दिये हैं। भूमण्डलीकरण के इस दौर में यदि अनेकान्त सिद्धान्त को स्वीकार न करें तो जीवन संकट में पड़ सकता है। यह बात अपने आपमें सत्य है कि भगवान् महावीर ने आज से लगभग 2600 वर्ष पहले प्रकृति के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त की व्याख्या की किन्तु फिर भी इतने मात्र से अनेकान्त दर्शन को किसी धर्म, मजहब, संप्रदाय या दर्शन मात्र के सीमित दायरे में देखना बहुत बड़ी भूल होगी।

महापुरुषों का जीवन वास्तव में संपूर्ण मानव जाति एवं अन्य सभी जीवों के लिए होता है इसलिए यह सत्य होते हुये भी कि यह जैनधर्म की मौलिक देन माना जाता है, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि कम या अधिक रूप में इसके सूत्र सभी धर्मों तथा दर्शनों में प्राप्त होते हैं। दरअसल अनेकान्त एक अस्तित्व है, एक जीवन है। अनेकान्त से इंकार अस्तित्व से इंकार होगा। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र, जीवन घटनायें, प्रकृति के प्रत्येक संबन्ध अनेकान्तस्वरूप हैं। मेरी यह स्पष्ट मान्यता है कि हम चाहें तो भी एकान्तवादी नहीं हो सकते क्योंकि मेरी दृष्टि में एकान्त असत् का सूचक है।

फिर सहज ही मन में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनेकान्त का नियम न मानने वालों को, वस्तु की अनन्त धर्मता को अस्वीकृत करके उसके किसी एक धर्म को ही वस्तु का स्वभाव मानने वालों को (शास्त्रों में) एकान्तवादी क्यों कहा गया है ? इस प्रश्न के जवाब में भी मेरा मात्र इतना कहना है कि सच है कि उनकी मान्यता एकान्तवाद की है; इसी दृष्टि से वे एकान्तवादी कहे गये हैं किन्तु उनका भी जीवन व्यवहार एकान्तवादी नहीं हो सकता, अपने सामाजिक जीवन में यदि वे एक ही पक्ष को लेकर चलेंगे तो जी नहीं सकते। सामाजिक जीवन मे ऐसे लोग भी अनेकान्त की ही अनुपालना करते हैं अत: इस दृष्टि से वे अनेकान्तवादी ही कहे जायेंगे। मेरी स्पष्ट मान्यता है कि विचारों में एकान्त हो सकता है जीवन में नहीं।

3.5.1 अनेकान्त की परिभाषा—

जैन शास्त्रों में अनेकान्त की परिभाषा है—

एक ही वस्तु में वस्तुपने को बतलाने वाली परस्पर दो विरुद्ध शक्तियों का एक साथ प्रकाशित होना अनेकान्त है। तात्पर्य यह है कि बिना विरोध के अस्तित्व नहीं है और विरोध की स्वीकृति है अनेकान्त। अनेकान्त एक ऐसी पद्धति है जिसमें हमें सिर्फ शास्त्रों के ही नहीं वरन् जीवन के भी अर्थ समझ में आते हैं। दुनिया में चाहे कोई भी दार्शनिक रहा हो, चाहे कोई भी शास्त्र, उनमें कहीं न कहीं अनेकान्त की आभा विराजमान रही है क्योंकि वह व्यक्ति चाहे तो अन्तर्जगत् में रहने वाला दार्शनिक हो या बाह्य जगत् में रहने वाला भौतिक या पदार्थवादी; वास्तव में यदि वह मनुष्य है और संवेदनशील है तो 'अनेकान्त' उसके अनुभव का विषय जरूर बनता है। फिर भले ही वहाँ 'अनेकान्त' संज्ञा का प्रयोग न हुआ हो किन्तु एक ही स्थल पर अनन्त धर्मात्मकता और विरोध को प्राय: सभी ने स्वीकार किया है।

3.5.2 पाश्चात्य विचारक और अनेकान्त—

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डॉ. हैयनाक एलिस (1819-1939) ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'आई विलीव' में विरोध को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

"मैंने यह महसूस किया है कि अपनी प्रकृति के दोनों विरोधी तत्त्वों में जिस समन्वय को उपलब्ध करने में मैं सफल हुआ था वह वस्तुतः मेरे स्वभाव में गहरी जड़ जमाकर बैठी हुयी विशेषता के उपयोग के ही कारण था।"

इसी प्रकार पाश्चात्य दर्शन के कई दार्शनिक ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व इसी अनुभव से गुजरे। उन्होंने विरोध को स्वीकार किया। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक हेरेक्लाइटस (Heraclitus 600 B.C.) ने संघर्ष, विरोध, निषेध और अभाव को बहुत महत्व दिया। वे मानते थे कि विरोध और निषेध का अर्थ गति या परिवर्तन है अतः जीवन के लिए विरोध आवश्यक है। विरोध का अभाव मृत्यु है। विरोध या निषेध के बिना गति या परिवर्तन (विकास) संभव नहीं है। हेरेक्लाइटस विरोध के माध्यम से ही अस्तित्व की स्वीकृति मानते हैं। वे आगे यह भी कहते हैं कि विरोध का अर्थ आत्यन्तिक विरोध नहीं है। आत्यन्तिक विरोध असंभव है; यह हमारी कल्पना है, वस्तु सत्य नहीं। विरोध तो साधन मात्र है, साध्य है समन्वय।' (पाश्चात्य दर्शन, पृ.5-6)

जैनदर्शन भी एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों की स्वीकृति प्रदान करता है, यही 'अनेकान्तवाद' है। यहां एक बात और ध्यातव्य है कि यहां भी परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का सहावस्थान एक वस्तु माना है। नित्य-अनित्य धर्म वास्तव में विरोधी प्रतीत होते हैं, विरोधी हैं नहीं, यदि वास्तव में विरोधी होते तो क्या ये एक स्थान पर रहते ?

हेरेक्लाइटस प्रत्येक वस्तु को सापेक्ष मानते हैं। वे कहते हैं कि समुद्र का पानी मछली के लिए मीठा और हमारे लिए खारा है। 'हम हैं भी और नहीं भी हैं'। हम सत् भी हैं, असत् भी हैं और सदसदनिर्वचनीय भी हैं। जितने भी द्वन्द्व हैं, सब सापेक्ष हैं—एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। उदाहरणार्थ एक और अनेक, अच्छा और बुरा, गति और स्थिति, परिणाम और सत्ता, जीवन और मरण, सर्दी और गर्मी आदि। (पाश्चात्यदर्शन, पृ. 6-7)

यहाँ हम हेरेक्लाइटस के इस चिंतन की तुलना जैनदर्शन के अनेकान्त स्याद्वाद से कर सकते हैं। काफी कुछ चिंतन में साम्य दिखता है। यद्यपि हेरेक्लाइटस के सिद्धान्त कई स्थलों पर अपरिपक्व हैं किन्तु उनका चिंतन यह तो प्रमाणित करता ही है कि विरोध उनके अनुभव का एवं दर्शन का विषय बना था।

डॉ. एलिस जो कि जीवन और अस्तित्व के बारे में खोज करने वाले प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हैं, का स्पष्ट कहना है कि—

हमें यह सिखलाया जाता है कि विरोधी शक्तियों के आकर्षण-विकर्षण के और विरोधी दिशाओं में खींच-तान के कारण ही हमारे ग्रहों और उपग्रहों की यह समूची व्यवस्था समन्वयपूर्ण ढंग से कार्य करने में सफल होती है। यही संघर्ष वनस्पति जगत् में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। विरोध का अस्तित्व जीवन के लिए कोई बाधा नहीं है, यह तो जीवन के सुचारू संपादन के लिए एक आवश्यकता है।

यह तो अनुभव का विषय है कि हम चाहें तो भी जीवन में एकरूपता कायम नहीं कर सकते। स्थूल रूप से हम यदि ऐसा कर भी लेंगे तो सूक्ष्म दृष्टि से हम पायेंगे कि यह निर्मित एकरूपता और कुछ नहीं विभिन्न बहुलताओं का समुदाय मात्र है। विरोध और बहुलता से इंकार करने का मतलब है अस्तित्व का इंकार, जीवन का इंकार और अनेकान्त का इंकार।

3.5.3 ग्लोबल समाज और अनेकान्त दर्शन—

दर्शन पक्ष की तरफ से अनेकान्त पर बहुत विचार हुआ किन्तु यह युग की मांग है कि इस सिद्धान्त के सामाजिक पक्ष पर भी कुछ विचार हो। वैश्वीकरण के इस दौर में बहुरूपता और बहुलता और अधिक बढ़ी है। नये किस्म के समाज

की संरचना हो रही है। एक धर्म, जाति, भाषा और एक समाज के मुहल्ले, गाँव बसना अब बन्द हैं। यह एक किस्म की आर्थिक परतंत्रता है कि व्यक्ति चाहकर भी संयुक्त एकरूपता कायम नहीं कर सकता। मनुष्य की रोजी-रोटी, नौकरी, व्यवसाय इत्यादि जिधर जमे उसे वहीं रहना पड़ता है। भिन्न भाषा, धर्म, जाति के लोगों के साथ कॉलोनियों में रहना है। यहाँ वैचारिक रूप से व्यक्ति अनेकान्त बन जाता है। सभी तरह के लोगों के साथ उठना-बैठना, व्यवहार निभाना, उनके समक्ष एक नये समाज की रचना प्रस्तुत करता है। ऐसी परिस्थिति में यदि वह अपने व्यक्तित्व को अनेकान्त में नहीं ढालता है तो उसका जीवन कठिन हो जायेगा। जैनदर्शन का अनेकान्तवाद विरोध में अस्तित्व का सिद्धान्त समझाकर इस व्यवहार जगत् को संदेश देता है और समाधान बतलाता है। यहाँ किसी एक विचार या संस्कृति को स्वीकार करने का हठाग्रह लेकर हम चलेंगे तो हम समाज में नहीं रह सकते क्योंकि हमें हिन्दू, जैन, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई इत्यादि समाज में नहीं रहना है बल्कि विश्व समाज में रहना है, जहाँ बहुलता ही बहुलता है। ध्यान रखें, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में एकरूपता का नाम 'एकान्त' है और बहुलता का नाम ही 'अनेकान्त' है।

3.5.4 व्यवहारिक जीवन एकान्तवादी नहीं हो सकता—

विचारों के आधार पर मनुष्य कदाचित् एकान्तवादी भी हो सकता है किन्तु जीवन और समाज में व्यक्ति एकान्तवादी नहीं हो सकता। जिंदगी अनेकान्त का नाम है। एक मुसलमान विचारों के आधार पर भले ही सिवाय इस्लाम के कहीं भी सिर न झुकाये किन्तु जब वह व्यवसाय करता है तब ग्राहक कौन है ? हिन्दू अथवा ईसाई या अन्य कोई ? वह इसका भेद नहीं करता, वह उसे सम्मान देता है। स्वयं उसे जीवन के अनेक कार्यों के मध्य मात्र इस्लाम अनुयायियों से काम चल जायेगा, ऐसा नहीं है।

फिदा हुसैन एक ब्राह्मण अभिनेत्री माधुरी दीक्षित से यदि प्रभावित है तो वह यह विचार नहीं करता है कि यह तो मुसलमान नहीं है मैं इसका चित्र क्यों बनाऊँ ? उसी प्रकार हिन्दू या अन्य मतानुयायी भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सभी से कार्य करवाते हैं। यदि कोई मुस्लिम डॉक्टर कोई बहुत बड़ा ऑपरेशन किन्हीं पण्डितजी या पादरीजी का करता है तब इसमें से कोई मना नहीं करता। शाहरुख खान, सैफअली खान, गुलाम अली से लेकर मुहम्मद अजहरुद्दीन तक सभी मात्र मुसलमानों के ही चहेते हैं, ऐसा नहीं है। उसी प्रकार सचिन तेंदुलकर, ऐश्वर्या राय, अमिताभ, अभिषेक बच्चन, अनिल और शाहिद कपूर तथा जगजीत सिंह पर मात्र हिन्दू ही जान छिड़कते हैं ऐसा भी नहीं है। भवन निर्माण में यदि मुस्लिम मिस्त्री सिद्धहस्त है तो पण्डित जी उसी से मकान बनवाते हैं यहाँ तक कि मंदिर तक।

हम स्वयं विचार करें कि क्या जीवन कभी एकान्तवादी हो सकता है ? जैन या हिन्दू निःशुल्क अस्पतालों में मुस्लिम महिलाओं एवं बच्चों की लम्बी कतार यह कभी विचार नहीं करती कि यह तो काफिरों के द्वारा बनाया गया अस्पताल है, यहां इलाज मत कराओ। यहां के ट्रस्टी या डाक्टर भी ऐसा कोई बोर्ड नहीं लगाते कि वे मुसलमानों का निःशुल्क इलाज नहीं करेंगे।

क्या सामाजिक जीवन में अनेकान्त को स्वीकार किये बिना इस प्रकार के सुन्दर जीवन की कल्पना संभव है ? विभिन्नता, विविधता और विरोध यदि समाप्त हो जायें, जैसी कि कामनायें की जाती हैं; तो क्या अस्तित्व बचेगा ? यह कल्पना भी कितनी निरर्थक मालूम होती है कि सर्वत्र एकरूपता, परिपूर्णता कायम हो जाए। यह वस्तु स्वभाव के विपरीत कल्पना है, जो कि असंभव है।

3.5.5 अनेकान्त दर्शन की व्यावहारिकता—

जैन साहित्य में अनेकान्त दृष्टि की प्रधानता है। यह अनेकान्त में एकता करने का सशक्त माध्यम है। यह सभी के हितों का चिंतन करता है। आधुनिक युग में महात्मा गाँधी के साथ सर्वोदय शब्द जुड़ा हुआ है। डॉ. रामजी सिंह का मानना है कि संस्कृति के प्रामाणिक शब्दकोशों में भी इसका उल्लेख नहीं है किन्तु जैन संस्कृत वाङ्मय के सिंहावलोकन

से पता चलता है कि आगमयुग के बाद ही अनेकान्त स्थापना युग में सिद्धस्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपने ग्रंथ 'युक्त्यनुशासन' में सर्वोदय तीर्थ का प्रयोग किया है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।।61।।

अर्थात् हे प्रभु! आपका तीर्थ, शासन सर्वान्तवान् है और गौण तथा मुख्य की कल्पना को साथ में लिए हुए है। जो शासन वाक्यधर्मों में पारस्परिक अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता, वह सर्व धर्मों से शून्य है अतः आपका ही यह शासनतीर्थ सर्व दुखों का अंत करने वाला है, यही निरन्त है और यही सभी प्राणियों के अभ्युदय का साधक ऐसा सर्वोदय तीर्थ है।

यहाँ सर्वोदय तीर्थ-विचार तीर्थ के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यही धर्म तीर्थ भी है। यही जैन तत्वज्ञान का मर्म है। सर्वोदय तीर्थ अनेकान्तात्मक शासन के रूप में व्यवहृत हुआ है। अनेकान्त विचार ही जैनदर्शन, धर्म और संस्कृति का प्राण है और यही इसका सर्वोदयी तीर्थ भी है।

अनेकान्त दृष्टि के मूल में दो तत्व हैं—(1) पूर्णता (2) यथार्थता। जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप में प्रतीत होता है, वही सत्य कहलाता है किन्तु पूर्ण रूप से त्रिकाल बाधित यथार्थ का दर्शन दुर्लभ है। देश, काल, परिस्थिति, भाषा और शैली आदि अनिवार्य भेद के कारण भेद का दिखायी देना अनिवार्य है फिर साधारण मनुष्य की बात ही क्या ? साधारण मनुष्य यथार्थवादी होकर भी अपूर्णदर्शी होते हैं। यदि अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी दूसरे की बात सत्य है, अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी अपनी बात सत्य है; तो दोनों को न्याय कैसे मिल सकता है ?

इसी समस्या के समाधान के लिए अनेकान्त दृष्टि का उद्भव हुआ, जिसकी मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं—

(1) राग और द्वेषजन्य संस्कारों से ऊपर उठकर मध्यस्थ भाव रखना।

(2) जब तक इस प्रकार के तटस्थ एवं मध्यस्थ भाव का पूर्ण विकास न हो तब तक उस लक्ष्य की ओर ध्यान रखकर केवल सत्य की जिज्ञासा करना।

(3) विरोधी पक्ष के प्रति आदर रखकर उसके भी सत्यांश को ग्रहण करना।

(4) अपने या विरोधी के पक्ष में जहाँ जो ठीक जँचे, उनका समन्वय करना। इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि के द्वारा हम एक नयी 'समाज मीमांसा' और नये 'समाज तर्क' के आविष्कार की ओर बढ़ सकते हैं और उसके द्वारा समाज में समन्वय लाया जा सकता है। यह ठीक है कि चूंकि दार्शनिक और आध्यात्मिक साधना में ही अनेकान्त दृष्टि आयी किन्तु अब समाज साधना में इनके प्रयोग को आगे बढ़ाना चाहिए। यही वह जीवन्त अनेकान्त होगा जिसका उपयोग एक जीवन दर्शन की तरह होगा। जो सही अर्थों में जीवन को जीता है वह वास्तव में 'अनेकान्त' को जीता है। हम सभी का यह अनुभूत एवं ज्ञात विषय है कि जीवन बहुआयामी है। जीवन या समाज की व्याख्या किसी एक पहलू से नहीं की जा सकती। लन्दन के वैज्ञानिक लेखक डॉ. न्यूलियन हक्सले (1887-1966) ने स्पष्ट लिखा है कि—

'हम अपने सिद्धान्तों को गिनती के कुछ सीधे-सादे शब्दों की कारां में कैद नहीं कर सकते। जीवन बहुत उलझा हुआ है तथा वैविध्यपूर्ण है। हमें सिद्धान्तों को आस्था के द्वारा पूर्णता देनी होगी और आस्था का अन्तिम लक्ष्य जीवन है, उसकी प्रगति और समृद्धि है। अस्तु! मेरी अंतिम आस्था जीवन में है।

निष्कर्ष यही है कि जीवन, समाज और अस्तित्व तर्क का नहीं आस्था का विषय है। अनेकान्त को भी तर्क समझा गया। उसके पीछे एक कारण यह है कि अनेकान्त का उपयोग दार्शनिक क्षेत्र में ही किया गया। अनेकान्त जीवन से जुड़ा है इसलिए यह तर्क से परे आस्था का भी विषय बनता है। सारांश यह है कि हम अपने अस्तित्व,

जीवन और समाज से जुड़ी समस्याओं की तह में जायेंगे तो पायेंगे कि ये समस्यायें अनेकान्त को नहीं समझ सकने से उत्पन्न हुई हैं।

3.6 'खानदान-शुद्धि, मानव का धर्म/कर्तव्य है—

कालचक्र सदैव गतिशील रहता है। जैनागम के अनुसार काल के दो विभाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। प्रत्येक विभाग के छह-छह भेद हैं। अवसर्पिणी काल का पहिया सुख से दुःख की ओर तथा उत्सर्पिणी का दुःख से सुख की ओर घूमता है। वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है। इस काल में जीवों की आयु, बल, शरीर की ऊँचाई, सम्पदा, योग्यता, स्मृति, गति, मति, पद, कद आदि का निरन्तर ह्रास होता जाता है। **'दुषमा'** नामक पंचम भेद के आते-आते यह गिरावट इतनी बढ़ जाती है कि इस काल में भरत क्षेत्र से कोई भी जीव सीधे मोक्ष नहीं जाता, विदेह क्षेत्र में जन्म लेकर जा सकता है।

जैनधर्म परिणामों की शुद्धि पर जोर देता है, परिणाम विशुद्धि के लिए **'खानपान-शुद्धि'** एवं **'खानदान-शुद्धि'** आवश्यक है। यह चिन्तनीय है कि इस दिशा में कोई गंभीरतापूर्वक ध्यान नहीं दे रहा है।

खानपान और खानदान की शुद्धि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। ये कोई शब्दमात्र नहीं है, बल्कि सिद्धान्त है। इनसे जो चिढ़ता है, वह मोक्षमार्ग से भटकता जाता है। हमारे जीवन में इन दोनों शुद्धियों का खास महत्व है।

'खानदान' शब्द का अर्थ है—कुल, वंश, जाति, गोत्र, संतति, घराना, कुलीनता आदि। शब्दकोष के अनुसार **खानजादा** ऊँचे कुल में उत्पन्न व्यक्ति को कहते हैं और **खानाबदोश** कहलाता है वह व्यक्ति, जो लक्ष्य-भ्रष्ट है। **'खाना-पीना और मौज उड़ाना'** कुलीन लोगों का लक्ष्य नहीं हो सकता, किसी खानाबदोश का हो सकता है इसीलिए एक उर्दू शायर ने खानजादा बनने पर जोर दिया है।

खानदान-शुद्धि के लिए शास्त्रीय शब्द है—**सज्जातित्व की सुरक्षा।** महापुराणकार के अनुसार **पितृ वंश की शुद्धि को 'कुल-शुद्धि' और मातृवंश की शुद्धि को 'जाति-शुद्धि' तथा दोनों की शुद्धि को 'सज्जातित्व' कहते हैं।** आगम में उल्लिखित **सप्त परमस्थानों में प्रथम है सज्जातित्व और अंतिम है निर्वाण।** एक साधन है तो दूसरा साध्य, एक नींव है तो दूसरी मंजिल। सज्जातित्व के बिना निर्वाण नहीं मिलता, इस विषय में सभी आचार्य एकमत हैं। कुल-जाति व्यवस्था अनादिकालीन है। केवल नाम बदल सकते हैं किन्तु व्यवस्था अपरिवर्तनीय है। पहले इक्ष्वाकु, सूर्य, चन्द्रवंश आदि होते थे, अब खण्डेलवाल, अग्रवाल, जैसवाल, पद्मावती पुरवाल आदि जातियाँ हैं। महात्मा गांधी ने सफाई कर्मचारियों को एक नया नाम दे दिया—**'हरिजन'**। नाम बदलने से जाति तो नहीं बदलती।

हमारे पूज्य आचार्यों ने **सज्जातित्व की महिमा** का बखान करते हुए लिखा है—

* विशुद्ध खानदान में ही तीर्थंकरों का जन्म होता है। हमारे सभी तीर्थंकर क्षत्रियकुलोत्पन्न थे, इसके पीछे छिपे रहस्य को समझना चाहिए।

* जिसका खानदान शुद्ध है, वही दीक्षा का अधिकारी है। आचार्य श्री जिनसेन स्वामी लिखते हैं—**''विशुद्धकुलगोत्रस्थ सद्वृत्तस्य वपुष्मतः''** अर्थात् विशुद्ध कुल-गोत्र में उत्पन्न सदाचार सम्पन्न और सुन्दर शरीर वाले ही जिन दीक्षा धारण करने के पात्र हैं।

* श्री जिनेन्द्र वर्णी ने लिखा है कि पंचमकाल में भी उत्तम कुल का व्यक्ति ही दीक्षा धारण कर सकता है। (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष/प्रव्रज्या)।

* नीति वाक्यामृत के अनुसार जो द्विजन्मा है, वही दीक्षा का अधिकारी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये तीन द्विजन्मा माने गये हैं। शूद्र दीक्षा का पात्र नहीं है।

* लोक की रीति-नीति और व्यवहार में भी सदियों से सज्जातित्व की सुरक्षा का ध्यान रखा जाता रहा है। जैसे—

* चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि भारत में विवाह घराना देखकर अपनी ही जाति में

किया जाता है।

* हमारे पुरखे बताते थे कि पहले कन्या पक्ष की ओर से योग्य (सजातीय) वर ढूँढने के लिए नाई भेजे जाते थे और वे **पितृकुल** (पिता, बाबा, दादा आदि) तथा **मातृकुल** (नाना, मामा आदि) के बारे में भलीभांति पड़ताल कर संबंध निश्चित करने में सहायता करते थे।

* आज भी भारतीय सेना में जातियों के नाम पर जाट, सिख, गोरखा, डोंगरा आदि रेजीमेंट बने हुए हैं। इसका कारण यही है कि इन जातियों में उत्पन्न लोगों में कुल परम्परा से वीरता और साहस के अंश ज्यादा हैं। वैज्ञानिकों ने भी अपने अनुसंधानों के आधार पर इस बात की पुष्टि की है कि पिता के शरीर से जीन्स का प्रभाव सन्तान में भी आता है।

* देखने में आता है कि प्रायः वैद्य का लड़का वैद्य, वकील का लड़का वकील और नेता का लड़का नेता बनता है। यह भी इसी बात का सूचक है कि पिता के संस्कार पुत्र में आते हैं। कहा भी है—**'जैसे जाके मात-पिता, तैसे ताके लरिका'।**

* सोचें कि गाय का दूध हल्का और भैंस का भारी क्यों होता है ? गांधी जी सुपाच्य होने से बकरी का दूध पीते थे।

* बवासीर, कुष्ठ, कैंसर आदि रोग पैतृक भी होते हैं।

* जातियाँ कहाँ नहीं हैं! देवों में भी हैं। किल्विषिक जाति के देवों को भी उच्चगोत्रीय माना गया है किन्तु झाड़ू-बुहारी जैसे निचले दर्जे का काम करने से वे इन्द्र की सभा में नहीं बैठते। शास्त्रों में उनको प्रजा बाह्य कहा गया है। उच्च गोत्र और **प्रजा-बाह्य** होने में कोई विरोधाभास भी नहीं है। निंद्य कार्य करने वाले यदि प्रतिष्ठित भी हों तो भी उनकी निंदा की जाती है और नीच कुल का आदमी भी भले या अच्छे कार्य करता है तो कहा जाता है कि यह तो देवता है। उच्च कुल-गोत्र होने पर भी रजस्वला स्त्री पिण्ड अशुद्ध होने से पूजा नहीं कर सकती और न किसी को छू सकती है। कहा जाता है कि रजस्वला स्त्री की परछाई भी पड़ जाये तो पापड़ बिगड़ जाते हैं। गर्भवती स्त्री की दृष्टि पड़ने से साँप अंधा हो जाता है।

हमारे आचार्यों ने जाति-कुल को बुरा नहीं कहा। जाति मद और कुल मद न करने की सीख दी है। **मद हमेशा अच्छी वस्तु का होता है, बुरी वस्तु का नहीं।** लोग गर्व करते हैं हीरे-जवाहरात पर, धूल-मिट्टी-कंकड़ों पर नहीं। **कुल-जाति** (घराना या खानदान) एक ऊँची चीज है। उसकी सुरक्षा की जानी चाहिए।

सच तो यह है कि देश को आजादी मिलने से पहले तक सजातीय विवाहों का ही प्रचलन था किन्तु उसके बाद पाश्चात्य शिक्षा और बाहरी हवा के प्रभाव से सुधार के पक्षधरों ने पहले सद्धर्म विवाह को उचित करार दिया, जिसका विस्तार अब विजातीय और विधर्मियों के साथ संबंध जोड़ने तक हो चुका है। इसी को कहते हैं उंगली पकड़कर पहुँचा पकड़ना। कुलगोत्र शुद्धि और पिण्ड शुद्धि के प्रकरण को आचार्य समन्तभद्र ने **'भस्म से ढके अंगारे'** का उदाहरण देकर आइने में पड़े प्रतिबिम्ब की तरह स्पष्ट कर दिया है।

एक प्रसंग है कि शेरनी ने दो बच्चे पाले—एक अपना और दूसरा सियार का। जब वे बड़े हुए तो एक दिन दोनों जंगल में घूमने गये। वहाँ उनका सामना एक हाथी से हो गया। शेरनी का बच्चा उस पर झपटने को तैयार हुआ ही था कि स्यार सुत ने उसे टोका और कहा पागल हो गये हो क्या तुम ? देखते नहीं कि इसका डील-डौल कितना बड़ा है। चलो भागो, नहीं तो यह हमें मार डालेगा। घर लौटने पर जब शेरनी के बच्चे ने पूरी घटना बताते हुए कहा कि यह हमारा भाई तो कायर है, हाथी को देखकर दुम दबाकर भाग आया, तब शेरनी ने सियार सुत से कहा—

शूरोसि कृतविद्योसि दर्शनीयोसि पुत्रक!
यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नः गजस्तत्र न हन्यते।।

हे पुत्र! तुम बहादुर हो, विद्या निपुण हो और देखने में भी शेर के बालक सदृश हो, किन्तु जिस कुल में तुम पैदा हुए हो, वहाँ हाथी नहीं मारे जाते। (इसलिए तुम वापिस अपने घर जाओ, अब यहाँ तुम्हारा कोई काम नहीं है।)

कहने का तात्पर्य यही है कि जाति-कुल का प्रभाव कभी जाता नहीं है अतः प्रत्येक मानव को अपने कुल-जाति के गौरव के साथ-साथ उसका संरक्षण करने में अपने कर्तव्य का पालन अवश्य करना चाहिए।

3.7 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-परिवर्तन की अवस्थाओं में से दूसरी अवस्था.....

(क) प्रसुप्त ☐
(ख) जागृत ☐
(ग) समुत्थित ☐

प्रश्न 2-धर्मरूप प्रासाद के चार स्तंभों में से अंतिम स्तंभ-

(क) करुणा ☐
(ख) माध्यस्थ भावना ☐
(ग) प्रमोद ☐

प्रश्न 3-वस्तु का स्वभाव क्या है ?

(क) क्षमा ☐
(ख) दया ☐
(ग) धर्म ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-परिवर्तन की कितनी और कौन-कौन सी अवस्थाएं हैं ?

प्रश्न 2-आचार्य श्री भद्रबाहु के अनुसार सम्यक् आजीविका का लक्षण क्या है ?

प्रश्न 3-जैन शास्त्रानुसार अनेकान्त की परिभाषा क्या है ?

प्रश्न 4-सज्जातित्व किसे कहते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-जैन आचार्यों द्वारा वर्णित धर्मरूपप्रासाद के कितने स्तंभ हैं ? उनका श्लोक सहित वर्णन करें ?

पाठ 4—श्रावकाचार संग्रह में वर्णित श्रावक के विशेष कर्तव्य

4.1 जैनदर्शन की विशुद्ध साधना पद्धति में श्रावकाचारों के अन्दर वर्णित श्रावकों के विशेष कर्तव्यों में सामायिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको धारण किये बिना कोई भी व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। श्रावकाचार संग्रह में सामायिक की विवेचना शिक्षाव्रत एवं तीसरी प्रतिमा को ध्यान में रख कर की गई है। सभी श्रावकाचारों में शिक्षाव्रत को एवं सामायिक को स्वीकार किया गया है। यहाँ सर्वप्रथम शिक्षाव्रत के स्वरूप पर विचार करते हैं—

सामायिक का समय पूर्ण होने तक हिंसादि पाँचों पापों का पूर्ण रूप से अर्थात् मन-वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करने को सामायिक शिक्षाव्रत कहा गया है।

जिस प्रकार तीसरी प्रतिमाधारी श्रावक को कम से कम दो घड़ी और अधिक से अधिक छह घड़ी सामायिक का निर्देश किया गया है उस प्रकार का बंधन सामायिक शिक्षाव्रत के अभ्यास करने वाले गृहस्थ के लिये नहीं है। गृहस्थ सामायिक का अभ्यास धीरे- धीरे अल्पकाल से प्रारंभ करता है और उत्तरोत्तर समय को बढ़ाता है। उसका मुख्य लक्ष्य आर्त्त और रौद्र ध्यान से तथा संक्लेशभाव से बचकर आत्मा में स्थिर होने का है। प्रारंभिक अभ्यासी को जब तक किसी प्रकार की आकुलता नहीं होती है, तभी तक वह सामायिक में स्थिर होकर बैठ सकता है। सामायिक प्रारंभ करने के पूर्व वह कभी-कभी शिर-केश चोटी आदि की गाँठ लगा लेता है। पहिने और ओढ़े हुए वस्त्र की गाँठ भी लगा लेता है। जिसका भाव यह है कि सामायिक करते समय वायु से उड़कर ये मन को व्याकुल न करें। सामायिक में बैठे हुए पद्मासन में हाथों की मुट्ठी को बाँधता है अर्थात् दाहिनी हथेली को बांई हथेली के ऊपर रखता है तथा कभी खड़े होकर भी सामायिक करता है। इन सबमें यही भाव निहित है कि जब तक मुझे बैठने या खड़े रहने में आकुलता नहीं होगी, तब तक मैं सामायिक करूँगा। इस प्रकार जब तक मेरे केशबंध आदि रहेंगे, तब तक मैं सामायिक करूँगा, ऐसी मर्यादा को सामायिक का काल जानना चाहिए। जहाँ पर चित्त में विक्षोभ उत्पन्न न हो ऐसे एकान्त स्थान में, वनों में, वसतिकाओं में अथवा चैत्यालयों में प्रसन्न चित्त में सामायिक की वृद्धि करना चाहिए। उपवास अथवा एकाशन के दिन गृहव्यापार और उनकी व्यग्रता को दूर करके अन्तरात्मा में उत्पन्न होने वाले विकल्पों की निवृत्ति के साथ सामायिक अनुष्ठान प्रारंभ करें, पुनः आलस्यरहित होकर सावधानी के साथ पांचों व्रतों की पूर्णता करने के कारणभूत सामायिक का प्रतिदिन अभ्यास बढ़ाना चाहिए। सामायिक काल में आरंभ सहित सभी परिग्रह नहीं होते हैं अतः उस समय गृहस्थ वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है। सामायिक को प्राप्त हुए गृहस्थों को चाहिए कि वे सामायिक के समय शीत, उष्ण और दंशमशक आदि परिषह को तथा अकस्मात् आये हुए उपसर्ग को भी मौन धारण करते हुए अचलयोगी होकर अर्थात् मन-वचन-काय की दृढ़ता के साथ सहन करें। सामायिक के समय श्रावक को ऐसा विचार करना चाहिए कि मैं जिस संसार में रह रहा हूँ, वह अशरण है, अशुभ है, अनित्य है, दुखरूप है और मेरे आत्मस्वरूप से भिन्न है तथा मोक्ष इससे विपरीत स्वभाव वाला है अर्थात् शरणरूप है, शुद्धरूप है, नित्य है, सुखमय है और आत्मस्वरूप है। संसार, देह और भोगों से उदासीन होने के लिए अनित्य, अशरण आदि भावों का तथा मोक्षप्राप्ति के लिए उसके नित्य, शाश्वत सुखरूप का चिंतन करें।

सामायिक शिक्षाव्रत के ये पांच अतिचार हैं— सामायिक करते समय वचन का दुरुपयोग करना, मन में संकल्प-विकल्प करना, काय का हलन-चलन करना, सामायिक का अनादर करना और सामायिक करना भूल जाना। उपर्युक्त शिक्षाव्रत की विवेचना के उपरांत सामायिक प्रतिमा की दृष्टि से विवेचना श्रावकाचार संग्रह में प्राप्त होती है।

समत्व साधना में साधक जहां बाह्य रूप में (हिंसक) प्रवृत्तियों का त्याग करता है, वहीं आंतरिक रूप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मभाव एवं सुख-दुख, लाभ-हानि आदि में समभाव रखता है लेकिन इन दोनों से भी ऊपर वह अपने विशुद्ध रूप में आत्म साक्षात्कार का प्रयत्न करता है। **समय एकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः सं प्रयोजनमस्येति सामायिकम्।** 'सं' अर्थात् एकत्वपने से "आय" अर्थात्

आगमन परद्रव्यों से निवृत्त होकर उपयोग की आत्मा में प्रवृत्ति होना। वह समय ही जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं। श्रावकाचार संग्रह में सामायिक का विचार सभी श्रावकाचारों में एक सा ही मिलता है। बारह व्रतों के अन्तर्गत चार शिक्षाव्रतों में प्रथम शिक्षाव्रत है। इसके बाद तीसरी प्रतिमा सामायिक के रूप में ग्रहण की गई है। प्राय : सभी आचार्यों ने एक सा अनुसरण किया है।

सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने सामायिक के स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार के टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने विस्तार में इसकी विवेचना की है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में वर्णित आचार्य श्री समन्तभद्र के निम्नलिखित श्लोक को आधार मानकर परवर्ती आचार्यों ने सामायिक का स्वरूप, विधि एवं महत्त्व बतलाया है।

चतुरावर्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धित्रिसन्ध्यभिवन्दी।।

अर्थात् सामायिक पदधारी श्रावक चार बार तीन-तीन आवर्त और चार बार नमस्कार करने वाला यथाजातरूप से अवस्थित ऊर्ध्व कायोत्सर्ग और पद्मासन का धारक, मन-वचन-काय इन तीनों योगों की शुद्धि वाला और प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल इन तीनों संध्याओं में वंदना को करने वाला सामायिकी श्रावक है।

तीसरी सामायिक प्रतिमा है, जिसमें सामायिक नामक प्रथम शिक्षाव्रत की परिपूर्णता, त्रैकालिक साधना और निरतिचार परिपालना अति आवश्यक है। दूसरी प्रतिमा में सामायिक शिक्षाव्रत अभ्यास दशा में था अतः वहाँ पर दो या तीन बार करने का कोई कथन नहीं था, "वह इतने काल तक सामायिक करें" इस प्रकार कालकृत नियम भी शिथिल था। पर तीसरी प्रतिमा में सामायिक का तीनों संध्याओं में किया जाना आवश्यक है और वह भी एक बार में कम से कम दो घड़ी या एक मुहूर्त (48 मिनिट) तक करना चाहिए। सामायिक का उत्कृष्ट काल छह घड़ी का है। साथ ही तीसरी प्रतिमाधारी को यथाजात रूप धारण कर सामायिक करने का विधान आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट शब्दों में किया है। इस यथाजात पद से स्पष्ट है कि तीसरी प्रतिमाधारी को सामायिक एकान्त में नग्न होकर करना चाहिए। चामुण्डराय और वामदेव ने भी अपने संस्कृत भावसंग्रह में यथाजात होकर सामायिक करने का विधान किया है। इसका अभिप्राय यही है इस प्रतिमा का धारक श्रावक प्रतिदिन तीन बार कम से कम दो घड़ी तक नग्न रहकर साधु बनने का अभ्यास करे। इस प्रतिमाधारी को सामायिक संबंधी दोषों का परिहार भी आवश्यक बताया गया है। इस प्रकार तीसरी प्रतिमा का आधार सामायिक नाम का प्रथम शिक्षाव्रत है।

4.2 सामायिक शिक्षाव्रत और सामायिक प्रतिमा में अंतर—

आचार्यों ने 'सर्वविरतातिलालसः खलु देशविरतिपरिणामः' कहकर सर्व पापों से निवृत्त होने का लक्ष्य रखना ही देशविरति का फल बताया है। यहां सर्व सावद्य विरति सहसा संभव नहीं है, इसके अभ्यास के लिए शिक्षाव्रतों का विधान किया गया है। स्थूल हिंसादि पाँचों पापों का त्याग अणुव्रत है और उनकी रक्षार्थ गुणव्रतों का विधान किया गया है। गृहस्थ प्रतिदिन कुछ समय तक सर्व सावद्य (पाप) के योग के त्याग का भी अभ्यास करें, इसके लिए सामायिक शिक्षाव्रत का विधान किया गया है। अभ्यास को एकाशन या उपवास के दिन से प्रारंभ कर प्रतिदिन करते हुए क्रमशः प्रातः, सायंकाल और त्रिकाल करने तक विधान आचार्यों ने किया है। यह दूसरी प्रतिमा का विधान है। इसमें काल का कथन और अतिचारों के त्याग का नियम नहीं है, हाँ, उनसे बचने का प्रयास अवश्य किया है। सकलकीर्ति आचार्य ने एक वस्त्र पहनकर सामायिक करने का विधान किया है।

किन्तु तीसरी प्रतिमाधारी को तीनों सन्ध्याओं में कम से कम दो घड़ी तक निरतिचार सामायिक करना आवश्यक है। वह भी शास्त्रोक्त कृतिकर्म के साथ और यथाजातरूप धारण करके। रत्नकरण्ड के इस 'यथाजात' पद के ऊपर वर्तमान के व्रतीजनों या प्रतिमाधारी श्रावकों ने ध्यान नहीं दिया है। समन्तभद्र ने जहाँ सामायिक शिक्षाव्रती को

'चेलोपसृष्टमुनिरिव' (वस्त्र से लिपटे मुनि के तुल्य) कहा है, वहाँ सामायिक प्रतिमाधारी को यथाजात (नग्न) होकर के सामायिक करने का विधान किया है। चारित्रसार में भी यथाजात होकर सामायिक करने का निर्देश है और व्रतोद्योतन श्रावकाचार में तो बहुत स्पष्ट शब्दों में 'यथोत्पन्नस्तथा भूत्वा कुर्यात्सामायिकं च सः' कहकर जैसा नग्न उत्पन्न होता है वैसा ही नग्न होकर सामायिक करने का विधान तीसरी प्रतिमाधारी के लिए किया गया है।

यथाजात धारण करके भी जघन्य दो घड़ी, मध्यम चार घड़ी और उत्कृष्ट छह घड़ी का काल तीसरी प्रतिमा में बताया है। कुछ आचार्यों ने तो मुनियों के समान 32 दोषों से रहित सामायिक करने का विधान तीसरी प्रतिमाधारी के लिए किया है।

सामायिक शिक्षाव्रत में जहाँ स्वामी समन्तभद्र ने अशरण, अनित्य, अशुचि आदि भावनाओं को भाते हुए संसार को दुखरूप चिंतन करने तथा मोक्ष को शरण, नित्य और पवित्र आत्मस्वरूप से चिंतन करने का निरूपण किया है, वहां सामायिक प्रतिमा में उक्त चिंतन के साथ आगे पीछे किये जाने वाले कुछ विशेष कर्त्तव्यों का विधान किया है। वहां बताया है कि चार बार तीन-तीन आवर्त और चार नमस्कार रूप कृतिकर्म को भी त्रियोग की शुद्धिपूर्वक करें।

वर्तमान में सामायिक करने के पूर्व चारों दिशाओं में एक-एक कायोत्सर्ग करके तीन-तीन बार मुकुलित हाथों के घुमाने रूप आवर्त करके नमस्कार करने की विधि प्रचलित है पर इस विधि का लिखित आगम आधार उपलब्ध नहीं है। सामायिक प्रतिमा के स्वरूप वाले 'चतुरावर्तत्रितय' इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने लिखा है कि एक-एक कायोत्सर्ग करते समय 'णमो अरिहताणं' इत्यादि सामायिक दण्डक और "थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे" इत्यादि स्तवनदण्डक पढ़ें। इन दोनों दण्डकों के आदि और अंत में तीन-तीन आवर्त के साथ एक-एक नमस्कार करें। इस प्रकार बारह आवर्त और चार नमस्कारों का विधान किया है।

आवर्त का द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार का निरूपण है। दोनों हाथों को मुकुलित कर अंजुलि बांधकर प्रदक्षिणा रूप से घुमाने को द्रव्य आवर्त कहा गया है। मन, वचन और काय के परावर्तन को भाव आवर्त कहा गया है। जैसे सामायिक दण्डक बोलने के पूर्व क्रिया विज्ञानरूप मनोविकल्प होता है, उसे छोड़कर सामायिक दण्डक के उच्चारण में मन को लगाना मन परावर्तन है। इसी सामायिक दण्डक के पूर्व भूमि को स्पर्श करते हुए नमस्कार किया जाता है, उसके पश्चात् खड़े होकर तीन बार हाथों को घुमाना काय परावर्तन है। तत्पश्चात् 'चैत्यभक्ति कायोत्सर्गं करोमि' इत्यादि उच्चारण को छोड़कर 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि पाठ का उच्चारण करना वचन परावर्तन है। इस प्रकार सामायिक दण्डक से पूर्व मन, काय और वचन के परावर्तन रूप तीन आवर्त होते हैं। इसी प्रकार सामायिक दण्डक के अंत में तीन आवर्त तथा स्तवनदण्डक के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त होते हैं। उक्त विधि से एक कायोत्सर्ग में सब मिलकर बारह आवर्त होते हैं।

4.3 सामायिक की विधि—

श्रावकाचार संग्रह में सामायिक की विधि सभी आचार्यों के अुनसार प्रायः एक जैसी ही निरूपित की गई है। सामायिक के समय क्षेत्र शुद्धि, काल शुद्धि, आसन शुद्धि, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, शरीर शुद्धि तथा विनय शुद्धि इस तरह सात प्रकार की शुद्धि, बारह आवर्त, चार शिरोनति और चार प्रणामपूर्वक पूर्व या उत्तर दिशा में मुख करके दोनों हाथों को सीधा लटकाकर, दोनों पाँवों के बीच में चार अंगुल की जगह छोड़कर अपने सीने को सीधा रखकर, नासा दृष्टि लगाकर कायोत्सर्गपूर्वक आसन पर खड़ा होकर 48 मिनट तक सामायिक करने की प्रतिज्ञा करता है। मेरी सामायिक काल की मर्यादा पूर्ण न हो जाये, तब तक मैं दूसरे स्थान का एवं परिग्रह का त्याग करता हूँ और अपनी देह पर पड़े हुए परिग्रह का त्याग करता हूँ। शरीर के प्रति ममता का त्याग करने का अभ्यासपूर्वक चारों दिशाओं में से प्रत्येक में नौ बार णमोकार मंत्र का जाप, तीन आवर्त, एक शिरोनति और जिस दिशा से आज्ञा ली है उस दिशा में अष्टांग नमस्कार करके

तीन बार 'नमोऽस्तु' बोलकर आसन लगाता है। सामायिक पूर्ण होने तक खड्गासन, पद्मासन एवं पर्यंकासन उक्त तीन आसनों में से किसी एक आसन से सामायिक को पूर्ण करता है। प्रतिज्ञा की हुई कालावधि में एक आसन से ही जाप करके सामायिक पूर्ण करता है।

आचार्य सोमदेव के अनुसार देवपूजा, आप्त सेवा ही सामायिक है। श्रावक को प्रतिदिन तीनों संध्याकालों में जिनेन्द्रदेव की जिनपूजापूर्वक सामायिक करना चाहिए। जिनपूजा के बिना सभी सामायिक क्रिया दूर है अतः सामायिक करने वाले भव्यों को पूजा शास्त्र में कहे गये क्रम के अनुसार निरंतर जिनपूजा करनी चाहिए। वस्तुतः सोमदेव के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य ने देवपूजा को सामायिक निरूपित नहीं किया है। समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सामायिक का महत्व दो शब्दों से प्रतिपादित किया है — प्रथम 'चेलोपसृष्टमुनिरिव' दूसरा 'यथाजात'। वस्तुतः शिक्षाव्रती को मुनिरिव कहना और उसकी पुष्टि तीसरी प्रतिमाधारी को 'यथाजात' शब्द कहकर 'नग्न' होकर सामायिक में मुनि बनने का अभ्यास करने की ओर संकेत है। यद्यपि यह सब उपचार से कथन है परन्तु सामायिक का महत्त्व स्पष्ट है। आचार्य समन्तभद्र का समर्थन कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी किया गया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायकार ने भी सामायिक शिक्षाव्रती को महाव्रती कहकर महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। अमितगति श्रावकाचार में सामायिक में स्थित शिक्षाव्रती को महात्मा शब्द से व्यवहृत किया है।

सागारधर्मामृत में सामायिक को शाश्वत मुक्ति का कारण बताया है और सामायिक के दो भेद करके द्रव्य सामायिक में पूजन को महत्त्व दिया है और भाव सामायिक में आत्मध्यान को महत्त्व दिया है।' इस संबंध में कहा है कि जिस महात्मा के द्वारा यह भाव सामायिक प्रतिमारूप भाव धारण किया गया है उस महात्मा ने सामायिक व्रतरूपी मंदिर के शिखर पर कलश स्थापित किया है।'

धर्मसंग्रह श्रावकाचार में सामायिक का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जिस सामायिक व्रत के धारण करने से अभव्य पुरुष ग्रैवेयक पर्यन्त तक चला जाता है तो सम्यग्दर्शन से पवित्र भव्य पुरुष उस व्रत के माहात्म्य से मोक्ष नहीं जायेगा ? अवश्य जायेगा।'

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में सामायिक को धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान को प्रकट करने वाला कहा है।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में सामायिक में रत गृहस्थ को वस्त्रसहित मुनि के समान बताया है क्योंकि वह संचित कर्मों को नष्ट करता है एवं नये कर्मों को ग्रहण नहीं करता है। साथ ही सोलहवें स्वर्ग की संपदा पाकर मोक्ष में जाकर विराजमान हो जाता है परन्तु जो व्यक्ति गृहस्थाश्रमरूपी रथ में लगे रहने पर भी सामायिक नहीं करते, सदा पापकर्म की चिंता में ही लगे रहते हैं, वे निपट बैल हैं इसमें कोई संदेह नहीं है। जो सामायिक, महामंत्र स्तवन आदि में भरपूर धर्म्यध्यान को नहीं करते हैं वे पाप के कारण नरक में पड़ते हैं। जिस प्रकार परमाणु से कोई छोटा नहीं और आकाश से अन्य कोई बड़ा नहीं है उसी प्रकार पंचनमस्कार मंत्र से बढ़कर और कोई मंत्र इस संसार में नहीं है। उमास्वामी श्रावकाचार में सामायिक की क्रिया करने वाले को कहा गया है कि वह मनुष्य भरतराज के समान शीघ्र ही केवलज्ञान की प्राप्ति करता है। श्रावकाचार सारोद्धार में स्पष्ट किया है कि सामायिक के समय गृहस्थ वस्त्र से परिवेष्टित मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त हो जाता है। जैसे — अग्नि काष्ठ को भस्म कर देती है, सूर्य बढ़ते हुए महान्धकार के समूह को विनष्ट कर देता है उसी प्रकार समता भावरूप स्वच्छ जल के प्रवाह से जिसके भीतर शांतस्वरूप लक्ष्मी होती है, ऐसा भव्य जीवों का प्रिय सामायिक रूप वृक्ष अति उद्धत कर्म के उदय से उत्पन्न ताप को शांत कर देता है।

4.4 प्रतिक्रमण का स्वरूप, विधि एवं महत्त्व —

श्रावकाचार संग्रह में अमितगति श्रावकाचार, धर्मसंग्रह श्रावकाचार एवं व्रतोद्योतन श्रावकाचार के अतिरिक्त किसी अन्य श्रावकाचार में प्रतिक्रमण के संबंध में विशेष विवेचना नहीं की गई है क्योंकि अव्रती श्रावक के लिए प्रतिक्रमण का

विधान आगमों में नहीं मिलता है अतः श्रावकाचार में भी इसकी विशेष विवेचना प्राप्त नहीं होती है। आचार्य अमितगति के अनुसार प्रतिक्रमण का स्वरूप और विधि इस प्रकार से है—

सायंकाल सम्बन्धी प्रतिक्रमण (दैवसिक प्रतिक्रमण) करते समय 108 श्वासोच्छ्वास वाला कायोत्सर्ग किया जाता है। प्रभातकाल संबंधी प्रतिक्रमण (रात्रिक प्रतिक्रमण) में उससे आधा अर्थात् 54 श्वासोच्छ्वास वाला कायोत्सर्ग कहा गया है। अन्य सर्व कायोत्सर्ग सत्ताईस श्वासोच्छ्वास काल प्रमाण कहे गये हैं। संसार के उन्मूलन में समर्थ पंचनमस्कार मंत्र के नौ बार चिंतन करने पर सत्ताईस श्वासोच्छ्वासों में बोलना या मन में उच्चारण करना चाहिए। बाहर से भीतर की ओर वायु के खींचने को श्वांस कहते हैं। भीतर की ओर से बाहर वायु के निकालने को उच्छ्वास कहते हैं। इन दोनों के समूह को श्वासोच्छ्वास कहते हैं। श्वांस लेते समय 'णमो अरहंताणं' पद और श्वांस छोड़ते समय 'णमो सिद्धाणं' पद बोलें। पुन : श्वांस लेते समय 'णमो आइरियाणं' पद और श्वांस छोड़ते समय 'णमो उवज्झायाणं' पद बोलें। पुनः 'णमो लोए' को श्वांस लेते समय और 'सव्व साहूणं' पद श्वांस छोड़ते समय बोलना चाहिए। इस विधि से नौ बार णमोकारमंत्र के उच्चारण के चिंतन में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास प्रमाण काल का एक जघन्य कायोत्सर्ग कहा गया है। श्रावकों को प्रतिदिन दो बार प्रतिक्रमण, चार बार स्वाध्याय, तीन बार वंदना और दो बार योगभक्ति करना चाहिए। उत्कृष्ट श्रावक को ये सर्व कार्य प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए और संसार के पार जाने के इच्छुक अन्य पुरुषों को उन्हें यथाशक्ति करना चाहिए।

प्रतिक्रमण के संदर्भ में अन्य कृतियों में भी निम्नलिखित प्रकार से विचार व्यक्त किये गये हैं, जो दृष्टव्य हैं—

व्रत में लगे हुए दोषों का पश्चाताप प्रतिक्रमण है तथा आगामी काल के लिए दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। जहाँ पर प्रतिक्रमण होता है वहीं पर प्रत्याख्यान भी अवश्य होता है क्योंकि पिछले दोषों का वास्तविक प्रतिक्रमण वहीं पर होता है जहां पर साथ-साथ यह दृढ़ त्याग होता है कि आगामी ऐसे दोष नहीं लगाऊँ। अव्रती के कोई व्रत ही नहीं होते जिसमें दोष लगे और जिनका वह प्रतिक्रमण करे और न वह आगामी व्रत धारण करके पूर्वकृत दोषों को त्यागने के लिए कटिबद्ध है, फिर अव्रती के प्रतिक्रमण कैसे संभव है ? प्रथम प्रतिमा से व्रत प्रारंभ हो जाते हैं और वहीं पर प्रतिक्रमण प्रारंभ हो जाता है। आचार्यों ने भी प्रथम प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा तक श्रावकों के लिये और महाव्रतधारी मुनियों के लिए प्रतिक्रमण पाठ रचे हैं किन्तु अव्रती के लिए किसी भी आचार्य ने प्रतिक्रमण पाठ नहीं रचा। कालदोष से कुछ ऐसे भी जीव उत्पन्न हो गए हैं जो त्यागी का भेष धारण करके आगमविरुद्ध पुस्तकें रचने लगे हैं और उनको प्रकाशित करके केवल अपने आप ही नहीं किन्तु अन्य को भी कुगति का पात्र बनाते हैं।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि श्रावकाचार संग्रह में शिक्षाव्रतों के स्वरूप में सामायिक शिक्षाव्रत को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। जिसका विवेचन विस्तार से प्राप्त होता है। प्रतिमाओं के विवेचन में सामायिक प्रतिमा की विवेचना विस्तार से की गई है, जिसका महत्त्व पूर्व में हम विवेचित कर आये हैं। प्रतिक्रमण के स्वरूप, विधि और महत्व के संबंध में अमितगति श्रावकाचार के अतिरिक्त अन्य श्रावकाचारों में श्रावक के षट्आवश्यक में मात्र उल्लेख मिलता है। उसके स्वरूप, विधि एवं महत्त्व के संबंध में आचार्यों ने कलम नहीं चलायी है, यही कारण है कि दिगम्बर परंपरा में श्रावकों में प्रतिक्रमण करने की परम्परा नगण्य है। इससे सिद्ध है कि श्रावकों को दान-पूजा के साथ-साथ सामायिक आवश्यक है परन्तु प्रतिक्रमण आवश्यक नहीं है।

4.5 रत्नकरण्ड श्रावकाचार के परिप्रेक्ष्य में वैयावृत्य : दान भी, धर्म भी-

भारतीय संस्कृति में दो परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। जिनमें से एक वैदिक परम्परा, दूसरी श्रमण परम्परा। श्रमण परम्परा में भी दो दर्शन समान रूप से सम्मिलित हैं—एक बौद्धदर्शन, दूसरा जैनदर्शन। प्रत्येक दर्शन में भिन्न-भिन्न अवधारणायें हैं जिनमें कोई निवृत्तिपरक है तो कोई प्रवृत्तिपरक है, जिसमें जैनदर्शन दोनों अवधारणाओं का

समन्वय करता हुआ पूर्व में प्रवृत्ति का पालन करने का उपदेश देता है और पीछे धीरे-धीरे प्रवृत्ति को छोड़कर निवृत्ति में पहुँचने को कहता है।

जैनधर्म तथा दर्शन की परम्परा अनादि-अनन्त है, जो अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहमान रही है और अनन्तकाल तक निर्बाध रूप से प्रवाहित रहेगी। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव के अन्तस् में भगवद् शक्ति निहित है जिसको वह प्रकट कर ले तो स्वयं ईश्वर बन सकता है। जैनदर्शन ऐसा दर्शन है जो स्वकल्याण करने का उपदेश तो देता ही है साथ में परकल्याण करने का भी उपदेश देता है। पूज्य आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

आदहिदं कादव्वं आदहिदं परहिदं च कादव्वं।
आदहिद परहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।।

जिस प्रकार तीर्थंकर पहले स्वकल्याण करते हैं और केवलज्ञान हो जाने पर विश्व के समस्त प्राणियों को उनके हित का उपदेश देकर सबका कल्याण करते हैं। विश्व के समस्त प्राणियों का हित चाहने वाला होने के कारण ही उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है और तीर्थंकरत्व प्राप्त करने के बाद अरहंतावस्था पर्यन्त दिव्यध्वनि के माध्यम से सबका कल्याण करते हैं। धन्य हैं वे तीर्थंकर और धन्य है उनकी विश्वहित भावना। वह तीर्थंकर पद और वह भावना किस प्रकार से प्राप्त हो इस पर आचार्य कहते हैं कि वह भावना हमारे अन्तरंग में वैयावृत्य से उत्पन्न हो सकती है, जो स्व पर हितकारिणी है। इससे स्वयं का कल्याण तो होता ही है साथ में पर का कल्याण भी होता है। जब दूसरे की वैयावृत्य करते हैं तो ये हमारे अन्तरंग के धर्मस्वभाव को प्रकट करता है जिससे पर को स्वयं की वस्तु अथवा अन्य प्रकार का सहयोग भी मिलता है तो दान भी हो जाता है अतः आचार्यों ने वैयावृत्य को दान एवं धर्म दोनों रूपों में स्वीकार किया है।

वैयावृत्य का लक्षण करते हुए आचार्य समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि—

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन।।

अर्थात् तपरूप धन से युक्त तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों के भण्डार गृहत्यागी मुनीश्वर के लिए विधि-द्रव्य आदि सम्पत्ति के अनुसार प्रतिदान और प्रत्युपकार की अपेक्षा से रहित धर्म के निमित्त जो दान दिया जाता है वह वैयावृत्य कहलाता है। दुःखनिवृत्ति जिसका प्रयोजन है उसे वैयावृत्य कहते हैं। अन्य आचार्यों ने वैयावृत्य के स्थान पर अतिथिसंविभाग शब्द का प्रयोग भी किया है। अतिथिसंविभाग व्रत में जिस प्रकार अतिथि के लिये दान की प्रधानता है उसी प्रकार वैयावृत्य में भी दान की प्रधानता है क्योंकि आहारादि दान के द्वारा अतिथि की दुःखनिवृत्ति का ही प्रयोजन सिद्ध होता है। अतिथिसंविभाग शब्द में मात्र चार प्रकार के दानों का समावेश होता है। उसके अतिरिक्त संयमीजनों की जो सेवा-सुश्रूषा है उसका समावेश नहीं होता और वैयावृत्य शब्द में दान और सेवा-सुश्रूषा सबका समावेश होता है इसलिए समन्तभद्रस्वामी ने 'वैयावृत्य' इस व्यापक शब्द को स्वीकृत किया है। समन्तभद्रस्वामी जैन न्याय के जनक के रूप में विख्यात हैं अतः उनके द्वारा सभी विषयों में समीचीन रूप से विचार करके ही किसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। इस कारण से ही इन्होंने 'वैयावृत्य' जो व्यापक शब्द है उसको शिक्षाव्रत में सम्मिलित किया है।

इसी सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने वैयावृत्य की एक और परिभाषा निर्दिष्ट करते हुए कहा है—

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्।।

अर्थात् सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्रीति से देशव्रत और सकलव्रत के धारक संयमीजनों पर आगत नाना प्रकार की आपत्ति को दूर करना, हाथ-पैर आदि अंगों का दबाना और इसके सिवाय अन्य भी जितना उपकार है वह सब वैयावृत्य

कहा जाता है। व्यवहारनय से परस्पर की सहानुभूतिपूर्ण प्रवृत्ति से ही चतुर्विध मुनिसंघ का निर्वाह होता है। गृहस्थ मुनिधर्म की शिक्षा लेने के उद्देश्य से शिक्षाव्रतों का पालन करता है इसीलिये उसके शिक्षाव्रतों में वैयावृत्य नाम रखा गया है। वैयावृत्य करते समय किसी प्रकार की ग्लानि या मान-सम्मान का भाव नहीं रखना चाहिये क्योंकि स्वार्थबुद्धि से किया गया वैयावृत्य धर्म का अंग नहीं हो सकता। जो सेवा किसी स्वार्थबुद्धि से की जाती है तो वह श्ववृत्ति (कुक्कुरवृत्ति) कहलाती है और जब निःस्वार्थ भाव से की जाती है तब परमधर्म कहलाती है अर्थात् कर्म-निर्जरा का कारण मानी जाती है।

अन्य आचार्यों ने भी वैयावृत्य के लक्षण अथवा परिभाषा को अपने ग्रंथों में उल्लिखित किया है—

आचार्य कार्तिकेयस्वामी लिखते हैं कि—"जो मुनि उपसर्ग से पीड़ित हों और बुढ़ापे आदि के कारण जिनकी काया क्षीण हो गई हो, उन मुनियों का जो अपनी पूजा प्रतिष्ठा की अपेक्षा न रखते हुए सत्कार करता है, वह वैयावृत्य तप का पालन करता है। गुणी पुरुषों के दुःख में आ पड़ने पर निर्दोष विधि से उनका दुःख दूर करना वैयावृत्य भावना है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि किसी गुणवान् के दुःख की उत्पत्ति होने पर निर्दोष विधि से उसको दूर करना वैयावृत्य है।

आचार्य अकलंक स्वामी लिखते हैं कि आचार्य आदि पर व्याधि, परीषह, मिथ्यात्व आदि का उपद्रव होने पर उसका प्रासुक औषधि, आहार-पान, आश्रय, चौकी, तख्ता और सांथरा आदि धर्मोपकरणों से प्रतिकार करना तथा सम्यक्त्व मार्ग में दृढ़ करना वैयावृत्य है। औषधि आदि का अभाव होने पर अपने हाथ से खकार, थूंक, नाक आदि भीतरी मल को साफ करना और उनके अनुकूल वातावरण को बनाना आदि भी वैयावृत्य है।

इसी संदर्भ में आचार्य श्री वीरसेनस्वामी ने भी वैयावृत्य का लक्षण बताते हुए कहा है कि रागादि से व्याकुल साधु के विषय में जो कुछ भी किया जाता है उसका नाम वैयावृत्य है।

महामात्य चामुण्डराय जी लिखते हैं कि शरीर की पीड़ा अथवा दुष्ट परिणामों को दूर करने के लिए शरीर की चेष्टा से किसी औषधि आदि अन्य द्रव्य से अथवा उपदेश देकर प्रवृत्त होना अथवा कोई भी क्रिया करना वैयावृत्य है। यह परिभाषा आत्म व्यावृत्ति की ओर संकेत करती है।

चतुर्विध संघ के ऊपर आए हुए उपद्रव को दूर करना ही वैयावृत्य है। इसमें सबसे प्रमुख साधुओं को आहारदान देना गर्भित है। इसी में अतिथिसंविभाग को भी ग्रहण कर लिया है। उसी दान के स्वरूप को बताते हुए आचार्य समन्तभद्रस्वामी लिखते हैं कि—

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्।।

अर्थात् सात गुणों से सहित और कौलिक, आचारिक तथा शारीरिक शुद्धि से सहित दाता के द्वारा गृहसम्बन्धी कार्य तथा खेती आदि के आरम्भ से रहित सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित मुनियों का नवधाभक्तिपूर्वक आहार आदि के द्वारा जो गौरव किया जाता है, वह दान है।

नवधा भक्ति—आहारदान के नौ सोपान होते हैं, जिन्हें आचार्य नवधा भक्ति के रूप में प्ररूपित करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

पड़गाहन, उच्चासन, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, एषण आदि आहारशुद्धि। ये नौ पुण्य कहलाते हैं और इन्हीं को नवधाभक्ति कहते हैं।

पंचसूना—जीवघात के स्थान को सूना कहते हैं। इनको श्रावक न चाहते हुए भी करता ही है क्योंकि इन कार्यों के बिना गृहस्थाश्रम का निर्वहन नहीं हो सकता। श्रावक को आहार आदि के निर्माण में कुछ अल्प पाप बंध होता भी है तो भी वह पतन का कारण नहीं है क्योंकि चतुर्विध संघ को आहार देने से महान् पुण्य का बंध होता है। वे पाँच सूना इस प्रकार हैं—

1. **खण्डनी** - ऊखली से कूटना।
2. **प्रेषणी** - चक्की से पीसना।
3. **चुल्ली** - चूल्हे में आग जलाना।
4. **उदक्कुम्भ** - पानी के घट भरना।
5 **प्रमार्जनी** - बुहारी (झाड़ू) से भूमि को साफ करना।

ये पाँच हिंसा के कार्य गृहस्थ के होते ही हैं। खेती, व्यापारादि कार्य आरम्भ कहलाते हैं। जिनके आरम्भ और सूना नष्ट हो चुके हैं ऐसे सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित मुनियों का आहारादि दान के द्वारा जो गौरव अथवा आदर किया जाता है वह दान कहलाता है।

4.6 वैयावृत्य के भेद—

आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी ने दान को वैयावृत्य के अंग के रूप में स्वीकृत किया है। दान को सभी आचार्यों ने चार प्रकार का माना है और आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने भी चार प्रकार का दान स्वीकार किया है।

आहारौषधियोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः।।

अर्थात् विद्वज्जन आहार, औषधि, उपकरण और आवास भेद से दान के वैयावृत्य को चार प्रकार का कहते हैं। भोजन-पात्रादि को आहार कहते हैं, बीमारी को दूर करने वाले पदार्थ को औषधि कहते हैं। ज्ञानोपकरणादि को उपकरण और वसतिका आदि को आवास कहते हैं। इन चार दानों में कौन-कौन प्रसिद्ध हुआ इसको भी आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी बताते हैं कि आहारदान में राजा श्रीषेण, औषधिदान में वृषभसेना, उपकरण दान में कौण्डेश ग्वाला और वसतिका दान में सूकर प्रसिद्ध हुए हैं।

आचार्य वट्टकेर स्वामी ने लिखा है कि गुणाधिक में, उपाध्यायों में, तपस्वियों में, शिष्यों में, दुर्बलों में, साधुओं में, गण में, साधुओं के कुल में, चतुर्विध संघ में, मनोज्ञ में उपद्रव आने पर वैयावृत्य करना श्रावक का परम कर्तव्य है। आचार्य उमास्वामी ने भी पात्र की अपेक्षा वैयावृत्य के दस भेद किये हैं—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य (शिष्य), ग्लान (रोगी), गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ।

4.7 दाता की पात्रता—

दान सात गुणों से सहित दाता के द्वारा दिया जाता है। आचार्यों ने सात गुणों का वर्णन किया तो है परन्तु अलग-अलग आचार्यों ने अलग-अलग सात गुणों का कथन किया है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार के टीकाकार आचार्य श्री प्रभाचन्द्रस्वामी के अनुसार दाता के सात गुण इस प्रकार हैं—श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा, और सत्व। ये सात गुण जिसके होते हैं वह दाता प्रशंसनीय है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने भी दाता सात गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है—ऐहिक फल की इच्छा न करना, शान्ति, निष्कपटता, अनसूया अर्थात् अन्य दाताओं से ईर्ष्या न करना, अविषादित्व, मुदित्व और निरहंकारित्व।

दाता की शुद्धता का विचार तीन प्रकार से किया जाता है—

1. **कौलिकशुद्धि**—जिसकी वंश परम्परा शुद्ध हो उसे कुलशुद्ध कहते हैं।
2. **आचारिकशुद्धि**—जिसका आचरण शुद्ध हो, उसे आचार शुद्ध कहते हैं।
3. **शारीरिकशुद्धि**—जिसने स्नानादिक कर शुद्ध वस्त्र धारण किए हैं, अंग-भंग नहीं हैं, शरीर में कोई राध-रुधिर को बहाने वाली बीमारी नहीं हो, वह शारीरिकशुद्ध है।

वैयावृत्य का फल—वैयावृत्य करने वाले गृहस्थ को किन-किन फलों की प्राप्ति होती है, उसका वर्णन करते हुए आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी लिखते हैं कि—

गृहकर्मणापि निचितं, कर्म विमार्ष्टिखलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा, रुधिरमलं धावते वारि।।

अर्थात् निश्चय से जिस प्रकार जल खून को धो देता है उसी प्रकार गृहरहित निर्ग्रन्थ अर्थात् परिग्रहरहित साधु को (ना कि गृह आदि से रहित साधु को) दिया गया दान गृहसम्बन्धी कार्यों से उपार्जित अथवा सुदृढ़ भी कर्म को नष्ट कर देता है क्योंकि श्रावक को प्रतिदिन की क्रियाओं में नियम से बहुत कर्मबन्ध होता है इसलिए उन कर्मों का भार इन वैयावृत्य-दानादि क्रियाओं के करने से कम हो जाता है और परम्परा से मोक्ष पद की प्राप्ति कराने में सहायक होता है। आगे आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी लिखते हैं कि तप के भण्डारस्वरूप मुनियों को नमस्कार करने से उच्च गोत्र, आहार आदि, दान देने से भोग, प्रतिग्रहण आदि करने से सम्मान, भक्ति करने से सुन्दर रूप और स्तुति करने से सुयश प्राप्त होता है।

वैयावृत्य का माहात्म्य बताते हुए आचार्य कहते हैं कि उचित समय में योग्य पात्र के लिए दिया गया थोड़ा भी दान उत्तम पृथ्वी में पड़े हुए वटवृक्ष के बीज के समान प्राणियों के लिए माहात्म्य और वैभव से युक्त पक्ष में छाया की प्रचुरता से सहित बहुत भारी अभिलषित फल को देता है।" यहाँ पर आचार्य समन्तभद्रस्वामी का तात्पर्य है कि जो मुनि दान/वैयावृत्य के योग्य हैं और उन्हें जिस समय जिस वस्तु की आवश्यकता है उसी समय थोड़ा सा भी दिया गया दान अतिशय पुण्य का कारण बनता है और मोक्षप्राप्ति में भी सहायक होता है। यदि कुपात्रों या अपात्रों को प्रचुर भी दान दे दिया तो भी कुभोगभूमि का ही कारण होता है। दान देने में मात्रा (परिमाण) नहीं, भावना और आवश्यकतानुसार पदार्थ का माहात्म्य होता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य पात्रदान के फलस्वरूप स्वर्ग में उत्पन्न होता है और मिथ्यादृष्टि मनुष्य भोगभूमि में उत्पन्न होता है। कुपात्रदान का फल कुभोगभूमि और अपात्रदान का फल नरक एवं निगोद आदि हैं। अन्य आचार्यों ने भी दान की महिमा का बहुत गुणगान किया है। दान की महिमा का बखान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो भी तीर्थंकर को प्रथम आहारदान देता है वह नियम से उसी भव से मोक्ष जाता है। प्रथमानुयोग का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि तीर्थंकर, ऋद्धिधारी मुनि आदि को दान देने पर श्रावकों के घर पर पञ्चाश्चर्य प्रकट होते हैं। ये सब दान की ही महिमा है। राजा श्रेयांस आदिनाथ स्वामी को इस युग का प्रथम आहारदान देने के कारण दान तीर्थप्रवर्तक कहलाते हैं।

4.8 अर्हत्पूजा भी वैयावृत्य है—

सामान्यजनों को यह विश्वास है कि साधु की सेवा करना ही वैयावृत्य है परन्तु आचार्यों ने साधु की वैयावृत्य के अतिरिक्त देव और शास्त्र की वैयावृत्य करने का भी निर्देश दिया है। श्रावक और साधक अरिहन्त की सेवा-सुश्रूषा, पूजाभक्ति आदि के द्वारा महान् पुण्य का बन्ध करते हैं। यहाँ पर श्रावक को द्रव्य एवं भाव दोनों पूजाओं के द्वारा वैयावृत्य का निर्देश है और मुनि को केवल भावपूजा के द्वारा अरिहन्त की भक्ति करना चाहिए। जो श्रावक अरिहन्त की पूजा के निमित्त से जिनमन्दिर में जिनप्रतिमा को स्थापित कराके अरिहन्त की वैयावृत्य से स्वतन्त्र हो जाते हैं उनके लिए आचार्यों ने निर्देश दिया है कि भले ही प्रतिमा विराजमान कराना महान् पुण्य का कारण है परन्तु प्रतिमा विराजमान कराके जो समझते हैं कि मेरा सारा काम हो गया, यदि ऐसा सोचकर पूजा करने नहीं आते हैं तो ऐसे व्यक्ति कुल सहित विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे कई उदाहरण प्रत्यक्ष देखने में भी आए हैं।

आचार्यों ने मुनियों के साथ-साथ श्रावकों के भी छह आवश्यक बताए हैं जिनमें से प्रथम आवश्यक देवपूजा है। जिनेन्द्र भगवान् के गुणानुवादस्वरूप स्तुति, वन्दना आदि करना देवपूजा कहलाती है। आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने भी

अर्हत्पूजा की प्रेरणा दी है और कहा है कि श्रावक को आदरयुक्त होकर सब पापों को नाश करने वाली, काम और दुःखों को दूर करने वाली अर्हत्पूजा अवश्य करनी चाहिए। अर्हत्पूजा में एक मेंढक की भक्ति से प्रसन्न होकर आचार्य ने भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कथन किया है।

हम अरिहन्त भगवान् की पूजा करते हैं तो उसमें अरिहन्त भगवान् का कोई राग द्वेष नहीं है, न ही भगवान् का कुछ भला होता है और न ही भगवान् की पूजा करने से भगवान् खुश होकर किसी का भला करते हैं। अगर ऐसा माना जाए तो भगवान् की वीतरागता का अभाव हो जाएगा इसीलिए भगवान् की पूजा में अपने भाव और आत्मपरिणामों से ही कल्याण होता है, इससे स्वयं की ही वैयावृत्य हो जाती है। अर्हत्पूजा में ही पंचपरमेष्ठी की भक्ति समन्वित है और शास्त्र की पूजा भी समन्वित है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् और उनकी वाणी में कुछ भी अंतर नहीं है ऐसा आचार्यों का कथन है। अरिहन्त के गुणों की पूजन करते हुए हम अपने ही गुणों की पूजा करते हैं जिससे उन गुणों का प्रकटीकरण हो जाए।

वैयावृत्य के अतिचार—वैयावृत्य के पाँच अतिचारों का वर्णन भी आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने किया है जो इस प्रकार हैं—

हरितपिधाननिधाने, ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्यस्यैते, व्यतिक्रमा पञ्च कथ्यन्ते।

अर्थात् निश्चय से हरितपत्र आदि से देने योग्य वस्तु को ढंकना तथा हरितपत्र आदि पर देने योग्य वस्तु को रखना, अनादर, विस्मरण और मत्सरत्व ये पाँच वैयावृत्य के अतिचार कहे जाते हैं। इन्हीं पाँचों अतिचारों की तरह आचार्य उमास्वामी महाराज ने भी पाँच अतिचार बताये हैं—

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः।

इसमें परव्यपदेश और कालातिक्रम ये दो अतिचार भिन्न हैं। दूसरे दातार के द्वारा देने योग्य वस्तु को देना अथवा स्वयं आहार न देकर नौकर आदि से दिलवाना यह परव्यपदेश नामक अतिचार है। यह अतिचार अनादर का ही रूपान्तर प्रतीत होता है किन्तु कालातिक्रम भिन्न है। इस संदर्भ में अन्य आचार्यों ने भी आचार्य उमास्वामी का ही अनुकरण किया है।

4.9 उपसंहार—

वर्तमान समय में वैयावृत्य का स्वरूप अधिकतर जनसमुदाय को ठीक से ज्ञात नहीं है और न ही उन्होंने इसके विषय में अधिक अध्ययन करने का विचार किया है। अधिकांशतः सभी का अभिप्राय होता है कि नगर/ग्राम में साधु संघ अथवा आर्यिका संघ आया है तो शाम को उनके हस्त, पाद, मस्तक आदि दबाना ही वैयावृत्य है। कोई पूछता है कि कहाँ से आ रहे हैं ? जवाब आता है कि वैयावृत्य करके आ रहे हैं। वे समझते हैं कि यही वैयावृत्य है, परन्तु ऐसा नहीं है अपितु अन्य और भी साधुवर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी वैयावृत्य है। यहाँ आवश्यकता का आशय है—जो साधुवर्ग के ज्ञान-ध्यान-तप में साधक बनें उन वस्तुओं की पूर्ति करना, यथा—शास्त्रदान, स्वास्थ्य सम्बन्धी एवं अध्ययनोपयोगी सामग्री की व्यवस्था करना।

कुछ लोगों के मन में विपरीत मान्यताएं हैं जिसका कारण है स्वाध्याय में अप्रवृत्ति, वे लोग शास्त्रसम्मत चर्चायें कभी नहीं कर सकते हैं। वे कहते हैं कि साधुवर्ग को तेल आदि लगाकर हस्तादि की मालिश करना दोषपूर्ण है क्योंकि उनके ऐसा करने से लेपाहार हो जाता है और उनके आहार ग्रहण का दोष आता है। परन्तु लेपाहार क्या कहलाता है ? और किनके होता है ? यह जानना आवश्यक है। आचार्यों ने लेपाहार वृक्षों आदि के कहा है। जो वातावरण से कार्बन डाई ऑक्साइड और जमीन से जल आदि से पोषक तत्त्वों को ग्रहण करते हैं वह लेपाहार कहलाता है।

वैयावृत्य करने वाले का ही मुख्यतया भला होता है क्योंकि वैयावृत्य से महान् पुण्य का बंध होता है।

भगवती आराधना में श्री शिवकोटि आचार्य लिखते हैं कि वैयावृत्य करने वाले को बहुत से गुणों की प्राप्ति होती

है। केवल स्वाध्याय करने वाला स्वयं की ही उन्नति कर सकता है जबकि वैयावृत्य करने वाला स्वयं को एवं अन्य को दोनों को उन्नत बनाता है। स्वाध्याय करने वाले पर यदि विपत्ति आती है तो उसको वैयावृत्य करने वाले की ओर ही मुड़कर देखना होता है। वैयावृत्य समाधि की प्राप्ति, विचिकित्सा का अभाव और प्रवचनवात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिए की जाती है और जो सम्यग्दृष्टि जीव वैयावृत्य करता है वह उसके लिए निर्जरा का कारण बनती है। यदि कोई वैयावृत्य नहीं करता है तो आचार्य कहते हैं कि जो समर्थ होते हुए तथा अपने बल को छिपाते हुए भी जिनोपदिष्ट वैयावृत्य नहीं करता है वह वास्तविक धर्मात्मा नहीं है। जिनाज्ञा का लोप, शास्त्रकथित धर्म का नाश, साधुवर्ग का एवं आगम का त्याग, ऐसे दोष वैयावृत्य न करने से उत्पन्न होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी विरचित प्रवचनसार की टीका में आचार्य जयसेन स्वामी लिखते हैं कि—रोगी, बाल, गुरु तथा वृद्ध श्रमणों की वैयावृत्य के निमित्त शुभोपयोगयुक्त लौकिक जनों के साथ की गई बातचीत निन्दित नहीं है, यह प्रशस्तभूत चर्या रागसहित होने के कारण श्रमणों को गौण होती है और गृहस्थों को क्रमशः परमनिर्वाण सौख्य का कारण होने से मुख्य है। वैयावृत्य की तप में भी और सोलहकारण भावनाओं में भी गणना है। जो वैयावृत्य तीर्थंकर प्रकृति का बंध कराती है, ऐसी भावना को आवश्यक रूप से धारण करना ही चाहिए।

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने वैयावृत्य को शिक्षाव्रत के साथ-साथ दान में भी ग्रहण किया है। दानादि करना एवं शिक्षाव्रतों का पालन करना हम सबका धर्म है अतः हम कह सकते हैं कि वैयावृत्य—दान भी है और धर्म भी है।

4.10 सूतक-पातक वर्णन-

बालक का जन्म होने पर जो घर वालों को और कुटुम्बियों को कुछ कालावधि के लिए देवपूजा, आहारदान आदि का कार्य वर्जित किया जाता है, उसी का नाम सूतक है एवं किसी के मरण के बाद जो अशौच होता है, उसे पातक संज्ञा है। यह सूचक-पातक आर्षग्रंथों से मान्य है। व्यवहार में जन्म-मरण दोनों के अशौच को सूतक शब्द से जाना जाता है।

जातीय बन्धुओं में प्रत्यासन्न और अप्रत्यासन्न ऐसे दो भेद होते हैं। चार पीढ़ी तक के बंधुवर्ग प्रत्यासन्न या समीपस्थ कहलाते हैं, इसके आगे अप्रत्यासन्न कहलाते हैं।

जन्म का सूतक चार पीढ़ी वालों तक के लिए 10 दिन का है। पाँचवी पीढ़ी वालों को 6 दिन का, छठी पीढ़ी वालों को 4 दिन का और सातवीं पीढ़ी वालों को 3 दिन का है। इससे आगे वाली पीढ़ी वालों के लिए सूतक नहीं है, ऐसे ही मरण का सूतक चार पीढ़ी वालों तक के लिए 10 दिन का, पाँचवी पीढ़ी के लिए 6 दिन का आदि है।

जन्म का सूतक चल रहा है, इसी बीच परिवार में मरण का सूतक आ जाने पर वह जन्म के सूतक के साथ समाप्त हो जाता है, ऐसे ही मरण के सूतक में जन्म का सूतक आ जाने पर उसी पहले वाले मरण के सूतक के साथ समाप्त हो जाता है, ऐसे ही जन्म का सूतक यदि 5-6 दिन का हो चुका है पुनः परिवार में किसी का जन्म हो जाये तो वह सूतक पहले के साथ ही निकल जाता है। यदि पहले सूतक के अंतिम दिन पुनः किसी का जन्म आदि होवे, तो दो दिन सूतक और मानना चाहिए। यदि दूसरे दिन होवे तो तीन दिन का और मानना चाहिए।

तपस्वियों को जन्म और मरण का सूतक नहीं लगता है और तपस्वियों का मरण होने पर उनके परिवार वालों को भी सूतक नहीं लगता है। राजा के घर में पुत्र जन्म होने पर उनकी शुद्धि स्नानमात्र से हो जाती है। राजाओं को सूतक नहीं लगता है।

मंत्री, सेनापति, राजा, दास और दुर्भिक्ष आदि आपत्ति से पीड़ित लोग इनके मरने पर भी सूतक नहीं लगता है। युद्ध में मरने पर भी सूतक नहीं लगता है।

गर्भवती का तीन महीने के अंदर ही यदि गर्भस्राव हो जावे तो उसे ही तीन दिन का अशौच है। तीन महीने से लेकर

छह महीने तक का यदि गर्भपात हो जाता है तो जितने महीने का हो, उतने दिन का अशौच है। छह महीने के बाद और आठ महीने तक में यदि गर्भपात होकर नष्ट हो जाता है तो माता को पूरे 10 दिन का अशौच है, पिता को स्नानमात्र से शुद्धि है।

नाभि छेदन से पहले यदि बालक मर जाये तो माता को पूर्ण 10 दिन का अशौच है, पिता व बंधुओं को तीन दिन का है। 10 दिन के पहले यदि मर जावे तो पिता व सबको 10 दिन का है। दस दिन पूर्ण होने पर अंतिम दिन यदि बालक मर जाये तो दो दिन का अशौच और पालना चाहिए। दूसरे दिन प्रातः मरण होने पर तीन दिन अशौच और पालना चाहिए। 10 दिन बाद मरण होने पर माता-पिता व सहोदरों को दस दिन का अशौच है। इतर बांधवों को स्नानमात्र से शुद्धि है। दांत आने के बाद मरण होने पर पिता, भ्राता को दस दिन का तथा शेष जनों को स्नानमात्र से शुद्धि है। चौल कर्म के बाद बालक के मरने पर पिता-भ्राता को 10 दिन का, चार पीढ़ी वालों तक 5 दिन का, आगे की पीढ़ी वालों को एक दिन का है। उपनयन के बाद मरण होने पर चार पीढ़ी वालों तक 10 दिन का अशौच है।

पुत्री का मरण यदि चौलकर्म से पहले हो जावे तो बंधुओं को स्नानमात्र से शुद्धि है। व्रतसंस्कार से पहले मरण होने पर एक दिन का अशौच है। विवाह से पहले मरने पर तीन दिन का अशौच है। विवाहित पुत्री का पतिगृह में मरण होने पर माता-पिता को दो दिन का अशौच है। शेष जाति बांधवों को स्नानमात्र से शुद्धि है। पतिपक्ष वालों को पूर्ण 10 दिन का सूतक है। यदि वह स्त्री पिता के घर में मरण पावे या प्रसूत हो तो माता-पिता को तीन दिन का अशौच है और उस पक्ष वालों को एक दिन का अशौच है।

दूर देश के अपने परिवार के किसी व्यक्ति के मरण का समाचार मिलने पर अवशिष्ट दिन का सूतक पालना चाहिए। जन्मादि होकर 10 दिन बाद समाचार मिलने पर तीन दिन का अशौच मानना चाहिए। अगर एक वर्ष बाद मरण समाचार ज्ञात हो तो स्नानमात्र करना चाहिए। इस प्रकार यह संक्षिप्त सूतक-पातक विधि कही गई है।

4.11 रजस्वला स्त्री का अशौच-

महीने-महीने में जो रजःस्राव होता है, उस समय वो स्त्रियाँ रजस्वला कहलाती हैं । उन दिनों में उन्हें किसी भी वस्तु का स्पर्श नहीं करना चाहिए। देवता और गुरु का दर्शन भी नहीं करना चाहिए। अर्धरात्रि के अनन्तर रजस्वला होने पर प्रातःकाल से अशौच गिनना चाहिए। इस तरह रजस्वला स्त्री तीन दिन तक स्नान, अलंकार आदि न करे, ब्रह्मचर्य का पालन करे। चतुर्थ दिवस स्नान कर शुद्ध होकर घर के काम-काज कर सकती है, देवपूजा, गुरुपास्ति आदि कार्यों को पाँचवें दिन कर सकती है।

एक बार रजस्वला होने के बाद बारह दिन के अंदर ही यदि रजोदर्शन हो जाये तो वह स्नान मात्र से शुद्ध हो जाती है। यदि अठारह दिन के पहले रजःस्राव हो जाता है, तो भी स्नानमात्र से शुद्ध हो जाती है। यदि अठारहवें दिन होता है तो दो दिन का अशौच मानना चाहिए। अठारह दिन के बाद होने पर तीन दिन तक अशुद्धि मानी गई है। रजस्वला स्त्रियाँ यदि आपस में एक-दूसरे को स्पर्श कर लेती हैं तो उन्हें चतुर्थ दिवस शुद्ध होकर गुर्वानी के पास प्रायश्चित लेने का विधान है।

जो स्त्रियाँ रजस्वला के दिनों में अशौच का पालन नहीं करती हैं, सभी को छूती रहती हैं या भोजन बनाकर सभी को खिला देती हैं, वे इस लोक में स्वास्थ्य हानि के साथ-साथ धार्मिक परम्परा की हानि करती हैं तथा पाप का संचय करके अगले भव की भी हानि कर लेती हैं अतः महिलाओं को इन तीन दिनों में विवेकपूर्वक अशौच का पालन करना चाहिए।

4.12 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-तीसरी प्रतिमाधारी को अधिक से अधिक कितने घड़ी तक सामायिक का निर्देश किया गया है ?

(क) 2 घड़ी ☐
(ख) 4 घड़ी ☐
(ग) 6 घड़ी ☐

प्रश्न 2-सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचारों में से दूसरे अतिचार का नाम-

(क) मन में संकल्प-विकल्प करना ☐
(ख) सामायिक का अनादर करना ☐
(ग) काय का हलन-चलन करना ☐

प्रश्न 3-बालक के जन्म का सूतक चार पीढ़ी तक कितने दिन का है ?

(क) 10 दिन तक का ☐
(ख) 6 दिन तक का ☐
(ग) 12 दिन तक का ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-सामायिक शिक्षाव्रत और सामायिक प्रतिमा में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 2-सामायिक के समय कितने प्रकार की शुद्धि आवश्यक है, नामोल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 3-नवधाभक्ति किसे कहते हैं ? परिभाषा एवं क्रमानुसार नाम बताइए ?

प्रश्न 4-दाता की शुद्धता का विचार कितने प्रकार से किया जाता है, लक्षण सहित बताइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-वैय्यावृत्य की महिमा का विस्तृत वर्णन करते हुए यह भी बताइए कि क्या अर्हत्पूजा भी वैय्यावृत्य है ? अगर हाँ, तो कैसे ?

इकाई–3 आदर्श विद्यार्थी एवं श्रावक के कर्तव्य

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) विद्यार्थियों की आदर्श जीवनचर्या

(2) व्रत उपवास : वैज्ञानिक अनुचिंतन

(3) श्रावक की त्रेपन कियाएँ

(4) श्रावक धर्म के एकादश सोपान : ग्यारह प्रतिमा

पाठ-1 – विद्यार्थियों की आदर्श जीवनचर्या

1.1 संसार में विद्याएँ दो प्रकार की मानी गई हैं, एक 'अपरा' विद्या अर्थात् संसारी विद्या है और दूसरी 'परा' विद्या अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान है। पहली व्यक्ति की पेट-पूजा के लिये आवश्यक है और दूसरी आत्मकल्याण के लिये अनिवार्य है। सफल जीवन के लिये इन दोनों विद्याओं का समन्वय आवश्यक है।

प्रत्येक प्राणी की जन्म से मरण तक एक ही मौलिक माँग है—हमें सुख चाहिए। जीव का हर प्रयास इसी की प्राप्ति के लिये है। यदि यह जान लिया जाए कि हमें कैसा सुख चाहिये तो आगे की यात्रा बहुत सहज हो जायेगी। हम चाहते हैं ऐसा सुख जो सबसे मिले, सब जगह मिले और हर समय मिले। ऐसा सुख जो सर्वत्र मिले, सर्वदेश, सर्वकाल में मिले, प्रचुर मात्रा में मिले, बिना परिश्रम मिले तथा पराधीन न हो, ऐसे सुख को परम सुख कहा जाता है, शाश्वत-सुख (eternal happiness) कहा जाता है। इसी सुख की प्राप्ति है प्रत्येक प्राणी के जीवन का लक्ष्य। हम पढ़ाई कर रहे हैं इसी सुख के लिये, कल को व्यापार या नौकरी करेंगे इसी सुख के लिये, विवाह होगा, सन्तान होगी, इसी सुख की प्राप्ति के लिये इत्यादि। खोज इसी सुख की है परन्तु मिल तो यह नहीं रहा है। तो भूल कहाँ है ? अविनश्वर सुख की जगह नश्वर क्यों मिल रहा है ? आज के जो विद्यार्थी हैं, वे ही कल देश के नागरिक एवं कर्णधार होंगे। उन्हें अपने जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति हो सके, इसके लिये कतिपय दृष्टान्तों एवं महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित प्रेरक प्रसंगों को प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें निहित शिक्षाओं को अपनी जीवनचर्या में उतारकर वे अपने जीवन के शाश्वत लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

1.2 प्रतिबिम्ब नहीं बिम्ब पकड़ो-

एक राजकन्या अपनी सखियों के साथ जलक्रीड़ा के लिए गई है। सरोवर के किनारे राजकन्या ने अपना अनमोल गले का हार उतारकर रख दिया। स्नान का सम्पूर्ण सुख लेकर जल से बाहर निकल अपने कपड़े पहन रही है। राजकन्या का नौलखा हार नहीं मिल रहा। किसी सहेली की शरारत नहीं, क्योंकि सभी सरोवर के भीतर थीं। इधर-उधर खोजने पर भी न मिला। महल पहुँचकर राजा को सूचना दी गयी, नगर में घोषणा हुई, जो ढूँढकर लौटायेगा, उसे एक लाख रुपये इनाम मिलेगा। खोज शुरू, लेकिन सभी असफल। एक लकड़हारा प्यास से व्याकुल हो पानी पीने के लिये उसी सरोवर के किनारे गया। पानी पीते-पीते उसे हार नीचे तल पर पड़ा दिखायी दिया। उसकी प्रसन्नता की सीमा न रही, डुबकी लगायी, हार पकड़ने की कोशिश की परंतु हाथ में हार नहीं कीचड़ आता है। बाहर निकला, जल निश्चल हुआ, पुन : हार दिखा, डुबकी लगायी, फिर हाथ में पंक। जाकर राजा को सूचना दी। विशेषज्ञ बुलवाये गये, उनके भी सभी प्रयास विफल। सब चकित एवं निराश। एक सन्त का आगमन हुआ, भीड़ का कारण पूछा ? समस्या सुनी, कुशाग्र बुद्धि थे, अविलम्ब समझ गये कि हार ऊपर पेड़ पर लटक रहा था, जिसे पंछी उठाकर अपने घोंसले में ले गया था, उसी का प्रतिबिम्ब जल में दिखायी दे रहा था। छाया को कैसे पकड़ा जाए ? अत: सबके हाथ में कीचड़। हम चाहते तो बिम्ब हैं—परम सुख को और पकड़ रहे हैं प्रतिबिम्ब को, नश्वर सुख को, तो हाथ कीचड़ ही आता है अर्थात् दु:ख या

दु:खयुक्त सुख ही जीवन भर मिलता है, हमारी खोज ही त्रुटिपूर्ण है।

प्रतिबिम्ब से वस्तु प्राप्त नहीं होती अत: बिम्ब को पकड़ो अर्थात् उसे पकड़ो जहाँ सुख निवास करता है।

विषय सुख या सांसारिक सुख उस परमानन्द परम सुख की परछाई है अतएव संसार से कभी सुख नहीं मिलेगा। शान्ति, सुख और आनन्दरूपी हीरों का हार जिसे हम संसार में प्रतिबिम्ब की तरह पाने की कोशिश कर रहे हैं और निराश होते हैं–कीचड़ अर्थात् दु:ख बार-बार हाथ लगता है, उस सुख-शान्ति-आनन्द का स्रोत है परमात्मा अर्थात् बिम्ब। इसी की प्राप्ति है प्रत्येक जीवन का लक्ष्य।

आचार्य विनोबा भावे एक आँखों देखी घटना सुनाया करते थे—'मैं रेलयात्रा कर रहा था, डिब्बा खचाखच भरा था। एक स्टेशन से एक वृद्ध भिखारी फटे-पुराने कपड़े, पिचका पेट, बिखरे बाल, धँसी हुई आँखें, लाचारी का ढाँचा शरीर उसी डिब्बे में प्रविष्ट हुआ। यात्री उतर-चढ़ रहे थे। गाड़ी चल पड़ी। सभी अपनी-अपनी सीटों पर बैठ गये। भिखारी ने भजन गाना शुरू किया, आवाज में अद्‌भुत माधुर्य, जादू! सभी यात्री चुप, भजनानन्द में डूब गये। वृद्ध भजन गाता इधर-उधर आ-जा रहा था। भजन का अर्थ था—'परमात्मा की कृपा के बिना कुछ नहीं होता, वह न दे तो कोई कुछ पा नहीं सकता। वह दाताशिरोमणि देता ही देता है।' एक अमीर जमींदार ने भिखारी से पूछा—'दिन भर भजन गाकर कितना कमा लेते हो ?' उत्तर मिला—दो-चार आने मिल जाते हैं। रामेच्छा से जो मिल रहा है, ठीक है, उसी में खुश हूँ। "यह लो एक रुपया कई दिन चलेगा किंतु भजन नहीं, कोई फिल्मी गीत सुनाओ।' भिखारी नहीं माना, मैं भजन ही गाता हूँ।' अच्छा 100 रुपये ले लो, शेष जीवन सुख से निकलेगा, गाड़ी में भजन गाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। अब तक क्या मिला भजन गा-गाकर ? अब फिल्मी गीत गाया करो। "नहीं बाबूजी! क्षमा करें, कुछ रुपयों के लिये मैं अपना लक्ष्य नहीं बदल सकता, सन्मार्ग से भटक नहीं सकता। कुछ मिले न मिले, मैं भजन ही गाऊँगा।"

एक भिखारी अपनी गरीबी, भूख मिटाने के लिये, बदन ढकने के लिये प्रभु के मार्ग से हटना नहीं चाहता। कितने हैं ऐसे जिन्हें भौतिक सुख नहीं, अविनाशी सुख चाहिये ? एक भिखारी ने रामपथ चुन रखा है, उसे इसी में सन्तोष है, इस मार्ग पर उसे आनन्द मिलता है। वह भिखारी नहीं सम्राट है। विनोबाजी समझाते हैं—लक्ष्य तो है प्रभु प्राप्ति परन्तु व्यक्ति सांसारिक सुखों को ही लक्ष्य मान इसमें खोकर असली लक्ष्य को भूल जाता है अत: भटकता रहता है, सदा दु:खी रहता है। बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम लक्ष्य पर अडिग रहें तो मंजिल तक अवश्य पहुँचेंगे।

आज स्कूल-कॉलेजों में जो विद्या दी जा रही है, वह हमें रोटी-रोजी (आजीविका)कमाने योग्य बनाती है अत: यह विद्या बन्द नहीं करनी, पूरी तत्परता से इसे पूरा करना है पर साथ-ही-साथ परा विद्या का मिश्रण भी हो, तभी जीवन में पूर्णत्व की प्राप्ति होगी अन्यथा अधूरापन बना रहेगा।

एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक विदेश से भारत पधारे। उन्होंने किसी भारतीय सन्त से भेंट की हार्दिक इच्छा प्रकट की। दर्शनार्थ प्रबन्ध किया गया। वैज्ञानिक महोदय ने सन्त से पूछा—'आधुनिक विज्ञान के बारे में आपकी क्या राय है ?' सन्त ने कहा—'मेरी दृष्टि में इसका कोई मूल्य नहीं।' वैज्ञानिक चकित एवं व्यथित, कहा—'जिस विज्ञान ने मनुष्य को इतनी सुख-सुविधाएँ प्रदान कीं, उसे आप निरर्थक बता रहे हैं ?' महात्मा ने कहा—'आपकी इस वर्णित उपलब्धि से मैं सहमत हूँ परन्तु विज्ञान की सबसे बड़ी हार है कि वह मानव को मानव की भाँति जीना न सिखा सका, परस्पर प्रेम करना, दूसरों के काम आना, उन्हें सुख बाँटना न सिखा सका। मानव में मानवता प्रकट करने की योग्यता सांसारिक विद्याओं में नहीं है, यह महान् कार्य परा विद्या ही कर सकती है।' चूँकि हमें इन्सान की भाँति, एक नेक इन्सान की भाँति रहकर जीवन यापन की उत्कृष्ट इच्छा है अतएव दोनों विद्याओं का समन्वय अति आवश्यक है। प्राय: कहते सुना जाता है, 'अमुक व्यक्ति डॉक्टर तो बहुत अच्छा है, पर इन्सान किसी काम का नहीं, चरित्रहीन है, क्रोधी है, लोभी है। गुणवान बनना तथा दुर्गुणहीन मनुष्य बनना परा विद्या ही सिखाती है। मानवता अनमोल है।

डॉक्टर सी. वी. रमण एक सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक हुए हैं। इन्हें अपने कार्य में सहायता हेतु एक युवा वैज्ञानिक की आवश्यकता थी। अनेक अभ्यर्थी साक्षात्कार के लिये पधारे परन्तु सभी अयोग्य घोषित किये गये। कोई पसन्द नहीं आया। सभी लोग तो चले गये पर एक अभ्यर्थी रमणजी को उनके ऑफिस के बाहर चक्कर लगाता दिखा, पूछा—'जब तुम reject कर दिये गये हो तो व्यर्थ में आगे–पीछे क्यों घूम रहे हो ?' युवक ने कहा, सर! आप नाराज न हों। आने–जाने के लिये आपके ऑफिस की ओर से खर्चा दिया जाता है, गलती से मुझे अधिक दिया गया है, उसे लौटाने के लिये क्लर्क को ढूँढ रहा हूँ।' रमणजी ने तुरन्त कहा—'You are selected'। वैज्ञानिक क्षेत्र की कमी तो मैं पढ़ाकर, सिखाकर पूरी कर दूँगा परंतु गुणी, चरित्रवान् बनना तो मैं नहीं सिखा सकता। सांसारिक विद्या बेशक बहुत कुछ सिखा सकती है पर इन्सान बनना नहीं सिखा सकती। यह परा–विद्या ही सिखायेगी अतएव सार्थक, सम्पूर्ण जीवन के लिये इन दोनों विद्याओं का सम्मिश्रण हो। दोनों में से मात्र एक भौतिक विद्या का वरण न व्यवहारिक ही लगता है और न ही सही।

1.3 कुसंस्कारों का दुष्प्रभाव–

एक चित्रकार, चित्रकला में अति कुशल, सजीव चित्र बनाता। एक बार उसने एक नन्हे बालक का चित्र बनाया। भोला–भोला मुख इतना आकर्षक कि लाखों ने खरीदकर अपने घरों में लगाया। गृहों की शोभा बन गया वह चित्र। चित्रकार अति प्रसन्न, सुविख्यात हो गया। जब वह वृद्ध हो गया तो सोचा, आज जीवन का अन्तिम चित्र किसी ऐसे दुष्ट, क्रूर, अपराधी का बनाऊँगा, जिसकी आकृति से उसकी क्रूरता इस प्रकार झलके कि उस रचना को देख लोग कुकर्म–अपराध करना बन्द कर दें। ऐसे व्यक्ति की खोज में एक जेल में गया। अनेक बन्दी अपराधी देखे, एक पसन्द आ गया। उसके पास बैरक के बाहर बैठ उसका चित्र बनाना शुरू किया। अपराधी ने पूछा—मिस्टर! क्या कर रहे हो ?' 'आपका चित्र बना रहा हूँ।' 'मुझमें ऐसा क्या है ? चित्रकार ने मासूम बालक का चित्र दिखाते हुए कहा—'बन्धु! अनेक वर्ष पहले मैंने इसे बनाया था। लोगों को बेहद पसन्द आया था, आज आपका बनाना चाहता हूँ।' चित्र को देखकर बन्दी की आँखों में आँसू आ गये। चित्रकार ने कहा—'लगता है चित्र देख आपको अपने पुत्र की याद आ गयी। कृपया क्षमा करें, मैंने आपकी भावनाओं को आहत किया है।' 'नहीं चित्रकार! यह चित्र मेरे बच्चे का नहीं, मेरा है। अपने बचपन और वर्तमान को देख रोना निकल गया। कुसंस्कारों एवं कुसंगति के कारण और सुसंस्कार न मिलने के कारण दुष्प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर मैं एक क्रूर अपराधी बन गया।

काश ! मुझे कोई सन्मार्ग दिखाने वाला मिल जाता, जिसकी सत्संगति से मेरे सुसंस्कार उभर सकते, मैं भी ईश्वरोन्मुख हो सकता तथा महानता से युक्त होकर उनकी कृपा का, दया–करुणा का तथा उनके प्यार का पुण्यपात्र बन सकता, तो आज यह दुर्दशा न होती।' अगर आप सत्संगति का वरण करेंगे तो कुसंगति से बचे रहेंगे और जीवन में दिव्यता आ जाएगी। यही स्थान है जहाँ परा–विद्या सिखायी जाती है। यह हमें झुकना सिखायेगी, विनम्र बनना, अपने अभिमान को मारना सिखायेगी, हमें मानव बनना सिखायेगी, पशुता को मारेगी और मानवता को उभारेगी।

सबसे प्रेम करना तथा अपने भीतर से वैर–विरोध–घृणा का उन्मूलन करना सिखायेगी यह विद्या। दुर्गुणों, दोषों, दुर्बलताओं को दूर कर हमें सद्गुणों, जैसे—सद्भावना, सहनशीलता, क्षमा, संयम आदि से सम्पन्न करेगी यह विद्या। हमें यह नहीं सोचना कि अन्य न तो करते हैं, न कर ही पाये हैं तो हम क्यों करें ? नहीं, और सुधरे न सुधरें, हमें अपना सुधार करना है तब परमात्मा हमारा उद्धार करेगा। उद्धार उन्हीं का, जो चलने, आगे बढ़ने का अभ्यास जारी रखेंगे।

कक्षा में अध्यापक ने छात्र को जलती हुई मोमबत्ती दिखाई और पूछा—बताओ इसमें प्रकाश कहाँ से आया ?

छात्र ने कुछ सोचा और मोमबत्ती को फूँक मारकर बुझा दिया और प्रतिप्रश्न किया कि बताइये इसका प्रकाश कहाँ गया ?

सूचना क्रान्ति के इस युग में तात्कालिक जवाब या तर्कशक्ति सहजता से प्राप्त हो रही है जो बड़ों को भी निरुत्तर कर

देती है परन्तु उसका समग्र विकास करने वाली मेधा या बुद्धि सकारात्मक प्रशिक्षण से ही विकसित की जा सकती है।

वास्तव में हर बच्चे का जन्म एक अलग व्यक्तित्व के रूप में होता है। बच्चे कुछ कर्म संस्कार अपने पूर्वजन्मों से साथ लाते हैं तथा कुछ उत्तर गुणों के रूप में माता-पिता और वातावरण से सीखते हैं, ग्रहण करते हैं। विद्यार्थी जीवन एक ऐसी अवस्था है जिसमें प्रयास के द्वारा अन्तर्निहित शक्ति जाग्रत होती है और सम्पूर्ण जीवन उससे प्रभावित होता है।

1.4 विद्यार्थी के बारे में कहा गया है-

जीवन विज्ञान प्रणाली में विद्यार्थी के विकास के मुख्यतः चार आयाम बताये गये हैं—(1) शारीरिक विकास (2) मानसिक विकास (3) बौद्धिक विकास (4) भावनात्मक विकास।

छात्र प्रारम्भिक अवस्था में कच्ची मिट्टी के समान होते हैं जिसे कुशल प्रशिक्षक चाहे जैसा रूप प्रदान कर सकता है।

सर्वप्रथम है आहार—आहार पर ही स्वास्थ्य टिका हुआ है। स्वस्थ तन में ही स्वस्थ मन का निवास होता है अतः छात्रों का आहार मौसम के अनुकूल, पौष्टिक एवं बलबुद्धिवर्द्धक होना चाहिये ताकि स्वास्थ्य संबंधी कठिनाइयाँ उनके मेधा विकास में बाधक न बनें।

घर का वातावरण—छात्र की प्रथम पाठशाला घर होता है, मतभेद वाले घरेलू वातावरण में बच्चे दिग्भ्रमित हो जाते हैं, उनसे बहुत सारी अपेक्षाएँ ना करें, उनके अच्छे काम की प्रशंसा करें ताकि उनमें आत्मविश्वास बढ़े और वे अच्छा परफार्म कर सकें, उन्हें व्यस्त अवश्य रखें किंतु उस पर ममता की छाप हो, हर जायज-नाजायज इच्छा को पूरा न करें कि वे लापरवाह हो जायें, खुद अनुशासित रहकर उनमें अच्छी आदतों का विकास करें, समय प्रबन्धन सिखायें, छोटे-छोटे काम उन्हें खुद करने दें, आत्मनिर्भर बनायें, घर उन्हें Sweet Home ही नजर आना चाहिये जहाँ वे खुलकर बात कर सकें और अपनी हर समस्या का समाधान पा सकें।

शिक्षा सहज मनोग्राही हो—उनके विद्यालय का चयन करते समय परिस्थितियों का ध्यान रखें, आपके बजट से महंगा स्कूल उन्हें हीन भावना से ग्रसित कर सकता है, स्कूल की शिक्षा का स्तर देखें, समय-समय पर शिक्षकों के संपर्क में रहें। आवश्यकतानुसार मार्गदर्शन भी लें।

लक्ष्य निर्धारित करें—लक्ष्य निर्धारित होने से इन्द्रियाँ व मन उसी दिशा में लग जाते हैं, सबसे पहले उनकी रुचि को पहचानें। सचिन, लता मंगेशकर या किरण बेदी ने जिन क्षेत्रों में अपनी मेधा का परचम लहराया, अगर वे उनकी रुचि या क्षमता के अनुसार नहीं होते तो वे संभवतः इतने सफल नहीं होते, उनके अभिभावकों ने उनके गुणों को पहचान कर उन्हें स्थापित किया तो आज वे दूसरों के लिये मिसाल बन गये।

उन्हें सामाजिक बनायें—फैमिली गेट टुगेदर में ले जायें, ज्ञानशाला, किशोर कन्या मण्डल या अन्य ऐसी संस्था से जोड़ें जहाँ वे अपने हमउम्र बच्चों के साथ व्यवहार, सामाजिकता के गुण, धैर्य, विनम्रता, सकारात्मक सोच, कर्त्तव्य- निष्ठा जैसे संस्कारों को सीख सकें। जीवन विज्ञान अपने आपमें एक सम्पूर्ण कोर्स है जो प्रायोगिक प्रशिक्षण के द्वारा छात्रों का समग्र विकास करता है, ऐसी विद्या जो अनुशासन की संकल्पशक्ति का जागरण करती है—

''विद्या ददाति विनयम्, विनयम् ददाति पात्रताम्''

शारीरिक श्रम हेतु खेलों का महत्व—श्रमशील छात्र जीवन के क्षण का उपयोग करता हुआ आगे बढ़ता है। वह असफलताओं से विचलित नहीं होगा, खेलकूद व अन्य रचनात्मक गतिविधियाँ उसे जागरूकता के द्वारा ऊर्जावान बनाये रखेंगी।

रखें दोस्तों पर नजर—पियर प्रेशर की वजह से विद्यार्थी जो नहीं करना चाहते वो करने पर मजबूर हो जाते हैं। अपने लक्ष्य से भटक जाते हैं। उनकी संगति पर नजर रखें पर जासूस की तरह नहीं, एक दोस्त बनकर, गलत कार्य होने

पर समझाकर सही राह निकालें।

आधुनिक उपकरणों का संयम सिखायें——गैजेट्स की मायावी दुनिया भ्रमित करने वाली है। टी. वी., मोबाइल, इन्टरनेट का संयमित व यथोचित प्रयोग करना सिखायें।

आध्यात्मिक माहौल——यह मस्तिष्क का सन्तुलित आहार है, उन्हें समय-समय पर गुरु दर्शनार्थ एवं धार्मिक-नैतिक शिविरों में ले जायें ताकि वे जीवन के महत्व और उद्देश्यों को समझें, अपनी बुद्धि का समग्र उपयोग करें, खुद जीवन में सफल बनें एवं देश, समाज, परिवार व अपना नाम रोशन करें।

1.5 प्रतिभावान बनने के 10 कैप्सूल——

वर्तमान युवा को शैक्षणिक युग से नवाजा जा रहा है। शिक्षा का महत्व वैसे तो हर युग में रहा है किन्तु युग जैसे-जैसे आगे बढ़ रहा है शिक्षा का महत्व भी बढ़ता जा रहा है। आज हम सम्पूर्ण विश्व को नये रूप में देख रहे हैं। नित नये अनुसंधान, आविष्कार हमारे सामने आ रहे हैं। अतीत के इतिहास को देख वर्तमान से तुलना करें तो अभूतपूर्व परिवर्तन नजर आयेगा। इस परिवर्तन के कारणों की खोज करें तो इसका मूल कारण है——मनुष्य का प्रशिक्षित मस्तिष्क। मनुष्य के शिक्षित मस्तिष्क ने जिस तरह विश्व के सम्पूर्ण नक्शे को बदला है निश्चित ही शिक्षा का मान, मूल्य और महत्व बढ़ा है-बढ़ता जा रहा है। इसी का परिणाम है जहाँ प्राचीनकाल में पाठशाला, विद्यालय अथवा विद्याश्रम अल्प संख्या में कहीं-कहीं होते थे आज गाँव-गाँव और नगर-नगर में स्कूलों की बाढ़ सी आ रही है। विद्यालयों की संख्या के साथ-साथ छात्रों की संख्या में इजाफा हुआ है। साथ ही हर छात्र अपने साथ वाले छात्र से आगे बढ़ने की चाह भी रखता है। प्रतिस्पर्धा बढ़ती जा रही है। सभी अपने आपको आगे लाना चाहते हैं, सबकी मेधा एक जैसी नहीं रहती है। ऐसे में हमारे सामने अहं प्रश्न है कि मेधा क्षमता को कैसे बढ़ाया जाये। प्रश्न है तो समाधान भी निश्चित ही है। छात्र मेधावी होने के लिए बड़ी नहीं अपितु छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देना प्रारम्भ कर दे तो प्रत्येक छात्र अपने आपको मेधावी या प्रतिभावान छात्र के रूप में प्रस्तुत कर सकता है।

1. स्वस्थता—मेधा क्षमता का सीधा संबंध मस्तिष्क से है। मस्तिष्क की क्षमता जितनी विकसित होगी या ज्ञान तंतु जितने सक्रिय होंगे उतनी ही ग्रहण और धारणा शक्ति तीव्र होगी। मस्तिष्कीय क्षमता या मेधा क्षमता के विकास के लिए प्रथम शर्त है स्वस्थता। स्वस्थता से तात्पर्य केवल शारीरिक स्वस्थता से नहीं है अपितु शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक और भावनात्मक रूप से स्वस्थ होना भी उतना ही अपेक्षित है। इनमें से कोई भी अस्वस्थ है तो मस्तिष्कीय क्षमता या मेधा क्षमता को प्रभावित करेगी अतः तन-मन और भावों से स्वस्थ होकर ही छात्र मेधावी बन सकता है।

2. लक्ष्य—मेधावी बनने के लिए लक्ष्य का निर्धारण भी अपेक्षित है। जब तक लक्ष्य निर्धारित नहीं है तब तक मस्तिष्कीय शक्ति विकेन्द्रित रहेगी। लक्ष्य का निर्माण होने पर शक्ति एक दिशा में केन्द्रित हो जायेगी। केन्द्रित शक्ति के साथ जब छात्र आगे बढ़ता है तो वह भटकाव से बचकर अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है। जो लक्ष्य के प्रति पूर्ण समर्पित होता है, केवल एकमात्र लक्ष्य ही दिखता है, वह निश्चित ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। जैसे——अर्जुन के सामने चिड़िया की आँख बिंधने का लक्ष्य था तो उसे केवल आँख ही दिख रही थी। आँख के अतिरिक्त उसका ध्यान कहीं नहीं था तो वह लक्ष्य प्राप्त करने में सफल हो गया था।

3. समय का नियोजन—लक्ष्य निर्माण के साथ-साथ मेधावी बनने के लिए समय का नियोजन भी अपेक्षित है। जो समय का मूल्यांकन नहीं करता, समय उसका मूल्यांकन नहीं करता है। जो अपने दैनिक कार्यक्रमों को निर्धारित समय के साथ न करके मन आये वैसे कार्य करता है, वह लक्ष्य के साथ खिलवाड़ करता है अतः मेधावी बनने के लिये समय का नियोजन भी अपेक्षित है।

4. स्वस्थ प्रतिस्पर्धा—छात्र को मेधावी बनने के लिये अपने सहपाठियों के साथ प्रतिस्पर्धा भी करनी चाहिए लेकिन प्रतिस्पर्धा स्वस्थ हो यह आवश्यक है। अपने सहपाठी से पीछे नहीं रहें इसलिए अपनी शक्ति का विकास करना तो उचित है किन्तु अपनी शक्ति का विकास नहीं करके सहपाठी की शक्ति को येन-केन प्रकार से कम करना या ईर्ष्या की भावना उचित नहीं है। ईर्ष्या की भावना स्वयं के लिये भी हानिकारक ही सिद्ध होगी।

5. विनम्रता—अहंकार हमेशा आगे बढ़ने में अवरोध पैदा करता है। जो छात्र अहंकारी होगा वह कभी किसी से कुछ ग्रहण नहीं कर पायेगा। वह अपनी अकड़ में ही रहेगा। इसके विपरीत विनम्र और समर्पण का गुण जिनके भीतर होगा वह कहीं से भी कुछ ग्रहण कर लेता है। अहंकार जब भीतर में नहीं है तो जिज्ञासा करने में, छोटी -छोटी बात पूछने में संकोच नहीं करेगा। यही भावना उसको आगे बढ़ाती रहती है।

6. समर्पण—मेधा क्षमता के बढ़ाने हेतु समर्पण का होना भी अपेक्षित है, जिसका समर्पण जिस दिशा में होगा वह रुचि के साथ अपनी शक्ति को उस दिशा में लगा देगा। यदि अध्ययन के प्रति पूर्ण समर्पण हो जाये, सारी शक्ति और रुचि अध्ययन के साथ जुड़ जाये तो वह जो भी याद करना चाहता है वह कर ही लेता है । अध्ययन के प्रति समर्पण को दर्शाने वाला एक दोहा भी यही बोध देता है—

खान पान सब ही तजे, निश्चित मांडे मरण।
घो ची पू ली करतो रहवे, जद आवे व्याकरण।।

अर्थात् खान-पान, खेल-कूद, आमोद-प्रमोद आदि सबको छोड़ दे। अध्ययनकाल को मृत्युकाल की तरह कठिन ही मान केवल अध्ययन करता रहे। घो ची पू ली करता रहे अर्थात् घो—घोटना, पाठ को याद करना या रटना, ची—चितारना—याद किये हुए पाठ का पुनरावर्तन करना, पू—पूछना—जिज्ञासा करना, जो समझ में नहीं आया उसे पूछकर समझना, ली—लिखना—किये हुये पाठ को लिखकर देखना, ठीक लिखा या नहीं । जो इस प्रकार समर्पण के साध अध्ययन करता है उसके विस्मृति होने की संभावना नहीं रहती है। याद किया हुआ अच्छी तरह से दिमाग में जम जाता है।

7. मंत्र—ज्ञान को बढ़ाने या बुद्धि को बढ़ाने के लिए अनेक मंत्र भी बताये गये हैं, उनमें से किसी मंत्र का चयन कर विधिवत् निरन्तर व एकाग्रता से जप करने से मेधा क्षमता को बढ़ा सकते हैं। कुछ मंत्र इस प्रकार हैं—

1. ॐ ह्रीं श्रीं वद वद वाग्वादिनि भगवति सरस्वति ह्रीं नमः।
2. ॐ ह्रीं श्री सरस्वती देव्यै नमः।
3. ॐ णमो अरिहं वद-वद वाग्वादिनी स्वाहा।
4. ॐ ह्रीं द्वादशांगिन्यै नमः।
5. ॐ हीं श्रीं क्लीं ऐं नमः।

उपरोक्त मंत्र में से किसी भी मंत्र की एक माला या 15 मिनट उच्चारण सहित जाप्य करने से मंत्र की ध्वनि तरंग ज्ञान तंतुओं को प्रकंपित करती है। जिससे ज्ञान तंतु सक्रिय होकर मेधा क्षमता बढ़ाते हैं।

8. अनुप्रेक्षा—अनुप्रेक्षा का तात्पर्य है किसी भी बिंदु पर बार-बार अनुचिंतन करना। जैसा रसायन वैसा व्यवहार, जैसा चिंतन वैसा भाव, इसलिए सकारात्मक चिंतन करें । बुद्धि को बढ़ाने वाला चिंतन बार-बार करते रहें।

जैसे—**ज्ञानानन्दस्वरूपोऽहं—मैं ज्ञानानन्दी हूँ।**

9. दीर्घ श्वांस प्रेक्षा—दीर्घ श्वांस प्रेक्षा से भी मेधा क्षमता को बढ़ाया जा सकता है। श्वांस के साथ मन की गति जुड़ी रहती है। जिनका श्वांस जितना छोटा होगा उसकी मन की गति उतनी ही तेज होगी। इसके विपरीत जो लम्बा श्वांस लेता है तथा लम्बा श्वांस छोड़ता है, उसके मन की गति मंद होगी, चंचलता कम होगी। चंचलता की कमी व एकाग्रता

का विकास मेधा क्षमता को बढ़ा देता है।

10. ध्वनि—ध्वनि तरंग भी मस्तिष्क को सक्रिय करती है। ध्वनि का प्रयोग सम्यक् विधि से किया जाये तो उसका प्रभाव मस्तिष्क नाड़ीतंत्र पर पड़ता है, ध्वनि के प्रभाव से नाड़ी तंत्र प्रकंपित होकर सक्रिय होता है। ध्वनि भी विभिन्न प्रकार की होती है। उनमें महाप्राण ध्वनि ॐ की ध्वनि, अर्हम् की ध्वनि मुख्य हैं।

मेधा क्षमता को बढ़ाने में उपरोक्त बातें एवं उपाय बहुत कारगर सिद्ध हो सकते हैं। आवश्यकता है उपरोक्त बातों पर चिंतन और नियमित क्रियान्वयन की। साथ ही बताये गये उपायों में से किसी एक भी उपाय का सम्यक् प्रयोग मेधा क्षमता को बढ़ाने में सहयोगी बन सकता है। ये बातें दिखने में छोटी लग सकती हैं। जैसे—छोटी सी गोली (कैप्सूल) पूरे शरीर को प्रभावित कर सकती है वैसे ही ये छोटी–छोटी बातें भी मेधा क्षमता को प्रभावित कर सकती हैं अतः अपेक्षित है इन छोटी–छोटी बातों पर पूर्ण श्रद्धा, विश्वास एवं क्रियान्वयन के साथ ध्यान देने की।

1.6 बौद्धिक विकास का आधार–सम्यक् आहार–

आहार हमारे जीवन की परम आवश्यकता है। केवल शारीरिक स्वास्थ्य ही नहीं हमारे बौद्धिक स्वास्थ्य में भी आहार मुख्य भूमिका निभाता है आयुर्वेद ग्रंथों में सम्यक् आहार को जीवन का एक उपस्तम्भ माना है। इसके अनुसार मात्र खाना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि क्या और कितना खाना ? इन कसौटियों पर खरा उतरा आहार ही सम्यक् होता है। हमें अपने मस्तिष्क की सुरक्षा एवं इसके विकास के लिए उपरोक्त कसौटियों को अच्छी तरह जानना चाहिये ।

क्या खाना?—

बौद्धिक शक्ति को प्रबल एवं दीर्घकाल तक बनाए रखने के लिए भोजन में जिन–जिन तत्वों की हमें आवश्यकता है उन सबका उचित मात्रा में होना जरूरी है। आहार विज्ञान के अनुसार हमारे आहार में वसा, कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, विटामिन्स, खनिज पदार्थ आदि आवश्यक तत्वों की संतुलित मात्रा होनी चाहिए। इन पोषक तत्त्वों के साथ जल भी आहार का ही अंग है इसलिए इसकी मात्रा भी संतुलित होनी चाहिए। इन पोषक तत्त्वों में से किसी भी तत्व की कमी होती है तो भोजन का संतुलन बिगड़ता है और बौद्धिक क्षमता पर प्रतिकूल असर पड़ता है इसलिए विद्यार्थियों को अपने भोजन में दूध, घी, मक्खन, फल, सब्जियाँ, रोटी, चावल, दाल आदि शुद्ध और सात्विक आहार संतुलित मात्रा में लेना चाहिए। आयुर्वेद में बौद्धिक प्रखरता लाने के लिए स्निग्ध व मधुर आहार करने का परामर्श दिया जाता है।

क्या नहीं खाना ?—

बौद्धिक विकास के लिए खाने के साथ न खाने का प्रश्न भी बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि बहुत से पदार्थ ऐसे होते हैं जो हमारे मस्तिष्क को कमजोर करते हैं। आयुर्वेद ग्रंथों में इन्हें अवश्य आहार कहा जाता है। इसके अनुसार अति तीखे, मसालेदार, खट्टे, चटपटे, बासी, फास्ट फूड, चाट, अति मीठे, अति ठण्डे, अति गर्म, पान मसाला, सुपारी, चुटकी, तम्बाकू आदि पदार्थ सामान्यतः हमारे पूरे स्वास्थ्य और मुख्यतः हमारे मस्तिष्क के दुश्मन हैं। इनसे बौद्धिक विकृतियाँ पैदा होने की सम्भावना ज्यादा रहती हैं। विद्यार्थियों को अपने उज्ज्वल भविष्य पर नजर रखते हुए इन पदार्थों का विवेक करना चाहिए।

कितना खाएँ ?—

भोजन की मात्रा भी हमारे मस्तिष्क के स्वास्थ्य को बहुत प्रभावित करती है। इस संदर्भ में हमें दो बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(1) न अति कम—बहुत से विद्यार्थी अस्त–व्यस्त जीवनशैली के कारण भोजन पर्याप्त मात्रा में नहीं करते। सुबह देर से उठेंगे, स्कूल जाने की जल्दी होगी तो नाश्ते की उपेक्षा कर देते हैं। सुबह का पौष्टिक नाश्ता हमारे शरीर और मस्तिष्क को ऊर्जा प्रदान करता है। इसकी कमी से शरीर और मस्तिष्क पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। बहुत से विद्यार्थी

मोटा हो जाने के भय से भी खाना कम कर देते हैं इससे शरीर और मस्तिष्क दोनों कमजोर हो जाते हैं। भोजन की कमी से एसीडिटी, चिड़चिड़ापन, गुस्सा आदि बढ़ता है और मानसिक एकाग्रता भंग हो जाती है। अनेक शोध अध्ययनों से यह पता चला है कि जिन व्यक्तियों को किशोरावस्था में पौष्टिक आहार पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता उनका मस्तिष्क कमजोर ही रह जाता है।

(2) न अति अधिक—एक सामान्य व्यक्ति के लिए भी ठूँस-ठूँसकर खाना अहितकर है परन्तु एक विद्यार्थी के लिए तो यह अभिशाप के समान है। हमारे पूरे शरीर का संचालन प्राण ऊर्जा या विद्युत ऊर्जा के द्वारा होता है। यह ऊर्जा ग्लूकोज और ऑक्सीजन इन दो स्रोतों से प्राप्त होती है। जब भोजन पर्याप्त मात्रा में होता है तो हमारा पाचन संस्थान अपने हिस्से में आने वाली विद्युत ऊर्जा से काम चला लेता है पर यदि भोजन की मात्रा अतिरिक्त होती है तो अतिरिक्त भोजन को पचाने के लिए हमारा पाचन संस्थान अतिरिक्त विद्युत ऊर्जा का उपभोग करता है। जिस प्रकार अधिक विद्युत उपयोग करने वाली कोई मशीन (मोटर या हीटर) चलाने पर छोटे बल्ब का प्रकाश और भी कम हो जाता है क्योंकि मोटर अधिक मात्रा में विद्युत खींच लेती है उसी प्रकार पाचन संस्थान द्वारा अतिरिक्त प्राण ऊर्जा का उपयोग किए जाने पर मस्तिष्क को मिलने वाली प्राण ऊर्जा की मात्रा कम हो जाती है। फलतः पेट की क्रिया प्रधान और मस्तिष्क की क्रिया गौण हो जाती है। आदमी का पेट मोटा और दिमाग छोटा हो जाता है। बौद्धिक विकास के अनुकूल माना जाने वाला स्निग्ध और मधुर आहार भी जब मात्रा से अधिक खाया जाता है तो इससे वासनाएँ उद्दीप्त होती हैं, चंचलता बढ़ती है उसके फलस्वरूप मस्तिष्क की शक्तियों में कमी आती है।

भोजन की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति के लिए पाचन शक्ति, श्रम, उम्र आदि अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न हो सकती है। इसका निर्धारण व्यक्ति को स्वयं ही करना होता है । इसकी कसौटी यह है कि—भोजन के बाद पेट में भार महसूस न हो तो समझना चाहिए अति अधिक नहीं है।

भोजन की मात्रा के साथ-साथ द्रव्यों की संख्या एवं भोजन के कालान्तर की भी बौद्धिक स्वास्थ्य में महत्वपूर्ण भूमिका रहती है इसलिए एक साथ अधिक द्रव्य नहीं खाने चाहिए। इस संदर्भ में श्वेताम्बर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि किसी के सिर पर एक साथ बहुत काम लाद दिया जाए तो वह घबरा जाएगा, नहीं कर पाएगा। एक-एक काम आसानी से कर लेगा। इसी प्रकार कम वस्तु पेट में जाती है तो पचने में सुविधा रहती है। अनेक वस्तुएँ एक साथ पेट में जाती हैं तो उन्हें पचाने में अधिक शक्ति लगानी पड़ती है। इसी प्रकार दिन में तीन बार से अधिक नहीं खाना चाहिए। प्रत्येक भोजन के बीच कम से कम तीन घण्टे का अन्तर होना चाहिए।

भोजन करने का उद्देश्य मात्र इतना ही नहीं है कि पेट की आग को बुझाना है। हमें भोजन को सर्वांगीण दृष्टि से देखना है। आहार के संबंध में सम्यक् ज्ञान पाकर हम शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य को आसानी से प्राप्त कर सकते हैं।

1.7 छात्र जीवन निर्माण के सूत्र-

छात्र शब्द के साथ शिक्षक का जिक्र ना हो तो कुछ आधा-अधूरा सा लगता है। गुरु-शिष्य सबके मन में इन पंक्तियों का उभरना स्वाभाविक है-

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय।।

छात्र को मेधावी बनने के लिए सबसे पहले अपने अन्दर अध्यापक के प्रति आदर, निष्ठा व समर्पित भाव पैदा करने होंगे क्योंकि गुरू बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान बिना ओजस्वी, मेधावी बनना संभव नहीं। साथ ही गुरू को भी छात्रों पर इतना विश्वास होना चाहिए कि जैसा वे (गुरू) चाहेंगे, छात्रों को ढाल लेंगे।

करत करत अभ्यास के, जड़ मति होत सुजान।
रसरी आवत जात है, सिल पर परत निशान।।

समय के साथ जो दोनों के बीच की दूरियाँ बढ़ गयी हैं उसमें फिर से प्यार, विश्वास व आत्मीयता भरते हुए कुछ मुख्य बिन्दुओं पर ध्यान देना होगा।

अनुशासन—छात्र जीवन में पहला गुण अनुशासन का होना चाहिए ? छात्रों को किसी के कहने या थोपे हुए अनुशासन के बजाय स्वयं मन से अनुशासित रहना चाहिए। अपनी मर्यादाओं को, सीमाओं को पहचानते हुए व्यवहार करना चाहिए। छात्र बनने की पहली सीढ़ी आज के समय में 2–1/2 वर्ष की उम्र से ही शुरू हो जाती है अत: छात्रों में बचपन से ही अनुशासन के बीजारोपण का अभ्यास अभिभावकों को करना चाहिए, अनुशासनहीन जीवन की कल्पना पशुतुल्य होती है। जीवन के हर क्षेत्र में सफलता का मूल मंत्र अनुशासन है। अनुशासनरूपी बीज के बीजारोपण का पहला कदम माँ बढ़ाए। उसके बाद खाद व सुरक्षा पिता की हो और हवा–पानी व रोशनी के साथ पल्लवित करने का दायित्व यदि पाठशालाएँ व गुरुजन उठाएँ तो मेधावी छात्र रूपी भवन की नींव का काम पूरा हो सकेगा जिस पर सुन्दर इमारत बनाना आसान होगा।

प्रमाद का त्याग/अप्रमाद—मेधावी छात्र जीवन के निर्माण की दूसरी महत्त्वपूर्ण सीढ़ी है अप्रमाद। प्रमाद का त्याग, आलस्य का त्याग, समय के एक–एक क्षण की कीमत को समझाते हुए श्रमप्रयुक्त स्वावलम्बी बनें और जीवन में हर समय जागरुकता बनाए रखें। जब भी कहीं जीवन में अवसर प्राप्त हो उसका लाभ उठाएँ।

सकारात्मक सोच—किसी भी सफल व्यक्तित्व के पीछे सकारात्मक सोच का बहुत बड़ा हाथ होता है। छात्र जीवन में सकारात्मकता का बहुत बड़ा महत्व है। एक औसत से निम्न बुद्धि वाले छात्र में भी यदि सकारात्मक सोच का विकास किया जाए, जैसे मैं भी प्रथम आ सकता हूँ, मैं भी अपने लक्ष्य की ऊँचाई को स्वयं तय कर उसे प्राप्त कर सकता हूँ, जीवन में कोई काम असंभव नहीं है, मुश्किल हो सकता है पर मुश्किलें हमेशा हारती हैं, संघर्ष करने वाले हमेशा जीतते हैं, जैसे विचारों के साथ छात्र के मेधावी होने में कोई शंका हो ही नहीं सकती है। एक सकारात्मक सोच के विकास के साथ कई ऐसे गुण स्वत: विकसित हो जाते हैं, जो आपके व्यक्तित्व में चार चाँद लगाते हैं, जैसे— सकारात्मक सोच से आत्मविश्वास स्वत: जागता है, जिससे आप दूरगामी परिणामों को सोचते हुए निर्णयात्मक शक्ति का विकास कर पाते हैं। जीवन में किसी भी लक्ष्य को पाने के लिए निश्चित समय सीमा के साथ मन में संकल्पशक्ति, इच्छाशक्ति प्रबल होती है जिससे जीवन सरस होता है। छात्रों में आगे बढ़ने का उत्साह बना रहता है। वहीं अगर छात्र जीवन में निराशा के भाव पैदा हो जायें, यह मैं नहीं कर सकता, इतने प्रतिशत अंक प्राप्त करना असंभव है। I. A. S., I. P. S. आदि ऊँचे पदों पर आसीन होने के लिए अमुक–अमुक परीक्षाएँ मैं पास नहीं कर सकता आदि विचार छात्र के जीवन को ऐसे अँधेरे में धकेल देते हैं कि उन छात्रों को उजाले से भी डर लगने लगता है।

सात्विक सुपाच्य भोजन—छात्र जीवन में सात्विक, सुपाच्य भोजन का भी अपना महत्त्व है। छात्र को ऐसा भोजन करना चाहिए जिससे उसके शरीर की स्फूर्ति व मन को शांति मिले। उचित भोजन के अभाव में छात्रों को अधिक निद्रा या अनिद्रा की शिकायत हो जाती है। जो छात्र के लिए उपयुक्त नहीं है। भोजन कभी–कभी अशान्त मन का कारण भी बनता है।

ध्यान–प्राणायाम—कुशाग्र बुद्धि, अच्छी स्मरण शक्ति व सकारात्मक भावों के लिए ध्यान–प्राणायाम का अपना ही महत्त्व है। ध्यान–प्राणायाम शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता प्रदान करता है, जो छात्र जीवन में विशेष योगदान देता है। स्वयं पर नियत्रंण बढ़ता है। इससे आस्था पैदा होती है और आस्था आपको सफलता दिला सकती है, आस्था में ताकत होती है और जीवन में ताकत का होना जरूरी होता है।

नम्रता—किसी से कुछ ग्रहण करने या सीखने के लिए नम्रता का होना जरूरी है। छात्र जीवन में नम्रता ऐसा गुण है जिसके द्वारा आप हर व्यक्ति में से कोई न कोई अच्छाई को खोजते हुए स्वयं के जीवन में उतारने में सक्षम हो जाते हैं।

दूरदर्शन—छात्र अपने उज्ज्वल भविष्य के लिए दूरदर्शन से दूर रहें ताकि समय का सदुपयोग कर सकें।

विषय-चयन—छात्र अपनी रुचि के अनुसार विषय का चयन करें। माता-पिता की महत्वाकांक्षा के अनुरूप नहीं, स्वयं की रुचि पहचान कर उस क्षेत्र में आगे बढ़ते हुए सफलता प्राप्त की जा सकती है। थोपे हुए कार्य में कुशलता हासिल करना बहुत कठिन हो सकता है।

1.8 बौद्धिक विकास में रंगों की भूमिका-

एक संत के अनुसार रंग हमारे जीवन को प्रभावित ही नहीं परिवर्तित भी कर देते हैं। उन्होंने प्रमाण रूप में एक घटना भी उद्धृत की है—सोवियत रूस में एक स्कूल के विद्यार्थी बहुत उद्दण्ड और उच्छृंखल थे। स्कूल के अधिकारियों और अध्यापकों के सामने एक बहुत बड़ी समस्या पैदा हो गई। उन्होंने सोचा—उद्दण्डता का कारण क्या है ? दो-चार बच्चे उद्दण्ड हो जायें, यह बात समझ में आ सकती है। प्राय: सभी विद्यार्थी उद्दण्ड कैसे हो सकते हैं ? इसका कारण क्या है ? जो विद्यार्थी बहुत शांत और संयमित लग रहे थे, वे भी उद्दण्ड और असंयत बनते जा रहे हैं। आखिर रंग वैज्ञानिकों को बुलाया गया। उन्होंने इस समस्या का कारण बतलाया—आपके स्कूल का रंग लाल है, खिड़कियाँ और दरवाजे भी लाल रंग से पुते हुए हैं। खिड़कियों में जो काँच के शीशे हैं, वे भी लाल हैं। पर्दे भी लाल, फर्श का कालीन भी लाल है। स्कूल ड्रेस भी लाल। जहाँ लाल की अधिकता होगी वहाँ उद्दण्डता प्रबल होगी।

विशेषज्ञों के परामर्श के अनुसार कमरों का रंग हरा, गुलाबी या नीला बदल दिया गया। समस्या का समाधान मिल गया। हमारे जीवन के प्रत्येक आयाम पर रंगों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है।

ज्ञान केन्द्र (सिर के चोटी के भाग) पर एवं दोनों कनपटियों पर पीले रंग के ध्यान से बौद्धिक विकास के साथ-साथ मानसिक कमजोरी, उदासीनता आदि दूर होते हैं तथा आत्मिक प्रसन्नता और आनन्द का जागरण भी होता है। प्रतिदिन 10 मिनट तक नियमित रूप से पीले रंग का ध्यान किया जाये तो बौद्धिक विकास के क्षेत्र में आश्चर्यजनक सकारात्मक परिणाम देखे जा सकते हैं।

प्रयोग विधि—मस्तिष्क और कनपटियों को अंगुलियों से रगड़कर प्रकम्पन पैदा करें। ध्यानासन में बैठें। अनुभव करें—अपने चारों ओर सूरजमुखी के फूल या स्वर्ण की भाँति चमकते हुए पीले रंग का प्रकाश फैल रहा है, पीले रंग के परमाणु फैल रहे हैं। अब इस पीले रंग का श्वांस लें। अनुभव करें, प्रत्येक श्वांस के साथ पीले रंग के परमाणु शरीर के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। चित्त को ज्ञान केन्द्र पर केन्द्रित करें। वहाँ पर चमकते हुए पीले रंग का ध्यान करें।

(कुछ समय बाद) अनुभव करें—ज्ञान केन्द्र से पीले रंग की रश्मियाँ निकलकर शरीर के चारों ओर फैल रही हैं। पूरा आभामण्डल पीले रंग की रश्मियों से भर रहा है। उन्हें देखें, अनुभव करें..... अनुभव करें—ज्ञान-तंतु विकसित हो रहे हैं, ज्ञान-तंतु विकसित हो रहे हैं, ज्ञान-तंतु विकसित हो रहे हैं, दो-तीन गहरे लम्बे श्वांस के साथ प्रयोग सम्पन्न करें।

1.9 मेधावी बनने का रहस्य—

मनुष्य विकासशील है। विकास का मुख्य आधार है प्रतिभा (Talent)। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर कोई न कोई प्रतिभा छिपी हुई है। किसी व्यक्ति में शिक्षा की प्रतिभा है तो किसी में खेलकूद की, किसी में गणित तो किसी में विज्ञान की प्रतिभा है। किसी में कला की प्रतिभा है तो किसी में अध्यात्म की प्रतिभा है। सभी में प्रतिभा समान तो नहीं है पर विद्यमान है अवश्य। आवश्यकता है उसे जागृत करने की, उजागर करने की। जो प्रतिभा आंतरिक क्षमता (Potential)

के रूप में छिपी हुई है उसे प्रकट (Explore) करने की जरूरत है।

मेधा की परिभाषा—

जब प्रतिभा ज्ञान से संस्कारित और पल्लवित होती है तब वह विशिष्ट बन जाती है। इस विशिष्ट प्रतिभा को ही मेधा कहा जाता है। मेधा का एक अर्थ है—धारण करने की क्षमता। आचार्य हेमचंद्र ने अभिधानचिन्तामणि कोष में लिखा है—"**सा मेधा धारण क्षमा** "। यह ज्ञान के प्रबंधन का महत्वपूर्ण सूत्र है। ज्ञान का अर्जन प्रायः सभी व्यक्ति करते हैं पर उस ज्ञान को धारण करके रखना, संजोकर रखना एक बहुत बड़ी कला है। प्रायः सभी विद्यार्थी मेधावी बनना चाहते हैं परन्तु हर कोई मेधावी नहीं बनता। वही बनता है जो ज्ञान का प्रबंधन जानता है. योग के साथ क्षेम को जानता है। योग का अर्थ है—अप्राप्त की प्राप्ति और क्षेम का अभिप्राय है उसकी रक्षा, उसे बनाये रखना ।

मेधा शब्द का प्रचलित अर्थ है बौद्धिक विकास। इसका आधार है ग्रहण क्षमता (Grasping Power)। स्थानांग के वृत्तिकार ने कहा भी है—"**श्रुतग्रहणशक्तिः मेधा**" जिसकी ग्रहण शक्ति तेज है, प्रखर बुद्धि है, वह हर परीक्षा और प्रवृत्ति में श्रेष्ठ प्रदर्शन (Outstanding Performance) करता है।

मेधा का अर्थ श्रुतग्रहण और उसे संजोकर रखने तक ही सीमित नहीं है अपितु व्यापक और बहुत विस्तृत है। मेधा जीवन में रचनात्मक परिवर्तन लाती है। क्या उचित और क्या अनुचित ? ये कर्त्तव्य विवेक भी मेधा का विषय है अर्थात् व्यापक अर्थ में मेधा ज्ञान का उत्कर्ष है।

मेधा का कार्य—मेधा का कार्य है महान् साध्य के प्रति उत्सुकता, उत्कण्ठा पैदा करना। महान् साध्य की खोज व उन्हें उपलब्ध करना यह भी मेधा की परिधि में आता है।

मेधावी की योग्यता—हमारी प्राचीन संस्कृति में मेधावी बनने की क्षमता का अच्छा विश्लेषण मिलता है। विद्यार्थी की पात्रता या लक्षणों के विषय में कहा गया है—

काकचेष्टा बकोध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च।
स्वल्पाहारी स्त्रियस्त्यागी विद्यार्थिपंचलक्षणम्।।

काकचेष्टा—जैसे कौवा अपनी प्यास बुझाने के लिए भरसक प्रयत्न करता है उसी प्रकार विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्ति के लिए तत्पर रहना चाहिए।

बकध्यान—जैसे बगुला अपने शिकार के लिए ध्यान लगाता है उसी प्रकार विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्ति के लिए एकाग्र बनना चाहिए।

श्वाननिद्रा—कुत्ता जिस प्रकार अल्प निद्रा लेता है और नींद में भी जागरुक रहता है उसी प्रकार विद्यार्थी को भी जागरुकता और निद्रा संयम का अभ्यास करना चाहिए।

स्वल्पाहारी—आहार औषधि भी है और बीमारी का कारण भी। आहार विवेक विद्यार्थी के लिए अपेक्षित है।

स्त्रियस्त्यागी—विद्यार्थी को वैषयिक व क्षणिक सुख से विशेष बचाव रखना चाहिए।

1.10 मेधावी बनने की प्रक्रिया—

रहस्य में आकर्षण होता है। हर व्यक्ति रहस्य को जानने के लिए उत्सुक होता है। मेधावी बनने की प्रक्रिया भी बहुत रहस्यमयी है। इसमें प्रबंधन, मनोविज्ञान, अध्यात्म, भावात्मक नियंत्रण और ज्ञानार्जन की विकसित पद्धतियों का समावेश होता है। मेधावी बनने की प्रक्रिया निम्नोक्त है—

लक्ष्य निर्धारण—लक्ष्य का निश्चय किये बिना व्यक्ति की ऊर्जा को एक दिशा नहीं मिलती। हमारे भीतर अनन्त ऊर्जा व अनन्त क्षमता है। अपेक्षा है उसे एक लक्ष्य पर केन्द्रित करने की। लक्ष्य निर्धारण के दो आधार हैं—

(अ) प्रतिभा—हमारे भीतर कोई न कोई प्रतिभा सन्निहित है। यदि हमें अपनी प्रतिभा का ज्ञान हो जाए तो हमारे

लक्ष्य का निर्णय भी आसान होगा और हमें सफलता भी मिल सकेगी।

(ब) रुचि—हमारे भीतर कुछ स्वाभाविक रुचियाँ होती हैं। जिस विषय या कला में हमारी रुचि है उसमें हम पूर्ण परिश्रम कर सकेंगे और साथ ही आनंद का अनुभव भी करेंगे।

संकल्पशक्ति—लक्ष्य के साथ समर्पण जुड़े। हमारा संकल्प मजबूत होगा तभी लक्ष्य प्राप्ति संभव बनेगी। संकल्प के साथ दो बातें और जुड़ जाती हैं—

(अ) आत्मविश्वास—मैं कर सकता हूँ—यह आत्मविश्वास हमारे अन्त:करण का उल्लास है। इससे हमारा विश्वास दृढ़ बन जाता है। साथ ही अतिविश्वास (Over Confidence) से बचना चाहिए।

(ब) आत्मानुशासन—संकल्प स्थिर तभी होगा जब व्यक्ति का स्वयं पर नियंत्रण होगा। विचारों की सकारात्मकता, वाणी में विवेक व निद्रा का संयम व्यक्ति के निज विवेक पर आधारित है। व्यक्ति स्वयं जागरुक है तो संकल्प भी शक्तिशाली बन जाएगा।

सम्यक् पद्धति—पद्धति का ज्ञान अनिवार्य है । पद्धति जाने बिना व्यक्ति का अथक परिश्रम और अमूल्य समय भी बेकार हो जाता है । ज्ञान की प्राचीन व आधुनिक पद्धतियों की जानकारी अपेक्षित है। इसके साथ दो बातें और जुड़ने से इसका लाभ शतगुणित हो जाता है।

(अ) सत्संगति—जैसा संग वैसा रंग। संगति का जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। पद्धति के ज्ञान के साथ विधि के ज्ञाता महान् पुरुषों का संपर्क भी अपेक्षित होता है। दोस्त भी विज्ञ व अनुकूल हो तो विकास की गति तीव्र हो जाती है।

(ब) जीवन शैली—हमारे शरीर में भी एक घड़ी है जिसका नाम है जैविक घड़ी। मनुष्य कब उठता है, कब सोता है इसके आधार पर उसकी जीवन शैली बनती है। सम्यक् पद्धति का निर्वाह भी वही व्यक्ति कर सकता है जिसकी जीवनशैली सम्यक् हो।

अथक परिश्रम—सफलता की कुंजी है श्रम। पुरुषार्थ से बढ़कर कार्यसाधक कुछ नहीं। उद्यमशीलता से ही सारे कार्य सिद्ध होते हैं। संस्कृत उक्ति भी है—**उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथै:।** पुरुषार्थ के साथ दो आयाम जुड़ना अपेक्षित है—

(अ) अभिप्रेरणा—प्रेरणा से व्यक्ति गतिशील बनता है। नये उत्साह व उमंग से कार्य करता है। यदि उसे निरंतर प्रेरणा मिले तो विद्यार्थी पूरा परिश्रम करते हुए भी थकान का अनुभव नहीं करेगा और निरंतर गतिशील रहेगा।

(ब) समय प्रबंधन—समय का मूल्य अमूल्य है। समय-कब-कहाँ कितना लगाना है इसका प्रबंधन अपेक्षित है। समय का नियोजन सही होगा तो हमारा परिश्रम सार्थक बनेगा। गंभीर अध्ययन के लिए प्रात:काल व हल्के विषय (सरल ग्राह्य), लेखन कार्य आदि के लिए दोपहर और शाम का समय उपयुक्त माना जाता है।

भावात्मक नियंत्रण—भावों के आधार पर सारे कार्य होते हैं। व्यक्ति कितना भी बौद्धिक विकास कर ले पर यदि संवेगों (Emotions) का सम्यक् ज्ञान व उन पर नियंत्रण न हो तो जीवन में सफलता नहीं मिलती। भावात्मक विकास के सहयोगी तत्व हैं—

(अ) उन्नत संस्कार—संस्कारों का भावात्मक विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। भारतीय संस्कृति का मुख्य आधार है संस्कार। संस्कार निरन्तर दिशा दर्शन करते रहते हैं।

(ब) कुशल चरित्र—चरित्र समाप्त तो सब कुछ समाप्त। चरित्र ही जीवन का शृंगार है। कुशल चरित्रसंपन्न विद्यार्थी ही अपने आवेगों पर अंकुश रखता हुआ उन्नति करता है।

मेधावी छात्र—मेधावी बनना गौरव की बात है। इसकी प्रक्रिया साधनाप्रधान है। मेधावी छात्र में बौद्धिकता,

भावात्मक संयम और आध्यात्मिकता का संगम होता है। निरंतर प्रगतिशील रहने के लिए उसे दो बातों पर ध्यान देना होगा।

(अ) जिज्ञासा—जिज्ञासा ज्ञान की जननी है। ज्ञान की पिपासा उसे अध्ययनशील बनाये रखती है।

(ब) तन्मयता—तन्मयता से किया गया कार्य सफल होता है। तन्मयता से कार्य करने में आनन्द भी आता है और परिश्रम की थकान भी दूर हो जाती है। बिखरे हुए तिनके स्वयं कचरा हैं और वे ही एक सूत्र में आबद्ध होकर झाड़ू बनकर सफाई कर देते हैं। वैसे ही हमारा चिन्तन व शक्तियाँ बिखरी रहती हैं तो साध्य को प्राप्त नहीं कर पातीं। एकाग्र होने पर लक्ष्य प्राप्ति अवश्यंभावी है।

1.11 मेधा के स्तर—

सबकी मेधा समान नहीं होती। मेधा की विभिन्नता के आधार पर मेधा को 5 स्तरों में विभक्त किया जा सकता है। जितना-जितना प्रतिभा का विकास होगा उतना-उतना मेधा का स्तर ऊँचा उठता जाएगा।

ग्रहण शक्ति—मेधा का पहला व अनिवार्य चरण है ग्रहण शक्ति। ग्रहण क्षमता तेज न हो तो व्यक्ति मेधा के अगले चरण में प्रवेश नहीं कर सकता।

धारणा शक्ति—इसका अभिप्राय है कि गृहीत विषय को दीर्घ समय तक धारण करके रखना। स्मृति विकास के प्रयोग इसमें सहयोगी बनते हैं। जिसकी ग्रहण शक्ति कमजोर है उसकी धारणा शक्ति भी सशक्त नहीं होगी।

समझ वैशिष्ट्य—समझा हुआ ज्ञान उपयोगी बन जाता है। यदि समझ शक्ति का अच्छा विकास होता है तो उसकी स्मृति लाभदायी बन जाती है।

तर्क शक्ति—आज तार्किक युग है। मनुष्य ने तर्कशक्ति के आधार पर विकास किया है। न्यायशास्त्र व दर्शन विद्या का तो मूल ही तर्क है। कोरा तर्क उपयोगी नहीं होता जिसने ग्रहण शक्ति, धारणा शक्ति और समझ का वैशिष्ट्य पाया है उस विद्यार्थी को तार्किक क्षमता का लाभ शतशः मिलता है। उसकी विश्लेषण क्षमता में अद्‌भुत निखार आ जाता है।

प्रज्ञा—यह मेधा का उत्कर्ष है जहाँ विवेक चेतना का जागरण होता है। पहले 4 स्तर तक का मेधावी छात्र बौद्धिक विकास तो करता है पर भावात्मक पटुता के क्षेत्र में पीछे रह जाता है। जो प्रज्ञावान मेधावी है वह हर क्षेत्र में जटिल से जटिल स्थिति में भी अपनी प्रतिभा से नवीन से नवीन समाधान खोज लेता है।

1.12 मेधावी का वैशिष्ट्य—

प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य करता है। सभी के पास प्राय : समान हाथ, पाँव, नाक, कान होते हैं। ऐसे में मेधावी की पहचान कैसे हो ? भारतीय मनीषियों ने इसके 3 आधार बताए हैं—

वक्तृत्व—मेधावी व्यक्ति के कहने की शैली विशिष्ट व आकर्षक होती है ।

श्रवण—सभी कान से सुनते हैं पर मेधावी की श्रवण कला अनूठी होती है। उसके सुनने की शैली उसकी पहचान का कारण बनती है।

समझ—सबसे महत्त्वपूर्ण है समझना। वाक्‌पटुता व श्रवण कला तो फिर भी किसी सामान्य व्यक्ति में हो सकती है पर गहरी समझ केवल मेधावी में होती है ।

राजस्थानी भाषा में कहा भी है—

कान आंख अरु नासिका, सबके ही इक ठोर।
कहवो सुनवो समझवो, चतुरन को कुछ और।।

मेधावी के वैशिष्ट्य का एक अंग है उसकी प्रसन्नताप्रधान जीवन शैली।

मेधावी विषाद के संवेदन से मुक्त हो जाता है। वह किसी भी दशा में विषाद से, तनाव से ग्रस्त नहीं होता।

1.13 उपसंहार—

मानव जीवन दुर्लभ है। इसमें भी विद्या के अर्जन और अपनी प्रतिभा के विकास का अवसर मिलना दुर्लभतर है। जो विद्यार्थी अपनी प्रतिभा का यथेष्ट विकास कर उसका पूरा उपयोग करता है वह मेधावी बनता है। मेधावी में भी तारतम्य होता है। उत्कृष्ट मेधावी वह है जिसने अपनी प्रज्ञा का जागरण कर लिया और जिसने बौद्धिकता एवं भावनात्मकता के संतुलन से आध्यात्मिक चेतना जागृत कर ली है।

विज्ञान के जगत में यश-कीर्ति का शिखर छूने वाले महान वैज्ञानिक के पास एक विद्यार्थी आया! उसने पूछा—सर! आपकी सफलता का राज क्या है ? आइन्सटीन ने कहा—मेरी सफलता का मूलमंत्र है—उत्साह, उमंग के साथ अभ्यास करना, कभी निराश नहीं होना, हिम्मत न हारना, विश्वास का दामन नहीं छोड़ना, धैर्य की कमान सदा साथ रखना। प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने यह भी कहा—जब मैं पढ़ता था तब मुझे सभी बुद्धू कहते। मेरा मजाक करते। मेरी पीठ पर "बुद्धू" बड़े अक्षरों में लिख देते । मेरे अध्यापक कई बार सबके बीच यहाँ तक कह देते—तुम्हें सात जन्म तक भी गणित नहीं आएगा। अपमान, तिरस्कार में भी मैंने अपना हौसला नहीं छोड़ा, कभी झल्लाहट नहीं की। इत्मीनान के साथ समय का मूल्यांकन करता रहा।

मैन से सुपरमैन का सफर—

एक महान व्यक्ति की यशोगाथा में मेधावी बनने के सारे रहस्य छिपे हैं जो व्यक्ति को विशाल दायरा देते हैं। चिन्तन का चैत्यवृक्ष थमाते हैं। सोच का सकारात्मक नजरिया देते हैं और इन्द्रधनुषी उड़ान की ऊँचाई देते हैं।

साहस की श्रीसम्पदा—

साहस में लक्ष्मी निवास करती है। साहस के सामने पर्वत भी काँपने लग जाते हैं। साहसी जीवन असंभव को संभव एवं असाध्य को साध्य कर सकता है। ऐसी कोई उपलब्धि नहीं जो साहसी की विजयश्री का रोमाञ्च न हो।

सम्पर्क और साहस इज्जत का रास्ता दिखाते हैं। छत्रपति शिवाजी ने अद्‌भुत साहस के द्वारा समर्थ गुरु रामदास के लिए सिंहनी का दूध लाकर प्रस्तुत कर दिया। एक आंख और एक टाँग वाले महाराणा सांगा, एक आँख वाले राजा रणजीत सिंह ने, लंगड़े तैमूर ने साहस शौर्य के बलबूते पर महान कीर्ति के उत्तुंग शिखर को छू लिया, तो फिर सम्पूर्ण अवयवों वाला साहसी कदमों को आगे बढ़ाए तो क्या नहीं कर सकता, सबको कुदरत की देन से मेधा का वरदान नहीं मिलता पर घबराएँ नहीं, यदि साहस का लंगर आपके साथ है तो दुनिया में कुछ भी मुश्किल नहीं है। जब तलवार की धार, चाकू की धार को पैना किया जा सकता है तब मेधा की धार को पारगामी क्यों नहीं किया जा सकता। बशर्ते परम पराक्रम का पैमाना हर वक्त साथ रहे।

1.14 उत्साह से भाग्य का निर्माण—

साहस + उत्साह जब दो मिलते हैं तब 1 + 1 दो हो जाते हैं। 1 – 1 करके 11 हो जाते हैं । उत्साह लक्ष्मी के मूल भाग्य की प्रगति का द्वार है। उत्साही बालक, कवि, लेखक, डॉक्टर, मास्टर, एडवोकेट, जज, इंजीनियर और कुशल प्रबन्धक बन जाता है। उत्साह से सैनिक विजयी बन जाता है। उत्साह के अभाव में सफलता असफलता बन जाती है। तरक्की की तालिका अवरुद्ध हो जाती है। एक उर्दू शायर ने लिखा है—

सहारा जो गैरों का तकते रहे
वे तसवीर बनकर लटकते रहे ।

छात्र मेधावी बनने के लिए उत्साह-उमंगों का आशियाना सदा अपने साथ रखें। अब्राहम लिंकन की तरह उत्साह को कभी मंद न होने दें। अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन सन् 1831 से 1859 तक चुनावों में हारते रहे। न ही वे व्यापार में सफल हो पाए पर उन्होंने धैर्य को कभी नहीं खोया। वे यही सोच-सपना लिए हर चुनाव में उम्मीद के साथ खड़े होते कि इस बार मेरी जीत अवश्य होगी। हारने पर उनका संकल्प होता— "एव्रीथिंग राइजेज बट टु फाल", जो चढ़ता है वह कभी पड़ता भी है। पर एक-दो बार गिरने से कभी कोई चलना नहीं छोड़ता। छोटा बालक जब चलना सीखता है तो बार-बार गिरता भी है पर वह चलने के प्रयास को बंद नहीं करता अपितु और अधिक उत्साह से जीवन की उजली भोर के उदित होने की प्रतीक्षा करता है।

1.15 कल नहीं, आज अभी—

स्वेट मार्टन नामक एक चिन्तक ने लिखा है कि असफलता के चार कारण हैं—

1. दिमाग की अस्थिरता
2. युग की गति को न समझना
3. कर्तव्य का पालन आधे मन से करना
4. आज का काम कल पर छोड़ना

कुछ लोगों की प्रवृत्ति होती है आज नहीं कल करेंगे। कल के नाम टाल-मटोल करते रहते हैं। कल अनिश्चित है। कल आये या ना आए, कोई भरोसा नहीं। कल की आदत आलस-अकर्मण्यता की प्रतीक है। कल शैतान का दूत है। इतिहास के पृष्ठों पर इस कल की धार से कितने ही प्रतिभाशालियों का गला कट गया अतः कल की उपासना मत करो। घड़ी कहती है—

What the Clock says Tick Tick Tick,
What you have to do do quick.
Time is gliding fast away,
Let us act act act today.

व्हाट दी क्लॉक सेज टिक टिक टिक ।
व्हाट यू हेव टू डू डू क्विक।
टाइम इज ग्लाइडिंग फास्ट अवे।
लेट अस एक्ट एक्ट एक्ट टुडे।

टिक टिक टिक करती हुयी घड़ी तुम्हें कहती है कि जो कुछ करना हो शीघ्र कर लो, समय तेजी से जा रहा है। सत्कर्म करना है तो आज ही करना चाहिए।

धर्मपुत्र युधिष्ठिर के पास एक ब्राह्मण आया। उसने धर्मराज से दक्षिणा माँगी । युधिष्ठिर ने कहा—कल आना। दक्षिणा कल दूँगा। निश्चयवाचक वाक्य सुनकर भीम ने नगाड़ा बजा दिया। युधिष्ठिर ने पूछा—अरे भीम! आज असमय में नगाड़ा क्यों बजाया ? भीम ने प्रत्युत्तर में कहा—आपने काल को जीत लिया इसलिए मैंने हर्षोल्लास में नगाड़ा बजाया है। भीम की पहेली की गूढ़ भाषा को युधिष्ठिर नहीं समझ पाए। तब भीम ने कहा—भैया! आपने ब्राह्मण को कहा—दक्षिणा कल दूँगा अर्थात् आपने कल के लिए काल को अपने अधीन बना लिया। आप कालजयी बन गए। युधिष्ठिर ने अपनी भूल महसूस करते हुए कल की दक्षिणा को आज के रूप में बदल दिया।

विद्यार्थी मेधासम्पन्न वही बन सकते हैं जो किसी पाठ पारायण को कल के भरोसे नहीं छोड़ते। "**काले कालं समायरे**" की सूक्ति को जीवन निर्माण का आदर्श वाक्य बनाते हैं। मेधा उनके सघन प्रयास को, सतत पुरुषार्थ को, अदम्य आत्मविश्वास को देखकर सक्रिय हो उठती है।

1.16 अभ्यास से कार्य दक्षता—

कहा जाता है—

करत करत अभ्यास नित, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ही, सिल पर परत निशान।।

अभ्यास से मूर्ख विद्वान बन जाता है। धीरे-धीरे पर्वत भी चूर्ण हो जाता है। बाण अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। बार-बार मिलने से अबन्धु बन्धु बन जाता है । दूरी के कारण अभ्यास की निरन्तरता न रहने से बन्धुओं में भी स्नेहभाव कम हो जाता है।

अभ्यास के सामने कोई भी कार्य दुष्कर नहीं होता। अभ्यास से सर्वत्र सफलता, सभी कलाओं में सिद्धि होती है। पेरिस निवासी कुमारी निकोली हम्बर्ट ने अभ्यास के सहारे प्रतिमिनट 260 शब्द लिखकर स्टेनोटाइम प्रतियोगिता में विजय हासिल की।

इंग्लैंड के एक प्रमुख नेता संसद में भाषण देने खड़े हुए किन्तु घबराहट में बोल नहीं पाये। शरीर पसीने से तरबतर हो गया। आत्मविश्वास ने जवाब दे दिया। वे चुपचाप अपनी जगह बैठ गये। सदस्य उनका मजाक करने लगे । उन्होंने कहा—मित्रों! आज तो मैं अपना स्थान ग्रहण कर रहा हूँ लेकिन वह दिन दूर नहीं जब आप मेरा भाषण सुनने के लिए दौड़े-दौड़े आएँगे। बस उसी दिन से उन्होंने भाषण का अभ्यास जारी रखा एवं ऐसी प्रगति की कि उनके कई भाषण विश्वव्यापी प्रसिद्धि के कारक बन गये।

एक विचारक ने लिखा है— ``Practice makes a man perfect." अभ्यास के द्वारा व्यक्ति हर क्षेत्र में निष्णात हो सकता है, किसी भी ऊँचे ओहदे पर पहुँच सकता है । पद-प्रतिष्ठा, सुयश-शोहरत के नामीगिरामी मुकाम को छू सकता है। अभ्यास में वह ताकत है जो मैन को सुपरमैन बना देती है, नर को नारायण बना देती है और अज्ञ को विशेषज्ञ बना देती है।

1.17 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जीवन विज्ञान प्रणाली में विद्यार्थी विकास के मुख्यत: कितने आयाम बताये गये हैं ?

(क) दो ☐ (ख) चार ☐ (ग) आठ ☐

प्रश्न 2-छात्र जीवन में पहला गुण "....." का होना चाहिए ?

(क) शिक्षा ☐ (ख) अनुशासन ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 3-एक आँख वाले.....ने साहस शौर्य के बलबूते पर महान कीर्ति के उत्तुंग शिखर को छू लिया।

(क) राजा रणजीत सिंह ☐ (ख) तैमूर ☐ (ग) ये दोनों ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-प्रतिभावान बनने के 10 कैप्सूल कौन से हैं ? नाम बताइए ?

प्रश्न 2-हमें भोजन में क्या खाना चाहिए ?

प्रश्न 3-छात्र जीवन के पहले गुण 'अनुशासन' का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 4-मेधावी छात्र के लक्षणों को लिखिए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-बौद्धिक विकास में रंगों की क्या भूमिका है ? इस पर प्रकाश डालिए ?

पाठ-2 – व्रत उपवास : वैज्ञानिक अनुचिंतन

2.1 जैन धर्म में पर्व, व्रत और उपवास–

प्रत्येक वर्ष अनेकों पर्व आते हैं। ये पर्व प्राय: सामाजिक एवं धार्मिक प्रकृति के होते हैं लेकिन कुछ राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के भी होते हैं। ये पर्व हमें रोजमर्रा की आम जिन्दगी से हटकर कुछ विशेष सोचने, चिन्तन–मनन करने की प्रेरणा देते हैं। पर्व का अर्थ होता है गाँठ। जिस प्रकार गन्ना चूसते–चूसते बीच में गाँठ आ जाती है और उस वक्त तक हम रसास्वादन नहीं कर पाते हैं जब तक कि वह गाँठ रहती है, उसी प्रकार पर्व के दिन भी हमें कुछ हटकर सोचने की प्रेरणा देते हैं।

धार्मिक पर्वों को कुछ विशेष रूप से मनाया जाता है। इन दिनों प्राय: व्रत और उपवास रखा जाता है। व्रत का सामान्य अर्थ होता है संकल्प, नियम या उपवास और उपवास का सामान्य अर्थ होता है भोजन का त्याग। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्रत के दिनों में अर्थात् धार्मिक पर्व के दिनों में नियमपूर्वक या संकल्पपूर्वक भोजन का त्याग करा जाता है। भारतवर्ष में यदि सभी धर्मों के पर्वों को इकट्ठा करके देखा जाय तो प्रतिदिन अनेक पर्व आते हैं। अकेले जैनधर्म में इन पर्वों और व्रतों की संख्या प्रतिवर्ष 250 से अधिक ही बैठती है। चौबीस तीर्थंकरों के पाँच–पाँच कल्याणक के हिसाब से 120 पर्व (कुछ पर्व एक दिन में दो भी हो जाते हैं), अष्टमी–चतुर्दशी व्रत, अष्टान्हिका एवं दशलक्षण पर्व, सोलहकारण, रत्नत्रय व्रत आदि सभी इनमें सम्मिलित हैं।

हालांकि प्रत्येक धर्म में पर्व के दिनों में व्रत और उपवास के महत्व को स्वीकारा गया है लेकिन जैनधर्म में इन्हें जिस गहराई तक समझा गया है उतना अन्य धर्मों में नहीं समझा गया है। प्राय: सभी जैनेतर धर्मों में व्रत और उपवास का महत्व देवी–देवताओं को प्रसन्न करके भौतिक सुख प्राप्त करने तक ही सीमित रहा है जबकि जैन धर्मानुसार ये व्रत–उपवास मात्र भौतिक सुख ही नहीं बल्कि मोक्षरूपी अनन्त सुख को प्रदान करने वाले होते हैं बशर्ते कि इन्हें ठीक प्रकार से समझा गया हो तथा उनका ठीक प्रकार से पालन किया गया हो।

जैन धर्मानुसार पर्व के दिनों में चारों प्रकार के आहार का त्याग करके धर्मध्यान में दिन व्यतीत करना प्रोषधोपवास कहलाता है, उस दिन हिंसादि आरम्भ करने का भी त्याग होता है। एक बार भोजन करना प्रोषध कहलाता है तथा सर्वथा भोजन न करना उपवास कहलाता है। दो प्रोषधों के बीच एक उपवास करना 'प्रोषधोपवास' है। इसे श्रावकों के चार शिक्षाव्रतों में से एक के रूप में लिया गया है। व्रत प्रतिमा में प्रोषधोपवास सातिचार होता है और प्रोषधोपवास प्रतिमा में निरतिचार यदि सामान्य गृहस्थ प्रोषधोपवास न कर सकता हो तो वह अपनी शक्ति के अनुसार उपवास, एकाशन या ऊनोदर आदि भी कर सकता है।

उपवास में प्रात:काल एवं सायंकाल में सामायिक, रात्रि में कायोत्सर्ग और दिन में स्वाध्याय करना चाहिए, हिंसादि आरम्भ से बचना चाहिए और ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए, दिन भर धर्मध्यान में ही अपने को लगाये रखना चाहिए। जैनधर्म में व्रत और उपवास की व्याख्या करते हुये कहा गया है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह से विरक्त होना व्रत है या प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है उसे व्रत कहते हैं और विषय कषायों को छोड़कर आत्मा में लीन रहना या आत्मा के निकट रहना उपवास है अत: विषय, कषाय और आरम्भ का संकल्पपूर्वक त्याग करना उपवास है, मात्र भोजन का त्याग करना और दिन भर विषय, कषाय, और आरम्भ आदि में प्रवर्त रहना तो मात्र लंघन है, उपवास नहीं।

जैनधर्म में कहा गया है कि व्रत–उपवास अनेक पुण्य का कारण है, स्वर्ग का कारण है, संसार के समस्त पापों का नाश करने वाला है। जो व्यक्ति सर्वसुखउत्पादक श्रेष्ठ व्रत धारण करते हैं, वे सोलहवें स्वर्ग के सुखों को अनुभव कर अनुक्रम से अविनाशी मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं।

2.2 वैज्ञानिक अनुचिंतन-

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म में व्रत और उपवास का बहुत महत्त्व बताया गया है लेकिन व्रत-उपवास में भोजन के त्याग के साथ-साथ हिंसादि आरम्भ का त्याग, सामायिक, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय और धर्मध्यान को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। अनेक चिन्तकों ने व्रत-उपवास के महत्व को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझने का प्रयत्न किया है। कुछ इन्हें ध्यान और योग के लिए आवयश्यक बताते हैं तो कुछ स्वास्थ्य और आरोग्य के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं। कुछ ने इनका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अध्ययन किया है।

2.3 योग दर्शन और व्रत-उपवास—

ध्यान और योग का प्रचलन कुछ समय से अधिक हो गया है लेकिन इसका उपयोग बहुत सीमित कर रखा है। वस्तुतः योग एक प्राचीन साधना पद्धति है। पतंजलि ने योग की विस्तृत व्याख्या की है। योग साधना के आठ अंग हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। **यम** का अर्थ है निग्रह अर्थात् छोड़ना। पतंजलि ने यम को योग की आधारशिला माना है। यम पाँच हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन तथा परिग्रह का त्याग। जीवन की वे प्रवृत्तियाँ जो योग के लिए अनिवार्य हैं तथा जो यम के पालन में सहायक हैं, **नियम** कहलाती हैं। ये नियम भी मुख्यतः पाँच हैं—शौच (मन, वचन, व काय की शुद्धता), संतोष, तप (बाह्य एवं अंतरंग), स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान (मन, वचन, व काय की वे प्रवृत्तियाँ जिससे आत्मा परमात्मा बन जाय।)

आसन शरीर की वह स्थिति है जिससे शरीर बिना किसी बेचैनी के स्थिर रह सके और मन को सुख की प्राप्ति हो। **प्राणायाम** श्वांस को नियन्त्रित रखने की प्रक्रिया है। बाह्य विषयों से मुक्त होकर अन्तर्मुखी होना **प्रत्याहार** कहलाता है। शांत चित्त को शरीर के किसी स्थान पर एकाग्र करने को **धारणा** कहते हैं और चित्त को उसी विषय में निरन्तर लगाए रखने को (**ध्यान**) कहते हैं। जब केवल ध्येय स्वरूप का ही भान रहे, ध्यान की उस अवस्था को **समाधि** कहते हैं।

लेकिन आजकल विश्व भर में प्रचलित योगाभ्यास प्रायः आसन और प्राणायाम करने तक ही सीमित है। ध्यान के अन्य अंगों का प्रायः पालन नहीं किया जाता है। हाँ! इतना अवश्य है कि आज भी योगाभ्यासी को सात्त्विक एवं सादा भोजन करने की सलाह दी जाती है।

पतंजलि ने यम, नियम आदि की जो व्याख्या की है तथा आसन और ध्यान की बात कही है वह वस्तुतः जैनधर्म में वर्णित पाँच पापों से विरक्ति (व्रत), कषायादि से बचने, आसनपूर्वक सामायिक, धर्मध्यान और कायोत्सर्ग के समकक्ष ही हैं अतः व्रत और उपवास वस्तुतः सामधि प्राप्त करने की दिशा में जाने का प्रयास ही है।

2.4 अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ और उपवास—

हमारे शरीर में आठ प्रमुख अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ पाई जाती हैं। ये हैं—पीयूस, पिनियल, थायोराईड, पेरा-थायोराइड थायमर्स, एंड्रिनल, पैंक्रियाज और प्रजनन। ग्रंथियाँ निरन्तर रस का स्राव करती रहती हैं। इन ग्रंथियों से होने वाला रसस्राव जब तक संतुलित रहता है, मनुष्य स्वस्थ बना रहता है और जब इन स्रावों में असन्तुलन होने लगता है, रोग प्रकट होने लगते हैं। हमारी वृत्तियों और कामनाओं का उद्गम इनके द्वारा ही होता है। हमारा रहन-सहन, चिन्तन-मनन, खान-पान तथा आचार-विचार अन्तःस्रावी ग्रंथियों पर बहुत प्रभाव डालते हैं। व्रत-उपवास द्वारा इन ग्रंथियों को नियन्त्रण में रखा जा सकता है तथा इनसे होने वाले रसस्रावों में सन्तुलन रखा जा सकता है। व्रत-उपवास में भोजन, विचार और मन पर हमारा नियन्त्रण होने लगता है, फलतः शरीर भी स्वस्थ रहता है।

उपवास द्वारा चिकित्सा—मनुष्य को छोड़कर जितने भी प्राणी इस संसार में हैं, उनमें प्रायः एक विशिष्ट बात देखने में आती है। यदि उन्हें कुछ बीमारी हो जाय या कहीं उन्हें चोट लग जाय तो सबसे पहले उनका कदम होता है कि

वे अपने भोजन का त्याग कर देते हैं। जब तक वे थोड़े स्वस्थ होना प्रारम्भ न कर दें वे आहार ग्रहण नहीं करते हैं। प्राय: यह देखा गया है कि वे शीघ्र ही ठीक हो जाते हैं लेकिन यदि मनुष्य को कुछ बीमारी हो जाय तो वह दवा के लिए भागता है वह अपने शरीर को प्राकृतिक रूप से ठीक ही नहीं होने देता है। यदि वह वैसा ही करे जैसा बीमारी के समय अन्य पशु-पक्षी करते हैं तो उसे नि:सन्देह लाभ तो होता ही है और यदि साथ में आत्मचिन्तन भी करे तो यह लाभ कई गुना हो जाता है।

एक बात नवजात छोटे बच्चों में तो देखी गई है यदि उन्हें शरीर में कुछ परेशानी होती है तो वे प्राय: दूध आदि ग्रहण करना नहीं चाहते हैं। यदि कोई उन्हें चम्मच आदि से दूध देने का प्रयत्न करता है तो वे अपना मुँह बन्द कर लेते हैं। लगता है कि वे भी पशु-पक्षियों की तरह शारीरिक परेशानी के समय भोजन ग्रहण नहीं करना चाहते हैं। लेकिन हम बड़ी उम्र के लोग उन बच्चों का जबरदस्ती आहार कराना चाहते हैं।

वस्तुत: मनुष्य का शरीर एक अद्‌भुत और संपूर्ण यंत्र है। जब वह बिगड़ जाता है तो बिना किसी दवा के अपने आपको सुधार लेता है, बशर्ते उसे ऐसा करने का मौका दिया जाय। अगर हम अपनी भोजन की आदतों में संयम का पालन नहीं करते हैं या अगर हमारा मन आवेश, भावना या चिन्ता से क्षुब्ध हो जाता है तो हमारे शरीर में गंदगी इकट्ठी होने लगती है जो जहर का काम करती है तथा रोगों को पैदा करती है। इस गंदगी को दूर करने में उपवास से हमें बहुत मदद मिलती है तथा मनुष्य स्वस्थ हो जाता है।

2.5 अष्टमी-चतुर्दशी व्रतों का महत्व—

जब से प्राकृतिक चिकित्सा की ओर लोगों का रुझान बढ़ने लगा है, तब से अष्टमी-चतुर्दशी के व्रतों का महत्व और अधिक महसूस होने लगा है। इन व्रतों के महत्व को समझने से पहले हम रोग के बारे में प्राकृतिक चिकित्सा के विचारों के बारे में जानें।

इन चिकित्सकों का मत है कि बुखार, खाँसी, उल्टी, दस्त आदि किसी रोगी को होते हैं तो वस्तुत: ये रोग नहीं हैं, रोग के लक्षण हैं। रोग के लक्षण कुछ भी हों, बीमारी की जड़ एक ही होती है और वह है हमारे शरीर में विष द्रव्यों (जहर) का इकट्ठा होना। अब प्रश्न यह है कि आखिर शरीर में जहर आता कहाँ से है ? इसके उत्तर में उनका कहना है कि हम जो कुछ आहार ग्रहण करते हैं एक प्रकार का विषद्रव्य (जहर) भी बनाता है जिसे अंग्रेजी में Toxin (टॉक्सिन) कहते हैं। यह टॉक्सिन रक्त में मिल जाता है तथा शरीर में प्राकृतिक रूप से निर्मित नौ मल द्वारों द्वारा बाहर फेंक दिया जाता है। विष द्रव्य का बनना और उन्हें स्वाभाविक रूप से रक्त द्वारा बाहर फेंक देना यह एक प्राकृतिक क्रिया है। यदि शरीर के अन्दर विष-द्रव्य इतनी अधिक मात्रा में जमा हो जायें कि रक्त उन्हें पूरी तरह बाहर न फेंक पाये तो वे शरीर के अन्दर ही इकट्ठे होने लगते हैं और विभिन्न रोगों के रूप में परिलक्षित होते हैं। विषद्रव्यों के जमाव को Toxemia कहते हैं।

आज के औद्योगिक युग में हम विष द्रव्यों का कई अन्य रूपों में भी सीधा सेवन करने लगे हैं। अशुद्ध हवा, अशुद्ध पानी, खेती में प्रयोग आने वाली विभिन्न रासायनिक खादें, अंग्रेजी दवायें आदि ये सब हमारे शरीर में विष द्रव्य की मात्रा को सामान्य से अधिक कर देते हैं। और जो लोग अंडा, माँस आदि का सेवन करते हैं उनके शरीर में इन विषद्रव्यों की मात्रा और अधिक हो जाती है। अनियमित और अधिक भोजन तो इन्हें बढ़ाता है ही।

आधुनिक चिकित्सक जिन बीमारियों का कारण बैक्टीरिया और वायरस बताते हैं, वस्तुत: उनका मूल भी शरीर के अन्दर होने वाले विष द्रव्यों का जमाव (Toxemia) ही है। यूँ तो वातावरण में अनगिनत बैक्टीरिया और वायरस भरे पड़े हैं। इन्हें हम श्वांस द्वारा, पानी और भोजन द्वारा ग्रहण भी करते रहते हैं लेकिन ये बैक्टीरिया और वायरस उन्हें ही असर करते हैं जिनके शरीर में विष द्रव्यों का जमाव हो। वस्तुत: ये विष द्रव्य ही उन्हें शरीर के अन्दर फैलने, फूलने और अपनी वंश वृद्धि करने का पूरा मौका देते हैं। यदि इन विष द्रव्यों के जमाव को हटा दिया जाय तो बीमारी ठीक हो जाती है।

इन विष द्रव्यों को दूर करने का सबसे अच्छा उपाय है उपवास करना। उपवास में हम भोजन तो करते नहीं हैं अत: नया विष द्रव्य तो हम शरीर में बनने नहीं देते हैं तथा जो पुराना अतिरिक्त विष द्रव्य बाकी रह गया होता है उसे बाहर निकलने का मौका मिल जाता है।

आयुर्वेद में भी उपवास के महत्व को स्वीकारा गया है। उपवास में आहार का त्याग करने में आमाशय खाली हो जाता है तथा जठराग्नि के रूप में जो ऊर्जा आहार को पचाने में कार्य करती है, उसका उपयोग पाचन तंत्र की सफाई में लग जाता है। जो अतिरिक्त विष द्रव्य शेष रह जाता है उसे जठराग्नि समाप्त कर देती है जिससे रक्त भी शुद्ध होने लगता है तथा शरीर में प्रतिरोध क्षमता बढ़ने लगती है। उपवास शरीर को आरोग्य और शुद्धि प्रदान करता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि जठराग्नि का मुख्य कार्य तो भोजन पचाना है, लेकिन यदि उसे भोजन न मिले तो पहले वह अपनी शक्ति का उपयोग विषद्रव्य को नष्ट करने में लगा देती है। उसके नष्ट हो जाने के पश्चात् भोजन ठीक से पचने लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपवास हमारे शरीर को आरोग्य और शुद्धि प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आजकल की भाग दौड़ की जिन्दगी में तथा फास्ट फूड के जमाने में हम विष द्रव्यों को पहले से अधिक इकट्ठा करते हैं। प्रदूषित वातावरण तथा ऊपर से अंग्रेजी दवायें (जो स्वयं विष होती हैं तथा उनके ऊपर कई बार लिखा भी होता है कि ये विष है, बच्चों से दूर रखो) इन्हें और अधिक बढ़ाते हैं। ऐसी स्थिति में सप्ताह में एक दिन का उपवास आरोग्य की दृष्टि से हितकर ही है। हमारे आचार्यों ने अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास रखने का निर्देश दिया है। संभवत: उनकी भी मूल भावना यही रही होगी कि विष द्रव्यों का जमाव शरीर में न होने पाए। यदि शरीर निरोगी होगा तो ध्यान अच्छी तरह लगाया जा सकता है तथा अन्तर्मुखी हुआ जा सकता है।

कुछ लोग प्राय: यह शंका करते हैं कि यदि उपवास ही रखना है तो अष्टमी और चतुर्दशी को ही क्यों ? किसी और दिन क्यों नहीं ? इस पर कुछ विचारकों ने अपना चिन्तन व्यक्त किया है कि इन दिनों सूर्य और चन्द्र की स्थिति कुछ ऐसी होती है जो हमारी जठराग्नि को मन्द कर देती हैं अत: इन दिनों हम जो भोजन करते हैं वह ठीक से पच नहीं पाता है। और जो मन्द प्रकृति की जठराग्नि उन दिनों होती है वह विषद्रव्य को जला देने के लिए पर्याप्त होती है।

2.6 उपवास पर गाँधीजी के विचार-

गाँधीजी ने आत्मा और शरीर दोनों को निरोगी रखने के लिए उपवास को बहुत महत्वपूर्ण माना है, उन्होंने उपवास में भोजन त्याग करने के साथ–साथ रामनाम का जाप करने की सलाह भी दी है। यहाँ रामनाम से उनका तात्पर्य था कि यह कुछ भी हो सकता है—ईश्वर, अल्लाह, गॉड या फिर कुछ भी, जिस पर आप श्रद्धा रखते हों। कुदरती (प्राकृतिक) उपचार के दौरान भी भोजन त्याग के साथ-साथ रामनाम जपने से स्वास्थ्य जल्दी से अच्छा होता है। उनका यह विश्वास था कि स्वास्थ्य के बारे में सादे नियमों को पालन करके मानव शरीर, मन और आत्मा को पूर्ण स्वस्थ स्थिति में रखा जा सकता है।

उपवास के दौरान अहंकार आदि के अभाव की बात भी उन्होंने कही है। यदि इन कषायों का त्याग हो, रामनाम का जाप करता हो और भोजन का त्याग कर दिया हो तो निरोगी बनने में बहुत मदद मिलती है। वे लिखते हैं—" मैं मानता हूँ कि निरोग आत्मा का शरीर निरोग होता है अर्थात् ज्यों–ज्यों आत्मा निरोगी–निर्विकार होती जाती है, त्यों–त्यों शरीर भी निरोग होता जाता है लेकिन यहाँ निरोग शरीर के माने बलवान शरीर नहीं है। बलवान आत्मा क्षीण शरीर में भी वास करती है। ज्यों-ज्यों आत्मबल बढ़ता है, त्यों-त्यों शरीर की क्षीणता बढ़ती है। पूर्ण निरोग शरीर क्षीण भी हो सकता है"।

यह सर्वविदित है कि गाँधीजी ने स्वयं कई-कई दिनों के उपवास किये थे। इन उपवासों के दौरान उन्हें जो अनुभव हुए उन्हें लोगों के सम्मुख रखा। उन्होंने अपने आत्मचरित 'सत्य के प्रयोग' नामक पुस्तक में भी इनकी चर्चा की है।

2.7 उपवास : आत्मशुद्धि की प्रक्रिया–

अनेक चिकित्सकों ने लम्बे समय तक उपवास करने के दौरान होने वाली प्रक्रियाओं का गहन अध्ययन किया। उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किये उन्हें संक्षेप में निम्न प्रकार से कहा जा सकता है–

1. भोजन न लेने से पाचन तंत्र को पाचन क्रिया से मुक्ति मिलती है जिससे सम्पूर्ण पाचन तंत्र में शुद्धि का कार्य प्रारंभ हो जाता है।

2. सम्पूर्ण शरीर में अब पोषक तत्व (आहार) न मिलने से रचना कार्य रुक जाते हैं और पूरे शरीर में स्व–शुद्धिकरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। डॉ. लिण्डनार के शब्दों में कहें तो पचे हुए आहार का पेशियों में आत्मसात् होना रुक जाता है। जठर और आँतों की अन्तर्त्वचा, जो हमेशा पचे हुए आहार को चूसती है, वह अब जहर को बाहर फेंकने की शुरूआत कर देती है।

3. शरीर में किसी जगह गाँठ या विषद्रव्यों का जमाव हुआ हो तो उपवास के दौरान ऑटोलिसिस (Autolysis) की प्रक्रिया द्वारा वह विसर्जित होने लगता है। उसमें रहने वाला उपयोगी भाग शरीर के महत्वपूर्ण अंगों (हृदय, मस्तिष्क आदि) को पोषण प्रदान करने के काम आता है, जबकि जहर शरीर से बाहर फिंकने लगता है। गाँठों आदि का विसर्जन होने के बाद कम उपयोगी पेशियाँ विसर्जित होकर महत्व के अंगों के पोषण कार्य में उपयोगी होने लगती हैं।

2.8 उपवास से रोग मुक्ति—

रोग दो प्रकार के होते हैं—तीव्र रोग तथा हठीले रोग। तीव्र रोग अपना असर तुरन्त दिखाते हैं एवं अधिक तीव्रता के साथ प्रकट होते हैं जब कि हठीले रोग सालों साल चलते हैं। दोनों प्रकार के रोगों से मुक्त होने के लिए उपवास लाभदायक होते हैं। अलग-अलग तरह के बुखार, दस्त, सर्दी, जुकाम जैसे रोग तीव्र होते हैं; इन रोगों की स्थिति में उपवास जरूरी ही नहीं, बल्कि अनिवार्य माना गया है। हठीले रोगों में भी उपवास से लाभ होना देखा गया है। यह कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं जिनका वैज्ञानिकों / चिकित्सकों ने स्वयं निरीक्षण किया है—

1. क्षय रोग में उपवास से फेफड़ों को बहुत लाभ होता है तथा फेफड़े ठीक हो जाते हैं। फेफड़ों के रोगों में थोड़े दिन का उपवास बहुत लाभकारी होता है।

2. उपवास से हृदय को खूब शक्ति मिलती है तथा हृदय मजबूत होता है।

3. उपवास से हृदय का बोझ हल्का हो जाता है तथा उच्च रक्तचाप निश्चित ही कम हो जाता है।

4. उपवास से जठर को खूब आराम मिलता है और स्वयं ठीक होने लगता है। इससे पाचन सुधरता है, फैला हुआ जहर संकुचित होकर स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है, अल्सर मिट जाता है, सूजन और जलन दूर हो जाती है।

5. कैंसर जैसे रोगों को भी उपवास द्वारा ठीक करने के कई उदाहरण मिलते हैं।

6. दमा, सन्धिवात, आधाशीशी, अतिसार, दाद, खाज, पौरुष ग्रंथि की वृद्धि, जननेन्द्रिय के रोग, लकवा, मूत्र पिण्ड के रोग, पित्ताशय की पथरी, छाती की गाँठ, बाँझपन आदि को भी उपवास द्वारा ठीक करने के कई उदाहरणों को डा. एच.एम.शेल्टन ने अपनी पुस्तक Fasting can save your life में लिखा है।

7. श्री गिदवाणी ने अपने अनुभवों के आधार पर लिखा है कि अपने आहार को नियन्त्रित अथवा कम करने से घुटने के दर्द तथा आँख की खुजली को ठीक करा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न रोगों के उपचार में उपवास का बहुत महत्त्व है। रोग होने पर उपचार करना एक बात है और कुछ ऐसे उपाय करना जिससे रोग ही उत्पन्न न हो दूसरी बात है। एक कहावत है—"Precaution is better than cure" इलाज से अच्छा सावधानी है अत: अपने शरीर को निरोगी बनाये रखने के लिए समय-समय पर

उपवास करते रहना चाहिए।

उपवास के पश्चात् हमें एक विशेष बात का ध्यान रखना चाहिए। उपवास तोड़ने पर हमें तुरन्त खाने पर टूट नहीं पड़ना चाहिए बल्कि बहुत ही हल्के भोजन के साथ ही उपवास तोड़ना चाहिए। यदि उपवास अधिक दिनों का है तो पहले हल्के पेय पदार्थ, जैसे—फलों के रस आदि, फिर दाल या दलिया का सूप या खिचड़ी आदि लेना चाहिए। फिर क्रमशः हल्के और कम भोजन से प्रारंभ करके सामान्य भोजन पर आना चाहिए। यदि कोई अधिक दिनों के उपवास के पश्चात् सीधे सामान्य भोजन पर उतर आता है तो उसे लाभ होने के बजाय हानि होने की पूरी संभावना होती है।

2.9 व्रत-उपवासों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव—

कुछ समाजशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों ने व्रत और उपवास का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया है। उनका मानना है कि पर्व, व्रत और उपवास मनुष्य मन पर एक सकारात्मक प्रभाव डालते हैं। ये मानव की मनोवृत्तियों एवं विचारधाराओं में परिवर्तन लाते हैं। ये मन को शुद्ध करने के सशक्त साधन हैं।

कई व्रतों से सम्बन्धित कुछ प्रेरणादायक कथायें जुड़ी रहती हैं। जब हम इन कथाओं को पढ़ते हैं तो हमारे भाव भी शुभ कार्यों की ओर प्रवृत्त होने लगते हैं। कुछ व्रत-कथाओं में वर्णन आता है कि व्रतों का ठीक प्रकार से पालन किया जाय तो वे स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करने वाले होते हैं। इस प्रकार इन कथाओं से इच्छित फल प्राप्ति के लिए व्रत-उपवास करने की प्रेरणा मिलती है।

इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि आरोग्य एवं रोगमुक्ति के लिए भी व्रत और उपवास का बहुत महत्व है। साथ ही पारलौकिक सुख, शांति एवं मोक्ष की प्राप्ति में भी ये बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। यदि कोई इनके बारे में अधिक खोजबीन करे बगैर मात्र श्रद्धावश सम्यक् प्रकार से व्रत-उपवास करता है तो भी उसका शरीर तो निरोगी बनेगा ही, साथ में वह स्वयं अनन्त सुख प्राप्त करने का अधिकारी भी बनता है।

2.10 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-उपवास का सामान्य अर्थ होता है ?

(क) भोजन ग्रहण ☐ (ख) भोजन त्याग ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 2-हमारे शरीर में प्रमुख अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ कितनी होती हैं ?

(क) 9 ☐ (ख) 108 ☐ (ग) 8 ☐

प्रश्न 3-योगसाधना के अंग कितने हैं ?

(क) 12 ☐ (ख) 20 ☐ (ग) 8 ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-"प्रोषधोपवास" की क्या क्रिया है ?

प्रश्न 2-योग साधना के कितने अंग हैं ? नाम लिखिए ?

प्रश्न 3-उपवास के दिन हमें क्या-क्या कार्य करना चाहिए ?

प्रश्न 4-अष्टमी-चतुर्दशी पर्वों का क्या महत्व है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-"उपवास पर गांधी जी" के विचारों को प्रस्तुत कीजिए ?

पाठ 3 – श्रावक की त्रेपन क्रियाएँ

3.1 संसार के सभी प्राणी सुख की कामना करते हैं और यत्किंचित् भी दुख नहीं चाहते हैं।

पंडितप्रवर श्री दौलतरामजी ने 'छहढाला' नामक अनुपम आध्यात्मिक कृति में प्राणी की इस दशा का बहुत ही सुन्दर रेखांकन किया है—

'जे त्रिभुवन में जीव अनंत, सुख चाहें दुःखतें भयवंत।
तातें दुःखहारि सुखकार, कहें सीख गुरु करुणाधार।।

जीव की यह दशा क्यूँ हुई है ? इस पर भी प्रकाश डालते हुए लिखा है—

'ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्याण।
मोहमहामद पियो अनादि, भूलि आपको भरमद वादि।।

अनादिकाल से मोह माया में पड़कर इस प्राणी पर जो संस्कार पड़ गये उसको जब तक दुरुस्त नहीं किया जाएगा तब तक प्राणी कभी भी सच्चे सुख का अनुभव नहीं कर सकता। प्राणियों में सबसे श्रेष्ठतम योनि है—मनुष्य योनि, क्योंकि इस योनि में ही जीव अपने को सुसंस्कारित कर उत्तमोत्तम पद को प्राप्त कर पाता है।

परमपद को प्राप्त होने पर ही यह जीव सर्वोच्च ऐसे अनंत सुख का सदा सर्वदा-अनुभव कर सकता है। यह पद प्राप्त होना सरल नहीं है। एक तो मनुष्य भव प्राप्त होना ही अत्यन्त दुर्लभ है और वह प्राप्त भी हो जाय तो सदाचारयुक्त उत्तम माता-पिता अर्थात् उत्तम जाति, कुल व अनंतसुख का पथदर्शन देने वाला धर्म तथा वैसे संस्कारों का होना इससे भी दुर्लभ है।

सागरोपम वर्षों तक दुःखमय जीवन को भोगते हुए किसी कर्मयोग से मनुष्य भव प्राप्त होने पर तथा उत्तम कुल व उत्तम माता–पिता, उत्तम जाति व उत्तम धर्म धारण करने जैसा वातावरण मिलने पर उत्तम श्रावक बनने का पुरुषार्थ आवश्यक है।

जैनाचार्यों ने मनुष्य की दशा को सुधारने का मार्ग प्रशस्त करते हुए उत्तम श्रावक बनने के लिये त्रेपन प्रकार के संस्कार अर्थात् त्रेपन क्रियाएँ करना आवश्यक बताया है। ये त्रेपन क्रियाएँ स्वयं अपने आपमें ऐसे संस्कार हैं जिनकी प्राप्ति से यह मनुष्य भव सुसंस्कारित हो अत्युच्च ऐसे अनंत सुखों की प्राप्ति की तरफ अग्रसर हो पाता है। समीचीन संस्कारों से ही वह जितेन्द्रियता का पालक, अनुगामी होने का अधिकारी बन सकता है, बनता है। जितेन्द्रिय द्वारा कथित जिनधर्म सुनने का अधिकार भी ऐसे जीवों को प्राप्त होता है जो सुसंस्कारों से युक्त हो।

श्रद्धा, विवेक और क्रिया द्वारा अपने मनुष्य जीवन तथा नाम को सार्थक बनाने वाला जैन श्रावक अपने बालक–बालिकाओं को सुसंस्कारित और सुशिक्षित किस प्रकार करे इसके लिये जैनाचार्यों ने श्रावक की त्रेपन क्रियाओं का बहुत ही सुंदर निरूपण किया है।

जैनाचार्य श्री जिनसेन स्वामी ने महापुराण नामक महान ग्रंथ में श्रावक की इन त्रेपन क्रियाओं का बहुत ही सुस्पष्ट विवेचन कर उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला है।

व्यक्ति के जीवन की सम्पूर्ण शुभाशुभ वृत्ति उसके संस्कारों के आधीन है। इन संस्कारों में कुछ को वह अपने पूर्वभव के साथ में लाता है और कुछ इसी भव में संगति एवं शिक्षा आदि के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं।

प्रथम तो माता–पिता के रज वीर्य से बनने वाला पिण्ड, जहाँ जीव आता है, उस पर माता-पिता के जीवन का प्रभाव पड़ता है। गर्भाधान के पश्चात् माता के सद्विचार, आचार एवं आहार-विहार के प्रभाव से बालक की शक्तियाँ दृढ़ होती हैं। जिस तरह से खान से निकाले गये सोने को तपा-तपाकर अग्नि के संस्कार से शुद्ध किया जाता है, जिस प्रकार ओबड़–धोबड़ पत्थर से एक कलाकार अपनी कुशाग्र बुद्धि से टांके पर टांके, घाव पर घाव लगाकर एक सुन्दर

मनोज्ञ पूजनीय मूर्ति का निर्माण करता है, उसी प्रकार एक व्यक्ति को भी पूजायोग्य सुसंस्कारों की अनेकों सीढ़ियों से मनुष्य योनि में आने से पूर्व से ही पार होना अति आवश्यक होता है।

भोगभूमि में उपलब्ध सामग्री के अभाव में कर्मभूमि के प्रारम्भ में हुए प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ ने असि, मसि, कृषि, शिल्प, सेवा, वाणिज्य के उपदेश के साथ देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन गृहस्थ जीवन के दैनिक षट्कर्मों का जनता को उपदेश दिया और अपने प्रथम पुत्र भरत चक्रवर्ती को सुसंस्कृत किया और स्वयं ने भी विवाह संस्कार द्वारा गृहस्थ जीवन के बाद का आदर्श प्रस्तुत करते हुए दिगम्बर मुनि की जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष का द्वार उद्घाटित किया।

तत्पश्चात् षट्खण्ड के विजय के बाद भारतवर्ष को अपने नाम से सार्थक बनाने वाले भरत चक्रवर्ती ने जिनेन्द्र देव की महामहपूजा के अन्तर्गत जनता को जिनागम के आधार से इज्या, वार्त्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप का निर्देश करते हुए क्षत्रिय और वैश्य वर्ण में जिन संस्कार विधि का प्रचार-प्रसार किया। उसका आचार्य जिनसेन स्वामी के आदिपुराण इस महान ग्रंथ के अनुसार जो कि "श्रावक की तिरेपन क्रियाएँ (संस्कार)" नाम से प्रसिद्ध हैं उसका विचार यहाँ किया जाता है।

3.2 क्रियाएँ (संस्कार) तीन प्रकार की बतायी हैं—

"गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः।
कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैवं बुधेर्मताः।।51।। आदिपुराण पु. 38 पर्व।

(1) गर्भान्वय क्रिया (2) दीक्षान्वय क्रिया (3) कर्त्रन्वय क्रिया।

(1) गर्भाधान संस्कार—

आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मन्त्रपूर्वकः।
पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया।।70।। आदिपुराण पु. पर्व 38।

स्नान की हुई स्त्री को मुख्य कर गर्भाधान के पूर्व अरहन्तदेव की पूजा और मन्त्रपूर्वक जो पूजा संस्कार किया जाता है उसे 'आधान' क्रिया कहते हैं।

विवाह केवल विषयाभिलाषा की पूर्ति हेतु नहीं अपितु पुत्रोत्पत्ति एवं गृहस्थ जीवन द्वारा सदाचरण, लोकसेवा तथा आत्मोन्नति के उद्देश्य से किया जाता है।

गर्भ में आने वाले बालक को मानसिक और शारीरिक शक्तियों की दृढ़ता और कमजोरी माता द्वारा प्राप्त होती है। माता के मन, वचन और काय की क्रिया का असर बालक पर पड़ता है अतः माता को विवेकशील और धर्मात्मा होना चाहिये।

स्त्री को मासिक धर्म के 4 दिन बाद पाँचवें दिन स्नानादि से शुद्ध होकर मंदिर जाकर जिनेन्द्रदेव की पूजा, स्वाध्याय आदि करना चाहिए।

जिनप्रतिमा के दाई तरफ तीन चक्र, बाईं तरफ तीन छत्र और तीन प्रकार की पुण्याग्नि स्थापन कर दोनों पति-पत्नी अरहन्त भगवान की पूजा कर अग्निकुंडों में होमविधि करके पूजन विधि पूर्ण करें।

(2) प्रीति क्रिया—गर्भाधान के पश्चात् तीसरे महीने में यह संस्कार क्रिया की जाती है। इस क्रिया में भी पूर्वोक्त विधि से अरहंत पूजन करना चाहिये। दरवाजे पर तोरण बांधना चाहिये। पूजन के साथ ही 112 आहुतियों से हवन, पुण्याहवाचन, शान्तिपाठ, समाधिपाठ विसर्जन करावें। पति-पत्नी पर पुष्प क्षेपण करते हुए नीचे लिखा मन्त्र कहे—

"त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव,"

तदनन्तर **'ॐ कं ठ व्हः पः अ सि आ उ सा गर्भार्भकम् प्रमोदेन परिरक्षत स्वाहा'** यह मन्त्र तीन बार पढ़कर गर्भवती के उदर पर पति द्वारा जलसिंचन करावें।

प्रथम गर्भाधान क्रिया में भी पूजन हवनोपरान्त नीचे लिखा मन्त्र पढ़कर पति-पत्नी पर पुष्प क्षेपण करना चाहिये—

सज्जातिभागी भव, सद्गृहीभागी भव, मुनिन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागीभव, परमराज्यभागी भव, अरहन्तभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव'।

(3) सुप्रीति क्रिया—गर्भाधान से पांचवे महीने में यह संस्कार किया जाता है। इसमें पूर्ववत् पूजा, हवन, पुण्याहवाचन आदि करके निम्न प्रकार के खास मन्त्रों से आहुति व पुष्पों से आशीर्वाद देवें—

'अवतार कल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेक कल्याणभावि भव, निष्कांति कल्याणभागी भव, अर्हन्त कल्याणभागी भव, परम निर्वाण कल्याणभागी भव।

इसी समय पति पत्नी के सिर की मांग में सिंदूर और 108 जौ के दानों की पहले से तैयार कराई गई माला '**ॐ झं वं क्ष्वीं हं सः कान्तागले यवमालां क्षिपामि झौं स्वाहा**' मन्त्र पढ़कर पत्नी के गले में पहनावे। पत्नी अपने आँखों में अंजन लगावे।

(4) धृति या सीमंतोन्नयन संस्कार—यह क्रिया सातवें माह में करे। इसका दूसरा नाम है खोल भरना। इसमें भी पूर्ववत् अरहन्त पूजा, हवन, पुण्याहवाचन आदि करें। नीचे लिखे मन्त्रों से आहुती व आशीर्वाद देवें—

'सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहस्थदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव।

अनन्तर पुत्र वाली सौभाग्यवती स्त्री द्वारा तेल व सिंदूर में डूबोकर शमी 'सोना' वृक्ष की समिधा (सींक) से गर्भिणी पत्नी के केशों की मांग भरी जावें। इसी दिन गोद में श्रीफल, मेवा, फल आदि भराकर पति पत्नी जिनमन्दिर जावें, साथ में महिलाएँ भी गीत गाती जावें।

(5) मोद संस्कार—गर्भ से नौवें महीने में यह संस्कार किया जाता है। इसमें पूर्ववत् अर्हन्त पूजा, यंत्रपूजा, हवन करें। साथ ही नीचे लिखे खास मन्त्रों से आहुती व दम्पति को आशीर्वाद देवें—

'सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहस्थकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागीभव, मुनीन्द्रकल्याण-भागीभव, सुरेन्द्रकल्याणभागीभव, मन्दराभिषेकल्याणभागीभव, यौवराज्यकल्याणभागीभव।

पुण्याहवाचन शान्तिपाठ के बाद द्विज विद्वान या स्वयं पति गर्भिणी के शरीर पर गात्रिका बांध मन्त्रपूर्वक बीजाक्षर लिखते हैं और मंगलाचार करके आभूषण पहनाकर उसकी रक्षा के लिये उसे कंकण सूत्र बांधते हैं।

गर्भिणी महिला को प्रतिदिन '**ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा नमः**' इस मन्त्र का जाप (एक माला 108) करना चाहिये। ब्रह्मचर्यपूर्वक रहें, सादा भोजन करें। जिनवाणी के स्वाध्याय में अधिक समय लगावें। हाथ चक्की से आटा पीसने का अभ्यास रखें।

(6) प्रियोद्भव क्रिया—बालक के जन्म के बाद यह क्रिया की जाती है। जन्म का 10 दिन का सूतक होने से गृहस्थाचार्य या जिनको सूतक न लगे, वे जिनमन्दिर में पूजा विधान करें। हवन में '**दिव्य नेमिविजयाय स्वाहा, परम नेमिविजयाय स्वाहा, अर्हंत नेमिविजयाय स्वाहा, घातिजयो भव, श्री आदि देव्यः जाता क्रिया कुर्वन्तु, मन्दराभिषेकार्होभवतु**' इन मन्त्रों से आहुति देवें। पिता आदि भी पुत्र को देखकर यह आशीर्वाद देवें। बाजे आदि बजवावें।

(7) नामकर्म संस्कार—जन्म से 12, 16 या 32 वें दिन शुभ नक्षत्र में यह संस्कार करें। इसमें भी अर्हन्त देव की पूजन आदि पूर्ववत् किया जाता है। 10 दिन का सूतक होने से जिनाभिषेक, पूजा, शास्त्र का स्पर्श नहीं है। मुनिराज भी यहाँ आहार नहीं लेते अतः उपर्युक्त पूजन किया जाता है। घर का प्रसूति स्थान 45 दिन तक अशुद्ध रहता है। 45 वें दिन

नवजात शिशु को जिनमंदिर ले जावे। वहां जिनेन्द्र प्रतिमा के सामने शिशु को माता नीचे सुला देवे और गृहस्थाचार्य या अन्य कोई व्यक्ति नव बार णमोकार मन्त्र उसके कानों में सुनावें। बालक को उसी समय अष्ट मूलगुण (पांच उदम्बर और तीन मकार का स्थूलरूप से त्याग) धारण करा देवें और जैन बनावें। इस त्याग की जिम्मेदारी बालक के विवेकवान होने तक उसके माता-पिता की है। जिस घर में मद्य, मांस, मधु का भी त्याग न हो वह जैन घर कैसे माना जावे।

नामकर्म के लिये जन्मपत्रिका बनवाकर जिस राशि का नाम आवे उसके अनुसार 1008 जिन सहस्त्रनामों में से कोई भी अनुकूल नाम रख देवें। कन्या का नाम पुराणों में प्रसिद्ध महिलाओं के अनुकूल रखें।

दिव्याष्टसहस्त्रनामभागीभव, विजयाष्टसहस्त्रनामभागीभव, परमाष्टसहस्त्रनामभागीभव इन मंत्रों से आशीर्वाद दिया जावे।

नाम घोषित करते समय '**ओं ह्रीं श्रीं क्लीं अर्हं अमुक बालकस्य नामकरणं करोमि। अयं आयुरारोग्यैश्वर्यवान् भवतु भवतु झ्रौं झ्रौं अ सि आ उ सा स्वाहा**' मन्त्र पढ़ा जावे।

(8) बहिर्यान क्रिया—जन्म के बाद दूसरे-तीसरे महीने में मंगलक्रिया मंगल वाद्यपूर्वक बालक को प्रसूतिगृह से बाहर निकालना बहिर्यान क्रिया है। इसके आशीर्वाद मंत्र नीचे लिखे अनुसार हैं—

'**उपनयनिष्क्रांतिभागी भव, वैवाहनिष्क्रांतिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रांतिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रांति भागी भव, परमराज्यनिष्क्रांतिभागीभव, आर्हन्त्यनिष्क्रांतिभागी भव**'

बालक को जिनालय में दर्शन कराते समय '**ओं नमोऽर्हते भगवते जिनभास्कराय जिनेन्द्रप्रतिमादर्शने बालकस्य दीर्घायुष्यं आत्मदर्शनं च भूयात्**' यह मन्त्र पढ़ें।

(9) निषद्या क्रिया—जन्म से पांचवे माह में बालक को बैठाने की क्रिया की जाती है। उस समय पूर्व मुख कर सुखासन से बैठावें। नीचे लिखे आशीर्वाद सूचक खास मन्त्र पढ़ें—

''**दिव्यसिंहासनभागीभव, विजयसिंहासनभागीभव, परमसिंहासनभागीभव**'।

(10) अन्नप्राशन क्रिया—जन्म से 7, 8 या 9 माह बीत जाने पर अर्हन्त भगवान की पूजापूर्वक बालक को अन्न आहार खिलाना अन्नप्राशन क्रिया है। इसका मन्त्र है—

''**दिव्यामृतभागीभव, विजयामृतभागीभव, अक्षीणामृतभागीभव**'

(11) वर्षवर्धन (व्युष्टि) संस्कार क्रिया—यह क्रिया बालक के एक वर्ष का होने पर करें। इस दिन जिनमन्दिर में पूजा विधान करावें। बालक को भी मन्दिर भेजें। उसका जन्मदिवस मनावें। नीचे लिखे मन्त्र से बालक को आशीर्वाद देवें-

'**उपनयन जन्मवर्षवर्धनभागीभव, वैवाहनिष्ठवर्धनभागीभव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागीभव, सुरेन्द्रवर्ष-वर्धनभागीभव, मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागीभव, यौवराज्यवर्षवर्धनभागीभव, महाराज्यवर्षवर्धन-भागीभव, परमराज्यवर्षवर्धनभागीभव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागीभव**'।

(12) चौल संस्कार—बालक के पांच वर्ष का होने पर यह क्रिया की जाती है। यूँ तो दो-तीन वर्ष में भी यह क्रिया की जा सकती है। जिनेन्द्रपूजन के बाद बालक का मुंडन करना चोल क्रिया है। इसका मन्त्र इस प्रकार है—

उपनयनमुँडभागीभव, निर्ग्रंथमुँडभागीभव, निष्क्रांतिमुँडभागीभव, परमनिस्तारकेशभागीभव, सुरेन्द्रकेश-भागीभव, परमराज्यकेशभागीभव, आर्हन्त्यकेशभागीभव।

केश निकल जाने पर चोटी के स्थान पर केशर से स्वस्तिक बनावें, पुष्पक्षेपण करें। इसी समय कर्ण, नासिका वेध क्रिया भी करते हैं।

(13) लिपि संख्यान क्रिया— बालक के पांचवे वर्ष का होने पर घर में पाठशाला में अक्षरों का दर्शन करने के लिये यह संस्कार किया जाता है। जिनमन्दिर में या घर पर पूजा के बाद यह क्रिया करें। सर्वप्रथम **ओं और ओं नमः सिद्धेभ्यः**' बालक से पट्टी पर लिखावें और इनका उच्चारण करावें। इस समय आशीर्वादसूचक निम्न मन्त्र पढ़ें—

'शब्दपारगामीभव, अर्थपारगामीभव, शब्दार्थसम्बन्धपारगामीभव'। बालक को लिपि पुस्तक दी जावे।

(14) उपनीति संस्कार क्रिया— गर्भ से आठवें वर्ष में बालक पर यह उपनीति या यज्ञोपवीत संस्कार किया जाता है। रक्षाबंधन के त्यौहार पर भी यह क्रिया सम्पन्न की जा सकती है। इसका मन्त्र इस प्रकार है—

परमनिस्तारकलिंगभागीभव, परमर्षिलिंगभागीभव, परमेन्द्रलिंगभागीभव, परमराज्यलिंगभागीभव, परमार्हन्त्यलिंग भागीभव, परमनिर्वाणलिंगभागीभव'।

यज्ञोपवीत पहनने का मन्त्र—

ओं नमः परमशान्ताय शान्तिकराय पवित्रीकृताहं रत्नत्रयस्वरूपम् यज्ञोपवीतम् धारयामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हन्नमः स्वाहा।

यज्ञोपवीत पहनने से अष्ट मूलगुणों का स्थूलरूप से पालन हो जाता है। रात्रिभोजन त्याग भी करना होता है।

(15) व्रतचर्या क्रिया— करधनी, श्वेतधोती, उरोलिंग— जनेऊ और शिरोलिंग— चोटी इन ब्रह्मचर्य व्रत के योग्य चिन्हों को धारण करना व्रतचर्या क्रिया होती है। अध्ययन पूर्ण होने तक इन व्रतों का पालन करना चाहिये। इस अवधि में पलंग पर सोना, उबटन लगाना आदि त्याज्य है। पांच अणुव्रत आदि व्रत पालन करना चाहिये। विद्याध्ययन होने तक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुमुख से उपासकाचार पढ़कर अध्यात्मशास्त्र, व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, छन्द, अलंकार, कोष, गणित आदि पढ़ने चाहिये। लौकिक शिक्षा प्राप्ति में भी उपर्युक्त संस्कारों से युक्त रहने से बहुत ही लाभ होते हैं।

(16) व्रतावतरण संस्कार क्रिया— विद्याभ्यास समाप्त होने पर यज्ञोपवीत, पांच अणुव्रत, अष्टमूलगुण आदि व्रतों के सिवाय शेष सभी जैसे— पृथ्वी पर शयन करना, आभूषण त्याग आदि व्रतों को बारह या सोलह वर्ष बाद त्याग कर देना व्रतावतरण क्रिया है। इस क्रिया के बाद गुरु की आज्ञा से वस्त्र, माला, आभूषण आदि ग्रहण किये जाते हैं।

(17) विवाह संस्कार क्रिया— गुरुआज्ञापूर्वक सुकुल सज्जाति में उत्पन्न कन्या के साथ विधिवत् विवाह होना विवाह क्रिया है। मंगलाष्टक, अर्हन्तपूजा, हवन, पुण्याहवाचन, शांतिपाठ, विसर्जन आदि से यह क्रिया होती है।

(18) वर्णलाभ क्रिया— पिता की आज्ञानुसार धन-धान्य सम्पदा लेकर अलग रहना यह वर्णलाभ क्रिया है।

(19) कुलचर्या क्रिया— पिता के द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त कर विशुद्ध रीति से जीविका चलाना और देवपूजा आदि षट्कर्म करना कुलचर्या क्रिया है।

(20) गृहीशिता क्रिया— गृहस्थाचार्य बनने योग्य क्रियाएँ करते हुए इस क्रिया को प्राप्त होना चाहिये।

(21) प्रशान्ति क्रिया— अनन्तर अपने पुत्र पर गृहभार छोड़कर स्वाध्याय, उपवास आदि करते हुए अत्यन्त शान्ति प्राप्त करना प्रशान्ति क्रिया है।

(22) गृहत्याग क्रिया— गृह आदि छोड़ने को उद्यत होना गृहत्याग क्रिया है।

(23) दीक्षाद्य क्रिया— दिगम्बर मुनिराज के पास जाकर क्षुल्लक दीक्षा लेना दीक्षाद्य क्रिया है।

(24) जिनरूपता क्रिया— दिगम्बर जैनेश्वरी दीक्षा— दिगम्बर मुनि की दीक्षा ग्रहण करना जिनरूपता क्रिया है।

(25) मौनाध्ययनवृत्तित्व क्रिया— साधु के शास्त्रज्ञान की समाप्ति होने तक मौनपूर्वक अध्ययन करना यह मौनाध्ययनवृत्तित्व क्रिया है।

(26) तीर्थकृद्भावना क्रिया— तीर्थंकर पद के कारणभूत सोलहकारण भावनाओं का चिन्तवन करना तीर्थकृद्भावना क्रिया है।

(27) गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया—गुरु के आचार्य पद के प्राप्त करने योग्य होकर आचार्य पद प्राप्त करना 'गुरूस्थानाभ्युपगम क्रिया है।

(28) गणोपग्रहण क्रिया—चतुर्विध संघ के पालन करने में तत्पर होना गणोपग्रहण क्रिया है।

(29) स्वगुरु-स्थानावाप्ति क्रिया—अपने योग्य शिष्य को आचार्य पद भार समर्पण करना स्वगुरु-स्थानावाप्ति क्रिया है।

(30) निःसङ्गत्वात्मभावना क्रिया—शिष्य, पुस्तक आदि का ममत्व छोड़कर निःसंग होकर आत्मभावना में लीन होना निःसङ्गत्वात्मभावना क्रिया है।

(31) योगनिर्वाणसंप्राप्ति क्रिया—मोक्ष में अपनी बुद्धि स्थापन कर ध्यान में तत्पर होना योगनिर्वाणसंप्राप्ति क्रिया है।

(32) योगनिर्वाण साधन क्रिया—चतुराहार त्यागकर शरीर के छोड़ने में उद्यत होना योगनिर्वाणसाधन क्रिया है।

(33) इन्द्रोपपाद क्रिया–मन, वचन और काय के योगों की समाधि लगाकर प्राणों का त्यागकर इन्द्र पद में उत्पन्न होना इन्द्रोपपाद क्रिया है।

(34) इन्द्राभिषेक क्रिया—इन्द्रपद में जन्म होने के बाद देवगण मिलकर उस इन्द्र का अभिषेक करते हैं वह इन्द्राभिषेक क्रिया है।

(35) विधिदान क्रिया—तदन्तर नम्रीभूत हुए देवों को उनके पद पर नियुक्त करना विधिदान क्रिया है।

(36) सुखोदय क्रिया—देवों से वेष्टित इन्द्र बहुत काल तक स्वर्ग सुख का अनुभव करता है वह 'सुखोदय नाम' की क्रिया है।

(37) इन्द्रपदत्याग क्रिया—इन्द्र जब अपनी आयु की स्थिति थोड़ी रहने पर अपना स्वर्ग से च्युत होना जान लेता है तब वह देवों को समझाकर इन्द्रपद का त्याग करता है उसे इन्द्रपद त्याग क्रिया कहते हैं।

(38) इन्द्रावतार क्रिया—गर्भ में आने के छः महीने पहले माता को सोलह स्वप्न होना, रत्नों की वर्षा आदि होना। पुनः वहाँ से च्युत होकर माता के गर्भ में आना 'इन्द्रावतार क्रिया' है।

(39) हिरण्योत्कृष्ट जन्मता क्रिया—हिरण्योत्कृष्ट जन्म धारण करते हुए गर्भ में ही मति, श्रुत, अवधि ज्ञान के धारक भगवान की यह 'हिरण्योत्कृष्ट जन्मता क्रिया' है।

(40) मन्दराभिषेक क्रिया—भगवान का जन्म होने पर इन्द्रगण आकर सुमेरू पर ले जाकर अभिषेक करते हैं यह मंदराभिषेक क्रिया है।

(41) गुरूपजन क्रिया—बिना किसी के शिष्य बने भगवान ही सबके गुरू हैं अतः इन्द्र आकर सर्व जगत के गुरू का पूजन करता है यह 'गुरूपूजन क्रिया' है।

(42) यौवराज्य क्रिया—कुमार काल प्राप्त होने पर भगवान को युवराज पद का पट्टबन्ध किया जाता है वह यौवराज्य क्रिया है।

(43) सम्राटपद क्रिया—सम्राट पद पर अभिषिक्त होना सम्राट पद क्रिया है।

(44) चक्रलाभ क्रिया—चक्ररत्न की प्राप्ति होने पर यह चक्रलाभ क्रिया होती है।

(45) दिशांजय क्रिया—चक्ररत्न को आगे कर दिशाओं को जीतना दिशांजय क्रिया है।

(46) चक्राभिषेक क्रिया—दिग्विजय पूर्ण कर अपने नगर में प्रवेश करने पर चक्राभिषेक नाम की क्रिया होती है।

(47) साम्राज्य क्रिया—साम्राज्य पद पर अभिषिक्त होने पर भगवान अनेक राजाओं को शिक्षा देकर न्यायनीति

बतलाते हैं यह साम्राज्य क्रिया है।

(48) निष्क्रान्ति क्रिया— राज्य से विरक्त होने पर लौकान्तिक देवों द्वारा स्तुत्य भगवान स्वपुत्र को राज्य देकर दीक्षा के लिये जाते हैं वह 'निष्क्रान्ति क्रिया' है।

(49) योगसम्मह क्रिया— भगवान बाह्य-अंतरंग परिग्रह छोड़कर ध्यान में लीन होते हैं तब केवलज्ञान तेज प्रगट हो जाता है वह योगसम्मह क्रिया है।

(50) आर्हन्त्य क्रिया— केवलज्ञान उत्पन्न होने पर समवशरण की रचना होती है वह आर्हन्त्य क्रिया है।

(51) विहार क्रिया— धर्मचक्र को आगे कर भगवान का विहार होता है वह विहार क्रिया है।

(52) योगनिरोध क्रिया— विहार समाप्त होकर समवसरण विघटित हो जाने पर भगवान का योग निरोध होता है, यह योग निरोध क्रिया है।

(53) अग्रनिवृत्ति क्रिया— अघातिया कर्मों का नाश हो जाने से मोक्ष स्थान में पहुँच जाने पर अग्रनिवृत्ति क्रिया होती है।

इस प्रकार गर्भाधान से लेकर निर्वाण अर्थात् मोक्ष पर्यंत मिलाकर त्रेपन क्रियायें होती हैं। भव्य जीवों को उनका सदा अनुष्ठान करना चाहिये।

आदिपुराण के रचयिता भगवज्जिनसेनाचार्य ने गर्भाधान आदि समस्त क्रियाओं की संस्कारविधि का महत्त्वपूर्ण प्रभाव बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार विशुद्ध खानि से उत्पन्न हुआ मणि संस्कारविधि से अत्यन्त उज्ज्वल व कान्तिशाली हो जाता है उसी प्रकार यह आत्मा भी गर्भाधान आदि संस्कार व मन्त्रों के संस्कार से उज्ज्वल, अत्यन्त निर्मल व विशुद्ध हो जाता है एवं जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण उत्तम संस्कार क्रिया (छेदन, भेदन व आग्रपुटपाक आदि) से शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार भव्य पुरुष भी उत्तम क्रियाओं — संस्कारों को प्राप्त हुआ विशुद्ध हो जाता है। यह संस्कार धार्मिक ज्ञान से उत्पन्न होता है और सम्यग्ज्ञान सर्वोत्तम है।

3.3 मानव जीवन और मूलगुण—

निवृत्तिपरक आदर्श जैनाचरण दो प्रक्रियाओं में विभाजित है — एक मुनिमार्ग और दूसरा श्रावकमार्ग। इसे मुनिधर्म और श्रावकधर्म भी कहते हैं। इनमें प्रथम मार्ग, जो सभी प्रकार के आरम्भ और परिग्रहत्यागी, यथाजात लिंगधारी नग्नरूप, तिलतुष मात्र जिनके परिग्रह नहीं है, पूर्ण अहिंसादि पंच महाव्रतों के धारी, सभी प्रकार के इन्द्रिय-विषयों से सदा विरक्त ज्ञान-ध्यान में सदा रमण करने वाले, प्राणी मात्र के मित्र, वीतरागी, सभी आकांक्षाओं से विरक्त, पूर्ण समताधारी, दिगम्बर जैन मुनियों का है। इस प्रकार के श्रेष्ठ आचरण को जैनधर्म ने जैनाचार की मुख्य प्रक्रिया मुनिमार्ग या मुनिधर्म माना है। इसमें चंचल मन पर और उसकी सभी प्रकार की उच्छृंखल प्रवृत्तियों पर इतना कठोर अंकुश लगाया गया है कि वह उधर भटक नहीं पाता है और फिर वह शुद्ध और संयमित होकर, मात्र आत्मस्वरूप की खोज में लग जाता है और अनन्त काल से कर्मावरण से युक्त आत्मा को विशुद्ध बनाने में लग जाता है। धीरे-धीरे अपनी तपोग्नि द्वारा उन आवरणों को जलाता रहता है। जब वे सभी भस्म हो जाते हैं तब आत्मा के अपने गुण अनंतज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य (शक्ति) ये अनंतचतुष्टय प्राप्त हो जाते हैं। यह आत्मा अनंत शक्तिवान् होकर केवलज्ञानी (अनंतज्ञानी), सर्वदृष्टा, सर्वज्ञ, निराकुलतायुक्त परम सुखी बन जाता है। यही आत्मा का (जीव का) परम लक्ष्य था जिसे वह प्राप्त कर लेता है।

(2) जो इस उत्कृष्ट प्रक्रिया पर चलने में असमर्थ हैं उनके लिए भी इस मुख्य प्रक्रिया तक पहुँचने के लिए, एक सरल मार्ग श्रावक (गृहस्थ धर्म) मार्ग भी जैनधर्म में है। लक्ष्य तो इसका भी वही मोक्षप्राप्ति का ही है किन्तु धीरे-धीरे चलते हुए, अभ्यास करते हुए, उस मुख्य प्रक्रिया (मुनिमार्ग) तक पहुँच जाना है क्योंकि मुख्य प्रक्रिया की साधना बहुत

ही कठिन है, उस पर यकायक चलना सभी के लिए संभव नहीं है इसलिए दूसरी सरल प्रक्रिया का भी मार्ग प्रशस्त किया गया है।

कहा भी है—"करत–करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान"। यह श्रावकमार्ग (गृहस्थधर्म) अभ्यास मार्ग है। धीरे–धीरे अभ्यास करते हुए, अनादिकाल से भ्रमित आत्मा को सुसंस्कारों से संस्कारित करते हुए आगे बढ़ने का मार्ग है।

अज्ञानता के कारण अनंत काल तक तो यह जीव निगोद राशि में पड़ा रहा। बहुत काल स्थावर काय में, त्रस काय में (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय जीवों की पर्यायों में) पैदा होता रहा। वहाँ इसे कोई सुयोग, आत्मा की उन्नति करने का अवसर नहीं मिला, एक–एक पर्याय में हजारों बार जन्मा और मरा अतः अब इस मनुष्य पर्याय को अपने शुभ कर्मों के द्वारा सार्थक करना चाहिए।

3.4 प्रश्नावली–

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

प्रश्न 1–"छहढाला" ग्रंथ के रचयिता कौन हैं ?

(क) पं. दौलतराम जी ☐
(ख) आ. उमास्वामी जी ☐
(ग) आ. श्री जिनसेन स्वामी ☐

प्रश्न 2–गर्भान्वय क्रिया कितने प्रकार की है ?

(क) आठ ☐
(ख) त्रेपन ☐
(ग) पच्चीस ☐

प्रश्न 3–चौल संस्कार क्रिया कब की जाती है ?

(क) पाँचवें महीने में ☐
(ख) चौथे वर्ष में ☐
(ग) पाँच वर्ष होने पर ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–प्राणियों में सबसे श्रेष्ठतम योनि कौन सी है ? और क्यों ?

प्रश्न 2–क्रियाएँ (संस्कार) कितने प्रकार की बताई गयी हैं ? नाम बताओ ?

प्रश्न 3–आदर्श जैनाचरण कितनी प्रक्रियाओं में विभाजित है ? संक्षेप में समझाइए ?

प्रश्न 4–अज्ञानता के कारण अनंत काल तक यह जीव कहाँ रहा ? उसके बाद कहाँ–कहाँ गया ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–गर्भान्वय क्रिया कितने प्रकार की है ? नाम बताइए एवं नामकर्म क्रिया को समझाइए ?

पाठ 4 – श्रावक धर्म के एकादश सोपान : ग्यारह प्रतिमा

4.1 श्रावक धर्म की आराधना के इच्छुक सद्गृहस्थों को लोक व्यवहार में किस प्रकार न्यायनीतिपूर्वक वर्तन करना चाहिये क्योंकि गृहस्थ अपने दैनिक जीवन में लौकिक शिष्टाचार का पालन करते हुए यदि न्यायनीति का अनुसरण नहीं करेगा तो वह श्रावक धर्म पालन करने का पात्र नहीं बन पायेगा।

सम्यक्चारित्र निश्चय और व्यवहार के रूप में दो प्रकार का जिनवाणी में निरूपित है।

4.2 निश्चय चारित्र—

निश्चय चारित्र स्वरूपाचरण को कहते हैं जिसका अर्थ है — राग–द्वेष विकारों पर विजय प्राप्त करते हुए आत्मलीन हो जाना। इसके लिये मानव को सर्वप्रथम पंचेन्द्रियों के विषयों, क्रोधादि कषायों और पाप वासनाओं का परित्याग कर साधु जीवन अपनाना होगा। साधु के महाव्रतों का पालन करते हुए आत्मसाधना में निरंतर तत्पर रहने वाला व्यक्ति ही स्वरूपाचरण में लीन हो पाता है। यही निश्चय चारित्र कहलाता है जो मोक्ष का साक्षात् कारण है। इसके बिना मुक्ति संभव नहीं है। इसकी साधना व्यवहार चारित्र द्वारा की जाती है।

व्यवहार चारित्र — पंच पापों का मन–वचन–काय से पूर्णतया त्यागकर महाव्रतों का पालन करते हुए गुप्ति, समितिस्वरूप आचरण करना है। यह सकल चारित्र है जिसे साधुजन धारण करते हैं। ये गृहत्यागी आरंभ, परिग्रह से रहित होकर सदा ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहा करते हैं किन्तु जो गृह त्यागकर पंच महाव्रतों के पालन करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं उनके लिए पंच पापों का स्थूल रूप में त्याग कर गृहवासी रहते हुए अणुव्रतों के पालन करने का विधान किया गया है। इन्हें श्रावक कहा गया है, अणुव्रतों को मुनिव्रतों का साधक विकल चारित्र माना गया है।

इन श्रावकों की हीनाधिक रूप में व्रतों के पालन करने की शक्ति को देखते हुए श्रावक धर्म को ग्यारह श्रेणियों में विभक्त किया गया है।

उक्त ग्यारह श्रेणियों के शास्त्रीय नाम हैं — (1) दर्शन प्रतिमा (2) व्रत प्रतिमा (3) सामायिक प्रतिमा (4) प्रोषध प्रतिमा (5) सचित्तत्याग प्रतिमा (6) रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा (7) ब्रह्मचर्य प्रतिमा (8) आरंभत्याग प्रतिमा (9) परिग्रहत्याग प्रतिमा (10) अनुमतित्याग प्रतिमा (11) उद्दिष्टत्याग प्रतिमा।

धर्माचरण प्रारंभ करने के पूर्व आत्मा का सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि बन जाना आवश्यक और अनिवार्य है। मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? मैं दु:खी क्यों हूँ ? और संसार के दुखों से कैसे मुक्त हो सकता हूँ ? तथा मुक्त होने पर मुझे क्या और कैसा सुख प्राप्त होगा ? आदि तत्त्वों की देव–शास्त्र–गुरु में श्रद्धापूर्वक आस्था रखते हुए आत्मस्वरूप की वास्तविक अनुभूति (आत्मानुभूति) का हो जाना ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। आत्मदर्शन किये बिना कोई भी मोही व्यक्ति संसार से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

सम्यग्दर्शन हो जाने पर जब तक व्यक्ति पंच पापों एवं विषय कषायों से विरक्त होकर इनका त्याग नहीं करता तब तक वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

4.3 ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन—

4.3.1 दर्शन प्रतिमा—

सम्यग्दृष्टि बनकर सम्यग्दर्शन के पूर्वकथित नि:शंकितादि अष्टांगों का पालन करना और इनके विपरीत शंकादि आठ दोषों तथा कुल–जाति, रूप, ज्ञानादि आठ मदों, छह अनायतनों तथा देव मूढ़तादि तीन मूढ़ताओं का त्याग कर 25 दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शन की आराधना करते हुए संसार, शरीर और विषय भोगों से उदासीन रहकर सप्त व्यसनों का

भी त्याग करते हुए अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं निर्ग्रंथ साधुओं की शरण ग्रहण कर उनकी उपासना करना दर्शन प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारक मद्य, मांस, मधु तथा पंच उदम्बर फलों का त्याग करता है। किन्हीं आचार्यों के मतानुसार हिंसादि पंच पापों का भी यथाशक्ति अणु रूप में त्यागकर अष्टमूल गुणों का निरतिचार पालन करता है।

4.3.2 व्रत प्रतिमा—

सम्यग्दर्शन सहित अहिंसादि पंच अणुव्रतों तथा दिग्व्रतादि सप्त शील व्रतों का जीवन भर के लिये निरतिचार पालन करने की प्रतिज्ञा करना व्रत प्रतिमा है।

पंच अणुव्रत—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाण व्रत ये पांच अणुव्रत हैं। इनका स्वरूप निम्न प्रकार है—

(1) अहिंसाणुव्रत—दो इन्द्रियादि पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस जीवों को संकल्प (इरादा) पूर्वक मारने या सताने का मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से जीवन भर के लिये त्याग करने की प्रतिज्ञा कर लेना अहिंसाणुव्रत कहलाता है।

हिंसा चार प्रकार की होती है—(1) संकल्पी (2) आरंभी (3) उद्योगी और (4) विरोधी।

1. क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायवश जान-बूझकर संकल्पवश किसी को मारना या सताना **संकल्पी हिंसा** है।

2. गृह कार्यों के करने में जो जीवों का घात होता है वह **आरंभी हिंसा** है।

3. खेती, व्यापार, उद्योग धंधों के करने में जो जीवों का घात होता है वह **उद्योगी हिंसा** है।

4. विरोधियों से स्वयं की, अपने कुटुम्बियों, आश्रितों, धर्म और धर्मात्माओं या देश की रक्षा करने में जो हिंसा होती है वह **विरोधी हिंसा** कहलाती है। इसमें किसी को मारने की भावना न रहकर आत्मरक्षा करने का भाव रहता है।

इन चारों प्रकार की हिंसाओं में से अणुव्रती गृहस्थ केवल त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर पाता किन्तु उनकी यथासंभव रक्षा करने का ध्यान रखता है। यही उसका स्थूल हिंसा का त्याग कहलाता है।

(2) सत्याणुव्रत—स्थूल झूठ न स्वयं बोलना और न दूसरों से बुलवाना (जिसके बोलने या बुलवाने से व्यक्ति झूठा एवं बेईमान कहलाने लगे) ऐसा सत्य भी नहीं बोलना जिससे अपने या दूसरों के प्राण संकट में पड़ जावें और आजीविकादि कार्यों में बाधा आ जावे—सत्याणुव्रत कहलाता है। इस व्रत का धारक हित-मित-प्रिय वचन बोलता है। कडुवे, कठोर, निंद्य, दूसरों के लिए अहितकारी वचनों का प्रयोग नहीं करता।

(3) अचौर्याणुव्रत—बिना दिये दूसरों की गिरी, पड़ी, रखी या भूली हुई वस्तुओं को लालचवश लेने का त्याग करना अचौर्याणुव्रत कहलाता है। इस व्रत का पालक केवल मिट्टी और जल—जो सर्वसाधारण के लिये ग्रहण करने योग्य हो, बिना दिये भी ग्रहण कर सकता है किन्तु जिस खदान या कुँए से मिट्टी या जल ग्रहण करने का प्रतिबंध लगा हो उससे बिना पूछे ग्रहण नहीं करता।

(4) ब्रह्मचर्याणुव्रत—धर्मानुकूल अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय अन्य सभी स्त्रियों से विषयसेवन करने या बुरी दृष्टि से देखने का त्याग कर अपने शील धर्म का पालन करना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है। इस व्रत का धारक अपनी पत्नी के सिवाय अन्य सभी स्त्रियों को मां, बहिन, बेटियों के समान समझता है एवं महिलाएं अन्य पुरुषों को पिता, भाई और पुत्र के समान मानकर अपने शील धर्म का पालन करती हैं।

(5) परिग्रह परिमाण व्रत—धन, गृहादि बाह्य वस्तुओं का संतोषपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये अपनी इच्छानुसार जीवन भर के लिये परिमाण कर लेना और उससे अधिक की तृष्णा न रखना परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है। सीमा से अधिक धनादि की वृद्धि होने पर धर्मकार्यों तथा परोपकारों के कार्य में लगाता है।

इस प्रकार हिंसादि पंच पापों का विरतिभावपूर्वक एकदेश त्याग करने से गृहस्थ अणुव्रती बन जाता है।

यहाँ यह नियम ध्यान देने योग्य है कि जब तक मानव पंच पापों का संकल्पपूर्वक त्याग करके व्रती नहीं बनेगा तब तक वह चाहे पाप न भी करे, उस पाप का भागी बना रहेगा। वैसे देखा जावे तो कोई भी व्यक्ति सदा न हिंसा करता है, न झूठ बोलता है, न चोरी करता है, न परस्त्री सेवन करता है और न परिग्रह को संग्रह करने के भाव रखता है किन्तु जब कषायों के भाव मन में आते हैं तभी वह क्रिया रूप में हिंसादि करता है परन्तु क्रिया रूप में हिंसादि न करते हुए भी उसने चूंकि विरत भाव से उसका त्याग नहीं किया, तब तक अविरमण रूप पापों के बंध से बच नहीं सकता। अव्रती के पाप भाव सुप्त अवस्था जैसे अव्यक्त बने रहते हैं और परिस्थिति के अनुसार जाग्रत हो जाते हैं। जाग्रत हो जाने पर अधिक पाप बंध होता है और अविरत अवस्था या सुप्त दशा में कम होना संभावित है। जैसे — बिल्ली सुप्त दशा या जाग्रत दशा में जब वह चूहों को न पकड़ रही हो तब भी अहिंसक नहीं है क्योंकि वहां चूहा नहीं दिख रहा इसीलिये शांत दिखाई दे रही है किन्तु चूहे या अन्य जानवर के दृष्टि में आते ही वह झपट पड़ती है अतः दोनों अवस्थाओं में वह हिंसक ही कहलाती है। इसी प्रकार मनुष्य भी सदा पाप भले ही न कर रहे हों किन्तु जब तक उसका विरति भाव से त्याग करने का नियम नहीं लेंगे तब तक उसके दोष से मुक्त नहीं हो सकेंगे।

सप्तशील व्रत — 3 गुणव्रत और 4 शिक्षाव्रतों को सप्तशील व्रत माना गया है। इनमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण व्रतों को गुणव्रत तथा सामायिक, देशावकाशिक (देश व्रत), प्रोषधोपवास और वैय्याव्रत (अतिथिसंविभाग) व्रतों को शिक्षाव्रत की संज्ञा प्रदान की गई है। दिग्व्रतादि को गुणव्रत इसलिये कहा गया है कि इनके पालन करने से अणुव्रतों के गुणों की वृद्धि होती है अर्थात् अणुव्रतों में जितने पापों का त्याग किया जाता है गुणव्रतों से अकारण होने वाले अन्य असंख्यत सूक्ष्म पापों का भी त्याग हो जाता है।

इसी प्रकार सामायिकादि को शिक्षाव्रत इसलिये कहा गया है कि इनके पालन करने से गृहस्थ को साधु (श्रमण) धर्म के पालन करने का अभ्यास करने में सहायता मिलती है और पापों से भी अधिकाधिक निवृत्ति होने लगती है।

तीन गुणव्रत —

1. दिग्व्रत — जीवनपर्यंत जिन पापों का भी त्याग नहीं किया उनको तथा क्रोधादि कषायों को कम करने के उद्देश्य से दशों दिशाओं में आने-जाने की सीमा निश्चित कर उससे बाहर जाने का त्याग कर देना दिग्व्रत कहलाता है। इस व्रत का पालन करने से सीमा के बाहर के समस्त पदार्थों से संबंध न रहने से उनके प्रति राग-द्वेष भी समाप्त हो जाता है जिससे सूक्ष्म पाप भी नहीं होते। इस कारण सीमा के बाहर उसके व्रत पंच महाव्रतों के रूप में परिणत हो जाते हैं।

2. अनर्थदण्ड — बिना प्रयोजन होने वाले पापों का त्याग करना अनर्थदण्ड व्रत कहा गया है। मानव अनेक पाप बिना प्रयोजन भी करता रहता है अतः इस व्रत के पालन करने से वह उन पापों से बच जाता है।

अनर्थदण्ड पाँच प्रकार के हैं — (1) पापोपदेश (2) हिंसादान (3) अपध्यान (4) दुःश्रुति (5) प्रमादचर्या।

1. पापोपदेश — बिना प्रयोजन दूसरों को ऐसे कार्यों के करने का उपदेश देना जिनसे उन्हें पाप करने की प्रेरणा मिले।

2. हिंसा दान — अपने यहाँ आत्मरक्षा के लिये संग्रहीत तलवार, बंदूक आदि हिंसा के उपकरणों को दूसरों को प्रदान करना।

3. अपध्यान — बैठे बिठाये दूसरों के विनाश या बुरा हो जाने का चिंतन करना, जैसे — उसकी धन हानि हो जाय या पुत्र मर जाय या कार्यों में विघ्न हो जाय, तो अच्छा है। ऐसे विचारों से किसी की कुछ हानि तो होगी नहीं, स्वयं को बिना प्रयोजन ही पाप का बंध होगा।

4. दुःश्रुति — बैठे बिठाये बिना प्रयोजन गपशप या ऐसी कथा, वार्ता करना जिससे परस्पर राग-द्वेष बढ़ जावे या

विवाद लड़ाई झगड़ा होने लगे। राग–द्वेषवर्धक किस्से कहानियाँ सुनना–सुनाना आदि भी पाप के कारण होने से अनर्थ दण्ड ही कहलाते हैं। कुरुचिवर्धक सिनेमा या टी. वी. के चलचित्र देखना या कहानियाँ तथा उपन्यास का पढ़ना–पढ़ाना आदि भी दु:श्रुति नामक अनर्थदण्ड समझना चाहिये।

5. प्रमादचर्या—बिना प्रयोजन पानी बिखेरना, आग जलाना, वनस्पति के पत्ते, फल, फूल, डालियाँ तोड़ना, जमीन खोदना, पंखे चलाना आदि कार्य द्वारा स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों की हिंसा करना प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड कहा गया है। ये सब क्रियाएं व्यर्थ ही पापों का बंध कराती हैं अत: इनका त्याग अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।

भोगोपभोग परिमाण व्रत—

जीवन में पाँचों इन्द्रियों के भोग और उपभोग में आने वाली वस्तुएँ असंख्यात हैं, उनमें कमी करके यम (जीवन भर के लिये) और नियम (काल की मर्यादापूर्वक) उनके सेवन करने की सीमा निश्चित करते रहना भोगोपभोग परिमाण व्रत कहा गया है। इस व्रत के द्वारा परिग्रह व्रत में जो वस्तुएं घर में संग्रहीत हैं उन्हीं में से "कितनी वस्तुओं का उपयोग मैं आज करूंगा" उनका परिमाण कर शेष से मोह और राग का त्याग करने का नियम किया जाता है। जैसे— खानपान की अनेक वस्तुएं है उनमें से मैं आज अमुक वस्तुओं या रसों के सेवन के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के सेवन का त्याग करता हूँ। इसी प्रकार वस्त्रादि सामग्रियों का जो उपयोग करने में आती हैं और अधिक मात्रा में घर में रखी हैं उनमें से अमुक–अमुक के सिवाय मैं अन्य सभी का आज या अमुक समय तक उपभोग नहीं करूंगा आदि।

इस व्रत का धारक जो अभक्ष्यादि पदार्थ है उनका तो जीवन भर के लिए त्याग करता है और जो निर्दोष सेवन करने योग्य है, उनका समय की सीमा बाँधकर सेवन करने का त्याग करता है। इससे पंचेन्द्रिय के विषय भोगों से राग कम होकर विराग भाव की वृद्धि होती है और धीरे–धीरे भोगों के प्रति उदासीनता आ जाती है इसलिये पाप और कषायों में भी कमी हो जाती है। इस कारण भोगोपभोग परिमाण व्रत को गुणव्रत कहा गया है।

चार शिक्षाव्रत—

1. सामायिक—प्रतिदिन प्रात:काल और सायंकाल दो घड़ी, चार घड़ी या छह घड़ी के लिये हिंसादि पंच पापों, विषय कषायों एवं सबसे राग—द्वेष और मोह छोड़कर मन, वचन, काय को एकाग्र कर समताभावपूर्वक आत्मस्वरूप में और परमात्मा के स्वरूप के चिंतन में लीन हो जाना सामायिक शिक्षाव्रत है। सामायिक करते समय अनित्यादि बारह भावनाओं का चिंतवन करना, सामायिक पाठ पढ़ना, पंच परमेष्ठियों का स्मरणादि कर धर्मध्यान करना आवश्यक है। सामायिक के समय पवित्र ध्यान में मग्नता के कारण वस्त्र से ढके हुए मुनि के समान शुभ एवं शुद्ध भावों में निरत होने के कारण नवीन अशुभ कर्मों का आस्रव रुककर संवर और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी होती है तथा भावानुसार पुण्य कर्म का संचय भी होता है।

प्राय: प्रश्न किया जाता है कि सामायिक करने में चित्त की चंचलता के कारण हमारे भाव स्थिर न रहकर नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प होने लगते हैं। अत: हम क्या करें ? इसका समाधान यह है कि सामायिक करने के लिये बैठने के पूर्व क्या आपने दो घड़ी सामायिक करते समय पापों, विषय कषायों एवं गृहारंभ तथा परिग्रह का त्याग कर दिया था ? यदि नहीं किया और माला लेकर फेरने लगे तो आरंभ, परिग्रह या रागद्वेष संबंधी वे सभी विकल्प तो आयेंगे ही, जिनका आपने त्याग नहीं किया। केवल माला के दाने गिनना सामायिक नहीं है। आचार्यश्री समंतभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सामायिक का स्वरूप निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

'आसमय मुक्तिमुक्तं पंचाघानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामायिका: सामयिकं नाम शंसन्ति।।

अर्थात् मन–वचन–काय और कृत, कारित, अनुमोदन से पंच पापों का सामायिक करने के कालपर्यन्त त्याग

करते हुए समता भाव धारण कर धर्मध्यान करना सामायिक है।

अतः सामायिक करने वाले यदि पांचों पापों का परित्याग कर दो घड़ी धर्मध्यान करेंगे तो रागद्वेषमयी संकल्प, विकल्प स्वयं ही उतनी देर के लिये दूर रहेंगे।

2. देशावकाशिक (देश व्रत) — यह दूसरा शिक्षाव्रत है। जन्म भर के लिये की गई दसों दिशाओं की आने-जाने की मर्यादा को समय के विभाग से — दिन, दो दिन, सप्ताह, पक्ष, मास आदि के लिये और भी सीमित कर लेना ही देशावकाशिक (देशव्रत) शिक्षाव्रत है। जैसे — आज मैं इस घर या नगर से बाहर नहीं जाऊंगा। इस प्रकार की गई मर्यादा से बाहर न जाने के कारण मर्यादा के बाहर के समस्त पदार्थों से संबंध न रहने से रागद्वेष में कमी होकर शांतिपूर्वक समय व्यतीत होता है एवं तत्संबंधी सूक्ष्म पापों का बंध भी नहीं होता है।

जैसे — एक सांड (बैल) स्वच्छंदतापूर्वक विचरण कर कभी इस गाँव कभी उस गाँव में जाकर खेती को उजाड़ता रहता था। उसे एक गाँव में ही रहने और अपनी उदरपूर्ति करने की सीमा निर्धारित कर दी गई। इसके पश्चात् उसी गाँव के किसी एक खेत में ही अपनी उदरपूर्ति करते रहने की सीमाबाँध दी गई। इससे गाँव के अन्य खेत भी उजड़ने से बच गये। इसी प्रकार दिग्व्रत और देशावकाशिक व्रत के द्वारा सीमाबद्ध गृहस्थ सीमा के बाहर नहीं जाकर पापों के करने में कमी हो जाने से समय को शांतिपूर्वक व्यतीत करने में सफल हो जाता है।

3. प्रोषधोपवास शिक्षा व्रत — प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को दिन में एक बार आहार करने को प्रोषध कहते हैं और चारों प्रकार के आहारों के त्याग करने को उपवास कहते हैं। प्रथम दिन त्रयोदशी को एकाशन, चतुर्दशी को उपवास तथा पूर्णिमा को फिर एकाशन करना प्रोषधोपवास कहलाता है अर्थात् दो प्रोषधों के बीच एक उपवास करना। इस व्रत का धारक समस्त गृहकार्यों तथा पंच पापों और पंचेन्द्रिय के समस्त विषयों तथा कषायों का त्यागकर अपना सारा समय धर्मध्यान में व्यतीत करता है। यदि धर्मध्यान न कर विषय कषायों के पोषण में समय बिताया और केवल आहार न किया तो उसे प्रोषधोपवास व्रत न मानकर लंघन करना माना जायेगा। कहा भी है —

"कषायविषयाहार त्यागो यत्र विधीयते।
सोपवासस्तु ज्ञातव्यः शेषं लंघनकं विदुः।।"

इस व्रत के पालन करने से मुनिराज के समान उपवास करने का घर में अभ्यास भी हो जाता है। जिससे मुनि बनने पर अंतराय आदि हो जाने पर उपवास करने में विशेष आकुलता नहीं होगी।

4. वैय्यावृत्य या अतिथिसंविभाग — अपने एवं पर के उपकार हेतु स्वार्थ वासना का त्याग करते हुए धार्मिक भावना से आहार, औषधि, ज्ञान और अभय इन चार प्रकार के दान देना और सेवा करना वैय्यावृत्य कहा गया है।

पात्रदान और करुणादान के भेद से दान के दो भेद हो जाते हैं। धर्म भावना के साथ मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका को निराकुलतापूर्वक धर्माराधना एवं साधना में सहायता हेतु धर्मबुद्धि से उक्त चार प्रकार का दान और सेवा करना पात्रदान कहलाता है।

दीन-दुःखी, विपदाग्रस्त जनों या पशु-पक्षियों को करुणा बुद्धि से दिया गया दान या सेवा करुणादान कहा गया है।

इस प्रकार पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों तथा चार शिक्षाव्रतों के निरतिचार निर्दोष पालन करने को श्रावक की दूसरी श्रेणी कही गई है जिसे व्रत प्रतिमा कहा जाता है।

4.3.3 सामायिक प्रतिमा —

प्रतिदिन प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल उत्साहपूर्वक मन-वचन-काय को स्थिर कर पांचों पापों का, कषायों का एवं विषय भोगों का कम से कम दो घड़ी, चार घड़ी या छः घड़ी तक (24 मिनट की एक घड़ी होती है) पद्मासन या खड्गासन से धर्मध्यान (आत्मध्यान, पंच परमेष्ठी का ध्यान) करना सामायिक प्रतिमा है।

इस तीसरी प्रतिमा में दिन में तीन बार नियमपूर्वक सामायिक करने और उसमें किसी प्रकार का दोष न लगाने का विधान किया गया है। (दूसरी प्रतिमा में दिन में दो बार भी सामायिक कर सकता है) किन्तु तीसरी प्रतिमा वाला मुनिराज के समान पूर्ण विधि और नियमपूर्वक सामायिक करता है तथा सामायिक के पांच अतिचारों (दोषों) से बचता है सामायिक करते समय—

(1) मन को चंचल कर इधर-उधर की बातें सोचना।

(2) वचनालाप करना।

(3) शरीर की हलन-चलनादि क्रिया करना।

(4) सामायिक का आदर न करना। (रुचिपूर्वक न करना)

(5) सामायिक करते समय उसकी विधि या मंत्र पाठ आदि का भूल जाना।

इन दोषों से बचकर निरतिचार सामायिक करना चाहिए।

4.3.4 प्रोषध प्रतिमा–

प्रत्येक मास की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी के दिन गृहारंभ का त्यागकर मंदिरादि धर्मसाधन के स्थानों में जाकर धर्मध्यान करना तथा चार प्रकार के आहार का त्याग करते हुए पांचों इन्द्रियों के विषयों का भी त्याग करना और क्रोधादि कषायों को न करते हुए सामायिक, स्वाध्याय, तत्व चिंतन, धर्मोपदेश आदि में समय बिताना ही प्रोषध प्रतिमा है।

इस प्रतिमा का धारक अष्टमी, चतुर्दशी को उपवास करने के साथ-साथ सप्तमी, नवमी, तेरस व पूर्णमासी या अमावस्या को एकासन यथाशक्ति करते हुए उस दिन संपूर्ण समय केवल धर्मध्यान में ही व्यतीत करता है। यदि विषय कषायों का त्याग न कर केवल भोजन करने का त्याग किया और धर्मध्यान में समय नहीं बिताया तो उसे उपवास न कहकर लंघन करना कहा गया है।

इस प्रतिमा का धारक निरतिचार उपवास करता है।

4.3.5 सचित्तत्याग प्रतिमा–

श्रावक की इस श्रेणी में दया की भावना से जो वस्तुएं सचित्त (सजीव) हैं उनके खाने का त्याग किया जाता है। जैसे—मूल, फल, शाख, शाखा, कोपल, फूल, बीज वाले साग आदि वस्तुएं पक्के बनाकर (पकाकर) ही श्रावक खाता है। कच्चे फल-फूल नहीं खाता और पानी को भी गर्म करके ही पीता है।

4.3.6 रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा–

इस प्रतिमा का धारी मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना (3×3) इन नव प्रकारों से रात्रि में सभी प्रकार के भोजन का त्याग करने की प्रतिज्ञा लेता है। इसके पूर्व की प्रतिमाओं में श्रावक केवल स्वयं रात्रिभोजन करने का त्यागी होता है; किन्तु इस छठी प्रतिमा में न स्वयं करेगा, न दूसरों को करायेगा, न अनुमोदन करेगा।

किन्हीं आचार्यों ने इस प्रतिमा को दिवामैथुन त्यागप्रतिमा भी कहा है। जिसका अर्थ है—स्व स्त्री के साथ भी दिन में मैथुन का त्याग करना, काम सेवन की तीव्र अभिलाषावश दिन में भी मैथुन सेवन किया जा सकता है। जिसके त्याग करने की गृहस्थ प्रतिज्ञा लेता है।

4.3.7 ब्रह्मचर्य प्रतिमा–

इस प्रतिमा का धारक परस्त्री के साथ-साथ अपनी विवाहिता स्त्री के साथ भी मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से विषय सेवन का त्याग कर पूर्णतया शील का, दूसरे शब्दों में ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ संपूर्ण जीवन पवित्रता के साथ व्यतीत करता है। अपनी पत्नी को भी बहिन-बेटी के समान पवित्र दृष्टि से देखता और व्यवहार करता है।

4.3.8 आरंभ त्याग प्रतिमा—

इस प्रतिमा का धारक आजीविका के जिन साधनों में हिंसा होती है ऐसी सेवा के कार्य, कृषि (खेती), वाणिज्य, व्यापार आदि सभी का त्याग करता है। पूजा, दान, अभिषेक तथा अन्य धार्मिक कार्यों को भी सावधानीपूर्वक जीवों की रक्षा का ध्यान करते हुए करता है किन्तु हिंसक खेती, व्यापारादि करने का त्याग कर देता है। यद्यपि इस प्रतिमाधारी को व्यापार, गृहारंभ संबंधी कार्यों का त्याग होता है तथापि विशेष परिस्थिति में यदि भोजन बनाने, वस्त्र धोने, गृह सफाई व व्यापारादि करना पड़े तो जीवों की रक्षा करने के प्रति सावधान रहकर करता है।

4.3.9 परिग्रहत्याग प्रतिमा–

इस प्रतिमा का धारक आवश्यक वस्त्र तथा बर्तनों के अतिरिक्त अपने घर में स्थित अन्य सब संग्रहीत वस्तुओं से ममत्व का त्यागकर संतोषपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। अपने पुत्रादि पर गृह की सभी वस्तुओं के संरक्षण आदि का भार सौंप देता है तथा भोजन घर में करता है या निमंत्रित होकर अन्य के यहाँ भी भोजन कर आता है किन्तु परिग्रह चिन्ताओं से मुक्त होकर व्यापारादि धनार्जन के कार्यों का त्याग कर देता है। पुत्रादि को यदि व्यापारादि में अनुमति मांगें तो दे सकता है।

4.3.10 अनुमतित्याग प्रतिमा–

स्वजन तथा परजनों के द्वारा पूछे जाने पर भी जो श्रावक गृहसंबंधी कार्य में अनुमति नहीं देता है। वह दसवीं अनुमतित्याग प्रतिमाधारी कहलाता है।

4.3.11 उद्दिष्टत्याग प्रतिमा–

इस प्रतिमा का धारक गृह त्यागकर मुनि के पास जाकर दीक्षा लेकर व्रतों का पालन करने की प्रतिज्ञा लेता है। मुनि जैसा भिक्षावृत्ति से शुद्ध भोजन एक बार करता हुआ कष्टसहिष्णु और तपस्वी बनकर जीवन व्यतीत करता है किन्तु दिगम्बर साधु न बनकर खंड वस्त्र या लंगोटी धारण कर रहता है। अपने निमित्त बनाये भोजन का त्यागी होता है और श्रावकों ने जो अपने लिये शुद्ध आहार बनाया हो उसी को आदरपूर्वक अनुकूल विधि मिल जाने पर ही ग्रहण करता है। इस प्रतिमा में ऐलक या क्षुल्लक इस प्रकार दो श्रेणियां हैं।

ऐलक—केवल शरीर पर एक लंगोटी रखते हैं। मार्जन के लिये मयूर पंखों की पीछी रखते हैं, केशलोंच करते हैं। पैदल ही विहार करता है एवं मुनि जैसी चर्या या व्रतों का पालन करते हुए धर्माराधना करते हैं। ऐलक हाथ में लेकर ही (करपात्र में) आहार ग्रहण करता है।

क्षुल्लक—लंगोटी के साथ एक खण्डवस्त्र-चादर रखते हैं, वह चादर छोटी ही होती है, जिससे सिर ढक जाने पर पैर न ढकें या पैर ढक जाने पर सिर उघड़ जावे। क्षुल्लक कैंची आदि से क्षौर कर्म (बाल कटवाना) कर सकते हैं एवं भोजन पात्र (थाली) में बैठकर अथवा कटोरे में करते हैं।

इस प्रकार श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ (व्रत पालन करने की श्रेणियां) हैं जिन्हें क्रमपूर्वक व्रताचरण में उन्नति करते हुए गृहस्थ अपने जीवन को निष्पाप और निष्कषाय बनाने का पुरूषार्थ करता है। यह सब उन गृहस्थों के लिये है जो विरागी बनकर पंच पापों का संपूर्ण त्यागकर स्वयं को साधु जीवन व्यतीत करने में अभी असमर्थ पाते हैं किन्तु जिनके हृदय में ज्ञान-वैराग्य की उत्कट भावना की हिलोरें उठ रही हैं और जो मुनि दीक्षा लेकर पंच महाव्रतों के पालन करने की क्षमता रखते हैं उन्हें आवश्यक नहीं कि वे पहली, दूसरी आदि कक्षाओं के व्रतों का क्रम से पालन करके ही मुनि बनें। वे मुनि दीक्षा लेकर तपस्या कर आत्मकल्याण करने में पूर्ण स्वतंत्र हैं।

4.4 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-अनर्थदण्ड व्रत कितने प्रकार का है ?

(क) बारह ☐
(ख) ग्यारह ☐
(ग) पाँच ☐

प्रश्न 2-श्रावक की प्रतिमाओं में से पहली प्रतिमा—

(क) दर्शन प्रतिमा ☐
(ख) सामायिक प्रतिमा ☐
(ग) ब्रह्मचर्य प्रतिमा ☐

प्रश्न 3-हिंसा कितने प्रकार की होती है ?

(क) एक ☐
(ख) दो ☐
(ग) चार ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-श्रावक की कितनी प्रतिमा हैं ? नाम लिखिए ?

प्रश्न 2-अणुव्रत कितने होते हैं ? नाम बताइए ?

प्रश्न 3-सामायिक प्रतिमा का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 4-परिग्रह त्याग प्रतिमा का लक्षण बताइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विवरण दीजिए ?

इकाई–4 जैन मुनि चर्या

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) दीक्षा का महत्त्व

(2) मूलाचार में वर्णित मुनिचर्या

(3) दिगम्बर मुनि की नित्य–नैमित्तिक क्रियाएं

(4) संपूर्ण परिग्रह त्याग से ही मोक्ष संभव है

पाठ-1 – दीक्षा का महत्त्व

1.1 जैनधर्म के अनुसार संसार, शरीर, भोगों से विरक्त मानव के 28 मूलगुण रूप सकल संयम (मुनि–आर्यिका) अथवा 11 प्रतिमारूप देशसंयम ग्रहण करने का नाम 'दीक्षा' है। आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा भी है—

मोहतिमिरापहरणे, दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।

अर्थ— मोहरूपी अंधकार के नष्ट हो जाने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करके साधुजन राग–द्वेष की निवृत्ति से सम्यक्चारित्र को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् अनंत संसार को वृद्धिंगत करने वाली मोह मदिरा को पीकर यह जीव अनादिकाल से संसार की चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रहा है। आत्मकल्याण के इच्छुक वही जीव जब मिथ्यात्वयुक्त मोह को घटाकर सम्यक्त्व क्रियाओं सहित चारित्र को गुरु के समीप धारण करते हैं, तब दीक्षा की प्रक्रिया आरंभ होती है।

व्यवहारिक दृष्टि से जिस प्रकार विवाहोपरान्त कन्या और वर का जीवन पूर्णरूपेण गृहस्थ धर्म के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार गुरु के करकमलों से मुनि–आर्यिका, क्षुल्लक–क्षुल्लिका रूप व्रतों को धारण करने पर यतिधर्म के रूप में मानव जीव का आमूल चूल परिवर्तन होता है। एक वैराग्य अष्टक में मैंने लिखा है—

दीक्षा का अर्थ न केवल वेष परावर्तन कहलाता है।
इस परिवर्तन के साथ भाव परिवर्तन भी हो जाता है।।
आतमज्योति का दीप जले पशुता का भाव क्षपण होता।
वह दानक्षपण से सहित भाव ही दीक्षा का मतलब होता।।1।।
अपने दीक्षित परिणामों को मैं सदा-सदा स्मरण करूँ।
यदि किंचित विकृति हो मन में उस ही क्षण का संस्मरण करूँ।।
कलिकाल का यह अभ्यास मेरा परभव में मुक्ति दिलाएगा।
भव भव का यह पुरुषार्थ मेरा फिर व्यर्थ कभी ना जाएगा।।2।।

अर्थात् वेष परिवर्तन के साथ–साथ मन का परिवर्तन होकर भावों में परम शुद्धता आती है और सिरमुण्डन–केशलोंच के साथ मन का मुण्डन भी होता है, इन्द्रियों को वश में किया जाता है एवं वस्त्र त्याग के साथ–साथ विकारों को पूर्णरूपेण हटाया जाता है।

दिगम्बर जैन परम्परा की दीक्षा में दीक्षार्थी स्त्री–पुरुष के वैराग्य परिणामों की परीक्षा करके गुरू सर्वप्रथम उनका केशलोंच करते हैं पुनः मस्तक पर मूलगुणों के संस्कार आरोपित कर उन्हें पूज्य बनाते हैं। मुनि–आर्यिकाओं के वे 28 मूलगुण श्री गौतम स्वामी के शब्दों में—

वदसमिदिंदिय रोधो, लोचो आवासयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदन्तवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च।।

5 महाव्रत, 5 समिति, पंचेन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक (समता-स्तव-वंदना-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-कायोत्सर्ग), केशलोंच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त (एक बार भोजन) ये अट्ठाईस मूलगुण मुख्यरूप से मुनियों के होते हैं। इनमें से आर्यिकाओं के आचेलक्य—निर्वस्त्र के स्थान पर एक साड़ी पहनने का विधान है तथा स्थितिभोजन—खड़े होकर करपात्र में भोजन करने की जगह बैठकर करपात्र में भोजन ग्रहण करना ही उनका मूलगुण है इसीलिए चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी की गुरु परम्परानुसार आर्यिकाओं के भी मुनियों के समान ही 28 मूलगुण माने जाते हैं तथा उन्हें मुनियों के समान ही दीक्षाविधि से दीक्षित करके प्रायश्चित्तादि एक समान प्रदान किया जाता है, जबकि क्षुल्लक-क्षुल्लिका की दीक्षाविधि बिल्कुल भिन्न होती है।

1.2 दीक्षा की परिभाषा बताते हुए एक नीतिकार ने कहा है—

दीयते ज्ञानसद्भावं, क्षीयते पशुभावना।
दानक्षपणभावेन, दीक्षा तेनैव उच्यते।।

अर्थात् दी और क्षा इन दो शब्दों के द्वारा ज्ञान के सद्भाव का आदान-प्रदान एवं पशुत्व भावना का क्षपण होकर "दीक्षा" का अर्थ स्पष्ट और सार्थक हो जाता है। इसमें सिर मुंडन-केशलोंच के साथ-साथ मन और इन्द्रियों का भी मुण्डन-निग्रह होता है। ऐसी सम्यक् दीक्षा से दीक्षित साधुओं के लिए सागारधर्मामृत में वर्णन आया है—

कलिप्रावृषि मिथ्यादृङ्, मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत् सुदेष्टारो, हा! द्योतन्ते क्वचित्-क्वचित्।।

अर्थात् इस कलिकालरूपी वर्षाऋतु में जब दिशाएं मिथ्यादृष्टियों रूपी काली घटाओं से आच्छन्न (व्याप्त) हैं, ऐसी स्थिति में खेद है कि जिनमुद्रा के धारक साधु जुगनू के समान कहीं-कहीं प्रकाशित होते हैं।

किन्तु यह कलिकाल भी किसी अपेक्षा से पुण्यशाली है कि आज लगभग ग्यारह सौ साधु-साध्वियों का विचरण पूरे देश में हो रहा है। इसी शृँखला में चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर महाराज की परम्परा को सुवासित एवं वृद्धिंगत करने वाली पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी वर्तमान साधु जगत् की प्रकाशस्तंभ हैं—

यह सत्य है कि सवा सौ करोड़ से अधिक की जनसंख्या वाले भारत देश में जैन समाज की संख्या वर्तमान में अति अल्प है किन्तु उसकी आध्यात्मिक देन के रूप में अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांत एवं ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त आज भी पूरे विश्व के लिए प्रेरणास्रोत हैं। जैन रामायण के अनुसार तो साधु-संतों की तपस्या का छठा भाग पुण्य देश के राजा को भी प्राप्त होता है, जिससे राजा को न्यायपूर्वक राज्यव्यवस्था संचालित करने का बल प्राप्त होता है।

1.3 दीक्षा की पात्रता—

आगम में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के मनुष्य के लिए ही जैनेश्वरी दीक्षा का नियम बताया है।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार में कहा है–

वण्णेसु तीसु एक्को, कल्लाणंगो तवो सहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदी, लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो।।

गाथार्थ—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य इन तीन वर्णों में से एक वर्ण वाला आरोग्य शरीरधारी, तपस्या को सहन करने वाला, अवस्था से सुन्दर मुख वाला तथा अपवाद रहित पुरुष साधु भेष के लेने योग्य होता है। (पृ. 537)

श्री कुन्दकुन्ददेव ने आचार्यभक्ति में भी कहा है—

देसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता।
तुम्हं पायपयोरुहमिहमंगलमत्थु मे णिच्चं।।1।।

आप देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, विशुद्ध मन, वचन, काय से संयुक्त हैं। ऐसे हे आचार्यदेव! आपके पादकमल

इस लोक में हमारे लिए नित्य ही मंगलस्वरूप होवें।

इसी की पुष्टि हेतु आगम में जिन सप्तपरमस्थानों का वर्णन आया है, उनके नाम यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा।।

1. सज्जाति, 2. सद्गृहस्थता (श्रावक के व्रत), 3. पारिव्राज्य (मुनियों के व्रत), 4. सुरेन्द्रपद, 5. साम्राज्य (चक्रवर्ती पद) 6. अरहंतपद और 7. निर्वाणपद ये सात परम स्थान कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव क्रम-क्रम से इन परमस्थानों को प्राप्त कर लेता है।

इन्हें कर्त्रन्वय क्रिया भी कहते हैं। इन सप्तपरमस्थानों का कर्त्रन्वय क्रियाओं के नाम से आदिपुराण में सुन्दर विवेचन देखा जाता है।

यहाँ प्रसंगोपात्त सज्जाति परमस्थान का कथन किया जाता है, क्योंकि उसके बिना जैनेश्वरी दीक्षा की पात्रता नहीं पाई जाती है।

सज्जाति का आशय—

स नृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये।
विशुद्धं लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते।।83।।
पितुरन्वयशुद्धिर्यो तत्कुलं परिभाष्यते।
मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते।।85।।
विशुद्धिरूभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता।
यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैगुणैः।।86।।

इन क्रियाओं में कल्याण करने वाली सबसे पहली क्रिया सज्जाति है जो कि निकट भव्य को मनुष्य जन्म की प्राप्ति होने पर होती है। दीक्षा धारण करने योग्य उत्तम वंश में विशुद्ध जन्म धारण करने वाले मनुष्य के सज्जाति नाम का परमस्थान होता है। विशुद्ध कुल और विशुद्ध जातिरूपी संपदा सज्जाति है। इस सज्जाति से ही पुण्यवान् मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम-उत्तम वंशों को प्राप्त होता है। पिता के वंश की जो शुद्धि है उसे कुल कहते हैं और माता के वंश की शुद्धि जाति कहलाती है। कुल और जाति इन दोनों की विशुद्धि को "सज्जाति" कहते हैं, इस सज्जाति के प्राप्त होने पर बिना प्रयत्न के सहज ही प्राप्त हुये गुणों से रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभ हो जाती है।

आर्यखंड की विशेषता से सज्जातित्व की प्राप्ति शरीर आदि योग्य सामग्री मिलने पर प्राणियों के अनेक प्रकार के कल्याण उत्पन्न करती है। यह सज्जाति उत्तम शरीर के जन्म से ही वर्णन की गई है क्योंकि पुरुषों के समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि का मूल कारण यही एक सज्जाति है। संस्कार रूप जन्म से जो सज्जाति का वर्णन है वह दूसरी ही सज्जाति है उसे पाकर भव्य जीव द्विजन्मा कहलाता है अर्थात् प्रथम उत्तम वंश में जन्म यह एक सज्जाति हुई पुनः व्रतों के संस्कार से संस्कारित होना यह द्वितीय जन्म माना जाने से उस भव्य की "द्विज" यह संज्ञा अन्वर्थ हो जाती है। जिस प्रकार विशुद्ध खान में उत्पन्न हुआ रत्न संस्कार के योग से उत्कर्ष को प्राप्त होता है उसी प्रकार क्रियाओं और मंत्रों से सुसंस्कार को प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ विशेष बात समझने की यह है कि जाति व्यवस्था को माने बिना "सज्जातित्व" नहीं बन सकती। इसी बात को श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं—

जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णोः शेषा शूद्राः प्रकीर्तिता।।493।।

अच्छेद्यो मुक्तियोग्याया विदेहे जातिसंततेः।
तद्धेतुनामगोत्राद्ययजीवाविच्छिन्नसंभवात्।।494।।
शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जातिसंततिः।
एवं वर्णविभागः स्यान्मनुष्येषु जिनागमे।।495।।

"जिनमें शुक्लध्यान के लिये कारण ऐसे जाति, गोत्र आदि कर्म पाये जाते हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ऐसे तीन वर्ण हैं। उनसे अतिरिक्त शेष शूद्र कहे जाते हैं। विदेह क्षेत्र में मोक्ष जाने के योग्य जाति का कभी विच्छेद नहीं होता क्योंकि वहाँ उस जाति में कारणभूत नाम और गोत्र से सहित जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थकाल में जाति की परम्परा चलती है। जिनागम में मनुष्यों का वर्ण-विभाग इस प्रकार बतलाया गया है।

कृतयुग की आदि में जब प्रजा भगवान् के सामने अपनी आजीविका की समस्या लेकर आई तब भगवान् ने उसे आश्वासन देकर विचार किया—

पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूप्रजाः।।143।।
षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः।
यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्यायाश्च प्रथग्विधाः।।144।।

"पूर्व और पश्चिम विदेहक्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान में है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जैसे असि, मसि आदि षट्कर्म हैं, जैसी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन वर्णों की स्थिति है और जैसी ग्राम, घर, नगर आदि की रचना है वह सब यहाँ पर भी होनी चाहिये। अनन्तर भगवान् के स्मरण मात्र से देवों के साथ सौधर्म इंद्र वहाँ आया और उसने शुभ मुहूर्त में जगद्गुरु भगवान् की आज्ञानुसार मांगलिक कार्यपूर्वक अयोध्या के बीच में "जिनमन्दिर" की रचना की एवं चारों दिशाओं में चार जिनमंदिर बनाये। पुनः सर्वप्रथम ग्राम, नगर आदि की रचना कर प्रजा को बसाकर चला गया।

"पुनः भगवान् ने असि, मसि आदि षट् कर्मों का उपदेश देकर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की। उस समय प्रजा अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोड़कर अन्य आजीविका नहीं करती थी इसलिये उनके कार्यों में कभी संकर (मिलावट) नहीं होती थी। उनके विवाह, जाति सम्बन्ध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान् की आज्ञानुसार ही होते थे अर्थात् कर्मभूमि की आदि में भगवान् वृषभदेव ने अपने अवधिज्ञान के बल से विदेह क्षेत्र की अनादिनिधन कर्मभूमि की व्यवस्था को देखकर उसी के सदृश ही यहाँ सब व्यवस्था बनाई थी अतः जैसे इस भरतक्षेत्र में मोक्षमार्ग की व्यवस्था सादि है भोगभूमि में या प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा पंचम और छठे काल में मोक्ष नहीं होता है वैसे ही यह वर्ण व्यवस्था भी सादि है फिर भी इसके बिना मोक्ष नहीं है।

सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचंद्राचार्य भी कहते हैं—

दुब्भावअसुयसूदगपुप्फवईजाइसंकरादीहिं।
कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते।।914।।

"दुर्भाव, अशुचि, सूतक-पातक दोष से युक्त, रजस्वला स्त्री और जातिसंकर आदि दोष से दूषित लोग यदि दान देते हैं तो वे कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं तथा जो कुपात्र में दान देते हैं वे भी कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं।

जाति व्यवस्था मानने पर ही "जातिसंकर" दोष बनेगा अन्यथा नहीं।

उपासकाध्ययन में भी कहा है—

पित्रोः शुद्धौ यथापत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते।
तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता।।96।।

"जैसे माता-पिता के शुद्ध होने पर संतान की शुद्धि देखी जाती है। वैसे ही आप्त के निर्दोष होने पर उनका कहा हुआ आगम निर्दोष माना जाता है। "द्रव्य, दाता और पात्र की विशुद्धि होने पर ही विधि शुद्ध हो सकती है।

जैनेन्द्र व्याकरण में श्री पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है—

वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानाम्।।97।।

जो वर्ण से—जाति विशेष से अर्हंत रूप—निर्ग्रंथता के अयोग्य हैं उनमें द्वंद्व समास करने पर नपुंसकलिंग का एकवचन होता है। यथा–

तक्षायस्कारं–बढ़ई और लुहार, रजकतंतुवायं—धोबी और जुलाहा। "वर्ण से" ऐसा क्यों कहा ? तो "मूकबधिरौ" गूँगा और बहरा, इसमें वर्ण का सम्बन्ध नहीं होने से एकवचन नहीं हुआ। "अर्हद्रूप के लिए अयोग्य हो" ऐसा क्यों कहा तो "ब्राह्मण क्षत्रियौ—"ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये वर्ण से अर्हंत लिंग के लिए अर्थात् दिगम्बर मुनि रूप जिनमुद्रा के लिए योग्य हैं इसलिए इनमें भी द्वन्द्व समास में द्विवचन होता है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही जिनमुद्रा की प्रतीक जैनेश्वरी दीक्षा धारण करने के योग्य हैं।

1.4 मुनियों के भेद—

मुनियों के पाँच भेद हैं—पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक।

1.4.1 "पुलाक—

जिनका चित्त उत्तरगुणों की भावना से रहित है और व्रतों में भी क्वचित् कदाचित् परिपूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाते हैं अर्थात् पाँच महाव्रतों में भी दोष लग जाते हैं। बिना शुद्ध हुए (किंचित् लालिमा सहित) धान्य सदृश होने से वे पुलाक कहलाते हैं।"

इनके सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो संयम पाये जाते हैं। श्रुतज्ञान की अपेक्षा उत्कृष्ट रूप से ये अभिन्नदशपूर्वी हो सकते हैं और जघन्य से आचार वस्तु मात्र है।

"ये दूसरों की जबरदस्ती से पाँच महाव्रत और रात्रिभोजनत्याग ऐसे छठे अणुव्रत इनमें से किसी एक की विराधना कर लेते हैं, इसीलिए पुलाक कहलाते हैं।" इस प्रसंग में तत्त्वार्थवृत्ति में प्रश्न किया है कि—

"प्रश्न—रात्रिभोजनत्याग का विराधक कैसे हो जाता है ?

उत्तर—'श्रावक आदिकों का इससे उपकार होगा' ऐसा सोचकर अपने छात्र आदि को रात्रि में भोजन करा देते हैं, इसलिए विराधक हो जाते हैं।"

1.4.2 वकुश—

'जो निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त हैं, मूलगुणों को अखंडित-निरतिचार पालते हैं, शरीर और उपकरण की शोभा के अनुवर्ती हैं, ऋद्धि और यश की कामना रखते हैं, सात और गौरव के आश्रित हैं, परिवार–शिष्यों से घिरे हुए हैं और छेद से जिनका चित्त शबल—चित्रित है, वे मुनि वकुश कहलाते हैं। श्री पूज्यपाद स्वामी ने "इन्हें विविध प्रकार के मोह से युक्त कहा है।" तत्त्वार्थवृत्ति में 'अविवित्तपरिवारा:' पद का अर्थ असंयत शिष्यादि किया है अर्थात् "जो निर्ग्रन्थ पद में स्थित हैं, व्रतों में दोष नहीं लगाते हैं किन्तु शरीर, उपकरण—पिच्छी, कमण्डलु, पुस्तक आदि की शोभा चाहते हैं, ऋद्धि, यश, सुख और वैभव की आकांक्षा रखते हैं, असंयत परिवार—शिष्यों से सहित हैं, अनुमोदना आदि विविध भावों से शबलचित्त हैं वे वकुश कहलाते हैं।"

इनके सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो संयम होते हैं। उत्कृष्ट से इनका ज्ञान अभिन्नदश पूर्व तक हो सकता है और जघन्य से अष्टप्रवचनमातृका (पाँच समिति, तीन गुप्ति) मात्र का ज्ञान रह सकता है।

"वकुश मुनि के दो भेद हैं—उपकरण वकुश और शरीर वकुश। उपकरणों में जिनका चित्त आसक्त है, जो नाना प्रकार के विचित्र परिग्रहों से युक्त हैं, बहुत विशेषता से युक्त उपकरणों के आकांक्षी हैं, उनके संस्कार और प्रतीकार को करने वाले हैं ऐसे साधु उपकरण वकुश कहलाते हैं तथा शरीर के संस्कार को करने वाले शरीर वकुश हैं।"

1.4.3 कुशील—

कुशील मुनि के दो भेद हैं। कैसे ? प्रतिसेवना और कषाय के उदय के भेद से अर्थात् प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील ये दो भेद हैं।

जो परिग्रह से अविवित्त—मुक्त नहीं हुए हैं, मूलगुण और उत्तरगुणों में परिपूर्ण हैं किन्तु जिनके कथंचित्—किसी अपेक्षा से उत्तरगुणों की विराधना भी हो जाती है वे प्रतिसेवना कुशील हैं।

जो ग्रीष्मऋतु में जंघाप्रक्षालन आदि कर लेने से अन्य कषायोदय के वशीभूत हैं संज्वलनमात्र कषाय के आधीन हैं वे कषाय कुशील मुनि हैं।"

प्रतिसेवना कुशील के सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो ही संयम होते हैं किन्तु कषाय कुशील के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय ये चार संयम होते हैं।

प्रतिसेवना कुशील मुनियों का भी उत्कृष्ट ज्ञान अभिन्नदशपूर्व तक है और जघन्य ज्ञान आठ प्रवचनमाता का ही है।

ये मूलगुणों में विराधना न करते हुए उत्तरगुणों में किंचित् विराधना कर सकते हैं।

कषाय कुशील मुनियों का उत्कृष्ट ज्ञान चौदहपूर्व है और जघन्य आठ प्रवचनमातृका ही है। इनके द्वारा मूलोत्तर गुणों में विराधना संभव नहीं है।

1.4.4 निर्ग्रन्थ–

"जैसे जल में डंडे की लकीर तत्क्षण मिट जाती है वैसे ही जिनके कर्मों का उदय व्यक्त नहीं है, मुहूर्त के अनन्तर ही जिनको केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होने वाले हैं वे निर्ग्रन्थ साधु हैं।"

इनके यथाख्यात संयम ही होता है। उत्कृष्ट से इनका श्रुतज्ञान चौदहपूर्व है और जघन्य से वही अष्ट प्रवचनमातृका पर्यन्त है। इनके मूलोत्तर गुणों में विराधना असंभव है, चूँकि शुक्लध्यान में स्थित हैं।

1.4.5 स्नातक—

ज्ञानावरण आदि घातिकर्मों के क्षय से जिनके केवलज्ञानादि अतिशय विभूतियाँ प्रगट हो चुकी हैं, जो सयोगी सम्पूर्ण अठारह हजार शीलों के स्वामी हैं, कृतकृत्य हो चुके हैं ऐसे केवली भगवान स्नातक कहलाते हैं।

इनके भी एक यथाख्यात संयम ही है। इनके श्रुतज्ञान का सवाल ही नहीं है। क्योंकि पूर्ण—केवलज्ञान प्रगट हो चुका है।

ये पाँचों प्रकार के मुनि प्रत्येक तीर्थंकरों के समय होते हैं। "ये पाँचों प्रकार के भी भावलिंगी हैं।"

इसमें से पुलाक मुनियों के तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं किन्तु "वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनियों के छहों लेश्याएँ भी हो सकती हैं।" सर्वार्थसिद्धि की टिप्पणी में इस बात को स्पष्ट किया है कि—"कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याएँ भी इन दोनों मुनियों के कैसे संभव हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—इन दोनों प्रकार के मुनियों में उपकरण की आसक्ति संभव होने से कदाचित् आर्तध्यान संभव है और आर्तध्यान से ये अशुभ लेश्याएँ संभव हैं।"

तत्त्वार्थवृत्ति में भी इसी बात को स्पष्ट किया है—

शंका—कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएँ वकुश और प्रतिसेवना कुशील में कैसे संभव हैं ?

समाधान—आपका कहना सत्य है, किन्तु इन दोनों प्रकार के मुनियों के उपकरणों में आसक्ति से उत्पन्न होने वाला आर्तध्यान कदाचित्-किसी काल में संभव है और आर्तध्यान संभव होने से कृष्ण आदि तीनों लेश्याएँ संभव ही हैं। दूसरे मत की अपेक्षा परिग्रह के संस्कार की आकांक्षा होने से और स्वयं ही उत्तरगुणों की विराधना हो जाने से आर्त—परिणामों में पीड़ा—क्लेश संभव है और उस आर्त से अविनाभावी छहों लेश्याएँ भी संभव हैं।

पुलाक मुनियों के आर्त के कारणों का अभाव होने से छह लेश्याएँ नहीं हैं किन्तु तीन शुभ ही हैं अर्थात् अशुभ लेश्याएँ नहीं हैं।"

"कषाय कुशील मुनियों में और परिहारविशुद्धि संयमी के कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चार लेश्याएँ हैं।"

"इनमें भी कापोत इस अशुभ लेश्या के होने का मतलब पूर्वोक्त ही है, क्योंकि इनमें संज्वलन मात्र अन्तरंग कषाय का सद्भाव होने से और परिग्रह की आसक्ति मात्र का सद्भाव होने से यह लेश्या मानी है।"

सूक्ष्मसांपराय, निर्ग्रन्थ और स्नातक के केवल एक शुक्ल लेश्या ही है।

पुलाक मुनि उत्कृष्ट रूप से यदि स्वर्ग में जाते हैं तो बारहवें में उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों में जन्म ले सकते हैं। वकुश और प्रतिसेवनाकुशील बाईस सागर की उत्कृष्ट स्थिति लेकर आरण और अच्युत कल्प जा सकते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ (ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती) तेतीस सागर की आयु लेकर सर्वार्थसिद्धि में जन्म ले सकते हैं। स्नातक केवली तो मोक्ष ही जाते हैं। स्नातक से अतिरिक्त सभी प्रकार के मुनि जघन्य—कम से कम सौधर्म स्वर्ग में दो सागर की आयु वाले ऐसे देव अवश्य होते हैं।

इन पाँच प्रकार के मुनियों के स्वरूप को अच्छी तरह से समझकर यह निर्णय करना चाहिए कि चतुर्थकाल में भी मूलगुणों में दोष लगाने वाले साधु हो सकते थे और आज भी पुलाक आदि मुनि विद्यमान हैं। जंघाप्रक्षालन या उपकरण की सुंदरता में आसक्त हुए साधु को चारित्रहीन द्रव्यलिंगी कह देना उचित नहीं है।

श्री अकलंकदेव इसी बात को और भी स्पष्ट कहते हैं—

"सम्यग्दर्शन और भूषा, वेश तथा आयुध से विरहित निर्ग्रन्थरूप, यह सामान्यतया पुलाक आदि सभी में पाया जाता है, यही कारण है कि सभी को निर्ग्रन्थ शब्द से कहना युक्त है। अर्थात् ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं चूँकि इनमें सम्यक्त्व और वस्त्राडंबर रहित निर्ग्रन्थरूप विद्यमान है।

प्रश्न—यदि भग्नव्रत—खंडितव्रत में भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग होता है, तो श्रावक में भी करना चाहिए ?

उत्तर—नहीं, श्रावकों को निर्ग्रन्थ शब्द से सम्बोधित कभी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उसमें दोष लगता है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—क्योंकि उनमें-श्रावकों में निर्ग्रन्थरूप का अभाव है। हम लोगों को यहाँ पर निर्ग्रन्थरूप प्रमाण है और वह श्रावक में है नहीं, इसलिए अतिप्रसंग नहीं आ सकता है।

प्रश्न—यदि निर्ग्रन्थरूप ही आपको प्रमाण है तो अन्य भी किसी सरूप—सदृश अर्थात् नंगे में निर्ग्रन्थ संज्ञा हो जावेगी ?

उत्तर—ऐसा नहीं है।

प्रश्न—क्या कारण है ?

उत्तर—क्योंकि हर किसी नंगे में सम्यक्त्व का अभाव है। सम्यग्दर्शन के साथ जहाँ पर नग्न रूप है वहीं पर निर्ग्रन्थ यह नाम आता है किन्तु रूपमात्र—नंगे मात्र में नहीं।

प्रश्न—तो फिर यह पुलाक आदि नाम क्यों रखे हैं ?

उत्तर—चारित्रगुण की उत्तरोत्तर प्रकर्ष में वृत्ति—रहना विशेष बतलाने के लिए ही ये पुलाक आदि भेदों का उपदेश किया गया है।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पुलाक आदि मुनि सदोषी—शिथिलाचारी नहीं हैं किन्तु भावलिंगी होने से पूज्य ही हैं। चूँकि ये यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले हैं।

प्रश्न होता है कि—

"साधु को किस प्रकार ये प्रवृत्ति करना चाहिए ? कैसे खड़े होना चाहिए ? कैसे बैठना चाहिए ? कैसे सोना चाहिए ? कैसे भोजन करना चाहिए और कैसे बोलना चाहिए ? कि जिससे पाप का बंध नहीं होवे।"

उत्तर में—"यत्न से—ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक गमन करना चाहिए। यत्न से खड़े होना चाहिए। यत्न से—सावधानीपूर्वक जीवों को बाधा न देते हुए उन्हें पिच्छिका से हटाकर पद्मासन आदि से बैठना चाहिए। यत्न से—सोते समय भी संस्तर का संशोधन

करके अर्थात् चटाई, फलक आदि को उलट-पुलट कर देखकर रात्रि में गात्र संकुचित करके सोना चाहिए। यत्न से—छ्यालीस दोष वर्जित आहार ग्रहण करना चाहिए। यत्न से—भाषा समिति से बोलना चाहिए। इस प्रकार की प्रवृत्ति से पापबंध नहीं होता है।"

क्योंकि जो साधु यत्नाचार से प्रवृत्ति करता है, दयाभाव से सतत प्राणियों का अवलोकन करता है। उसके नवीन कर्मों का बंध नहीं होता है और पुराना कर्म भी नष्ट हो जाता है। "जो मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और संहनन की अपेक्षा करके चारित्र में प्रवृत्त होता है वह क्रम से बध—हिंसा से रहित हो जाता है।"

विशेष—ये पुलाक आदि मुनि सभी दिगम्बर हैं। इनकी अपेक्षा भी मुनियों में भेद होता है।

1.5 जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनि-

"जिनेन्द्रदेव ने जिनकल्प और स्थविरकल्प ऐसे दो भेद किये हैं।

जिनकल्प—जो उत्तम संहननधारी हैं। जो पैर में कांटा चुभ जाने पर अथवा नेत्र में धूलि आदि पड़ जाने पर स्वयं नहीं निकालते हैं। यदि कोई निकाल देता है तो मौन रहते हैं। जलवर्षा होने पर गमन रुक जाने से छह मास तक निराहार रहते हुए कायोत्सर्ग से स्थित हो जाते हैं। जो ग्यारह अंगधारी हैं, धर्म अथवा शुक्लध्यान में तत्पर हैं, अशेष कषायों को छोड़ चुके हैं, मौनव्रती और कंदरा में निवास करने वाले हैं। जो बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह से रहित, स्नेहरहित, नि:स्पृही यतिपति 'जिन' के समान हमेशा विचरण करते हैं। वे ही श्रमण जिनकल्प में स्थित हैं।

स्थविरकल्प—जिनेन्द्रदेव ने अनगार साधुओं को स्थविरकल्प भी बताया है। पाँच प्रकार के चेल—वस्त्र का त्याग करना, अकिंचनवृत्ति धारण करना और प्रतिलेखन—पिच्छिका ग्रहण करना, पाँच महाव्रतों को धारण करना, स्थितिभोजन और एकभक्त करना, भक्ति सहित श्रावक के द्वारा दिया गया आहार करपात्र में ग्रहण करना, याचना करके भिक्षा नहीं लेना, बारह प्रकार के तपश्चरण में उद्युक्त रहना, छह प्रकार की आवश्यक क्रियाओं का हमेशा पालन करना, क्षितिशयन करना, शिर के केशों का लोंच करना, जिनवर की मुद्रा को धारण करना, संहनन की अपेक्षा से इस दुषमाकाल में पुर, नगर और ग्राम में निवास करना। ऐसी चर्या करने वाले साधु स्थविरकल्प में स्थित हैं। ये वही उपकरण ग्रहण करते हैं कि जिससे चर्या—चारित्र का भंग नहीं होवे, अपने योग्य पुस्तक आदि को ही ग्रहण करते हैं। ये स्थविरकल्पी साधु समुदाय—संघ सहित विहार करते हैं, अपनी शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करते हुए भव्यों को धर्मोपदेश सुनाते हैं और शिष्यों का संग्रह तथा उनका पालन भी करते हैं।

इस समय संहनन अतिहीन है, दु:षमकाल है और मन चंचल है फिर भी वे धीर-वीर पुरुष ही हैं जो कि महाव्रत के भार को धारण करने में उत्साही हैं।

पूर्व में—चतुर्थ काल में जिस शरीर से एक हजार वर्ष में जितने कर्मों की निर्जरा की जाती थी, इस समय हीन संहनन वाले शरीर से एक वर्ष में उतने ही कर्मों की निर्जरा हो जाती है।"

इस प्रकार से जिनकल्प में स्थित साधु जिनकल्पी और स्थविरकल्प में स्थित स्थविरकल्पी कहलाते हैं। आज के युग में स्थविरकल्पी मुनि ही होते हैं, चूँकि उत्तम संहनन नहीं है।

अन्यत्र भी कहा है—

जिनकल्पसंयमी—

"जो जितेन्द्रिय साधु सम्यक्त्व रत्न से विभूषित हैं, एकाक्षर के समान एकादशांग के ज्ञाता हैं, पाँव में लगे हुए कांटे को और लोचन में गिरी हुई रज को न स्वयं निकालते हैं न दूसरों को निकालने के लिए कहते हैं। निरंतर मौन रहते हैं, वज्रवृषभनाराचसंहनन के धारक हैं, गिरि की गुफाओं में, वनों में, पर्वतों पर तथा नदियों के किनारे रहते हैं, वर्षाकाल में मार्ग को जीवों से पूर्ण समझकर षट्मास पर्यंत आहार रहित होकर कायोत्सर्ग धारण करते हैं, परिग्रह रहित, रत्नत्रय से विभूषित, मोक्षसाधन में निष्ठ और धर्म तथा शुक्लध्यान में निरत रहते हैं, जिनके स्थान का कोई निश्चय नहीं है तथा जो

जिन भगवान के समान विहार करने वाले होते हैं ऐसे जिनकल्प—जिनेन्द्रदेव के सदृश संयम धारण करने वालों को जिनेन्द्रदेव ने जिनकल्पी कहा है।" यहाँ पर 'कल्पप्रत्यय' ईषत् असमाप्ति—किंचित् अपूर्णता के अर्थ में हुआ है।

स्थविरकल्पसंयमी—

जो जिनलिंग—नग्नमुद्रा के धारक हैं, सम्यक्त्व से जिनका हृदय क्षालित है, अट्ठाईस मूलगुणों के धारक हैं, ध्यान और अध्ययन में निरत हैं, पंचमहाव्रत और दर्शनाचार आदि पाँच आचारों के पालन करने वाले हैं, दशधर्म से विभूषित, ब्रह्मचर्य में निष्ठ, बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह से विरक्त हैं, तृण-मणि, शत्रु-मित्र आदि में समानभावी हैं, मोह, अभिमान और उन्मत्तता से रहित हैं, धर्मोपदेश के समय तो बोलते हैं और शेष समय मौन रहते हैं, शास्त्र समुद्र के पारंगत हैं, इनमें से कितने ही अवधिज्ञान के धारक होते हैं तथा कितने ही मनःपर्यय ज्ञानी भी होते हैं। अवधिज्ञान के पहले पाँच गुण वाली सुन्दर पिच्छी प्रतिलेखन के लिए धारण करते हैं। संघ के साथ-साथ विहार करते हैं, धर्मप्रभावना तथा उत्तम-उत्तम शिष्यों के रक्षण और वृद्ध साधुओं के रक्षण तथा पोषण में सावधान रहते हैं इसीलिए इन्हें महर्षि लोग स्थविरकल्पी कहते हैं।

"इस भीषण कलिकाल में हीन संहनन के होने से साधु स्थानीय नगर, ग्राम आदि के जिनालय में रहते हैं। यद्यपि यह काल दुस्सह है, शरीर का संहनन हीन है, मन अत्यन्त चंचल है और मिथ्यात्व सारे संसार में विस्तीर्ण हो गया है। तो भी ये साधु संयम के पालन करने में तत्पर रहते हैं।"

जो कर्म पूर्वकाल में हजार वर्ष में नष्ट किये जा सकते हैं, वे कलियुग में एक वर्ष में ही नष्ट किये जा सकते हैं।

इसी से मोक्षाभिलाषी साधु संयमियों के योग्य पवित्र तथा सावद्यरहित पुस्तक आदि ग्रहण करते हैं। इस प्रकार सर्वपरिग्रहादि रहित स्थविरकल्प कहा जाता है और जो यह वस्त्र, दण्ड, पात्र, कम्बल आदि धारण करना है वह स्थविरकल्प नहीं है किन्तु वह गृहस्थकल्प है अतः यह श्वेताम्बरों की वस्त्रादि कल्पना मोक्ष हेतु न होकर इन्द्रिय सुखानुभव हेतु ही है।

विशेष—वर्तमान में उत्तम संहनन का अभाव होने से जिनकल्पी साधु हो ही नहीं सकते हैं अतः सभी दिगम्बर साधु स्थविरकल्पी ही होते हैं। इन दो भेदों की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियों में भेद हो जाते हैं।

1.6 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-सप्तपरमस्थानों में से पाँचवां परमस्थान कौन सा है ?

(क) पारिव्राज्य ☐ (ख) अरहंतपद ☐ (ग) साम्राज्यपद ☐

प्रश्न 2-पिता के वंश की शुद्धि को कुल कहते हैं और माता के वंश की शुद्धि.....कहलाती है ?

(क) जाति ☐ (ख) सज्जाति ☐ (ग) विशुद्धि ☐

प्रश्न 3-भगवान ऋषभदेव ने कितने वर्णों की स्थापना की ?

(क) चार ☐ (ख) दो ☐ (ग) तीन ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-मुनियों के कितने भेद हैं, नामोल्लेख करते हुए एक का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 2-उपकरण वकुश और शरीर वकुश मुनि में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 3-स्नातक मुनि की परिभाषा बताइए ?

प्रश्न 4-जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनि का संक्षिप्त लक्षण वर्णित कीजिए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-जिनकल्पसंयमी और स्थविरकल्पसंयमी साधु में क्या अन्तर है, सविस्तार बताइए ?

पाठ-2—मूलाचार में वर्णित मुनिचर्या

2.1 मूलगुण—

मुनियों के प्रधान आचरण को मूलगुण कहते हैं। 'मूल' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। फिर भी यहाँ मूल का प्रधान—मुख्य ऐसा अर्थ लिया गया है। 'गुण' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं फिर भी यहाँ 'आचरण विशेष' ऐसा अर्थ लिया है। ये मूलगुण इस लोक और परलोक में हित करने वाले हैं। इस लोक में सर्वजनमान्यता गुरुपना और सभी जनों के साथ मैत्रीभाव आदि गुण होते हैं और परलोक में देवों का ऐश्वर्य, तीर्थंकरपद, चक्रवर्तिपद आदि प्राप्त होते हैं और परम्परा से यह आत्मा सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाता है। इन मूलगुणों के बिना आज तक किसी को शुक्लध्यान की सिद्धि नहीं हुई है और शुक्लध्यान के बिना मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि ये मूलगुण वृक्ष की मूल जड़ या बीज के समान ही मोक्ष के लिए मूल कारण हैं और तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट होने से प्रामाणिक हैं।

मूलगुण अट्ठाईस हैं—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय निरोध, षट्आवश्यक तथा लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त। मुख्यव्रतों को महाव्रत कहते हैं। 'महान् शब्द का अर्थ प्रधान है और व्रत शब्द, सावद्यनिवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्ति के लिए निमित्तभूत आचरण में आता है अर्थात् मोक्ष के लिए जो हिंसादि पापों का त्याग किया जाता है, उसे ही व्रत कहते हैं। तीर्थंकर आदि महान् पुरुषों के द्वारा इनका अनुष्ठान किया जाता है इसलिए भी इन्हें महाव्रत कहते हैं अथवा महान् पुरुषार्थ जो मोक्ष, उसकी प्राप्ति में ये स्वतः ही हेतु होते हैं इसलिए महाव्रत कहलाते हैं।

2.2 पाँच महाव्रत–

1. अहिंसा महाव्रत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस, इन षट्कायिक जीवों की हिंसा का मन-वचन-काय से पूर्णतया त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है। इस महाव्रत में सम्पूर्ण आरंभ और परिग्रह का त्याग हो जाता है।

2. सत्यमहाव्रत—राग, द्वेष, मोह, क्रोध आदि दोषों से युक्त असत्य वचनों का त्याग कर देना और ऐसा सत्य भी नहीं बोलना कि जिससे प्राणियों का घात हो जावे, वह सत्यमहाव्रत है।

3. अचौर्यमहाव्रत—ग्राम, शहर आदि में किसी की भूली, रखी या गिरी हुई वस्तु को स्वयं नहीं लेना, दूसरों के द्वारा संग्रहीत शिष्य, पुस्तक आदि को भी न लेना तथा दूसरों के द्वारा बिना दी गई ऐसी योग्य वस्तु को भी नहीं लेना सो अचौर्यमहाव्रत है।

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत—राग भाव को छोड़कर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना। बालिका, युवती और वृद्धा में पुत्री, बहन और माता के समान भाव रखना यह त्रैलोक्यपूज्य ब्रह्मचर्य व्रत है।

5. परिग्रहत्याग महाव्रत—धन, धान्य आदि दस प्रकार के बहिरंग तथा मिथ्यात्व, वेद आदि चतुर्दश प्रकार के अंतरंग परिग्रह का त्याग कर देना, वस्त्राभूषण, अलंकार आदि का पूर्णतया त्याग कर देना, लंगोटी मात्र भी नहीं रखना सो अपरिग्रहमहाव्रत है। आगम के कहे अनुसार गमनागमन, भाषण आदि में सं-सम्यक् इति प्रवृत्ति करना समिति है। ये समितियाँ व्रतों की रक्षा करने में वृत्ति—बाड़ के समान हैं। इनके भी पाँच भेद हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग।

2.3 पाँच समिति—

6. ईर्या समिति—निर्जंतुकमार्ग से सूर्योदय के प्रकाश में चार हाथ आगे जमीन देखकर एकाग्रचित्तपूर्वक तीर्थयात्रा, गुरुवंदना आदि धर्मकार्यों के लिए गमन करना ईर्या समिति है।

7. भाषासमिति—चुगली, हंसी, कर्कश, परनिंदा आदि से रहित, हित-मित और असंदिग्ध वचन बोलना भाषासमिति है।

8. एषणा समिति—छ्यालिस दोष और बत्तीस अंतराय से रहित नवकोटि से शुद्ध श्रावक के द्वारा दिया गया ऐसा प्रासुक, निर्दोष, पवित्र आहार लेना एषणासमिति है।

9. आदाननिक्षेपण समिति—पुस्तक, कमण्डलु आदि को रखते या उठाते समय कोमल मयूर पिच्छिका से परिमार्जन करके रखना, उठाना, तृण, घास, चटाई, पाटे आदि को भी सावधानी से देखकर पिच्छिका से परिमार्जन करके ग्रहण करना या रखना सो आदाननिक्षेपण समिति है।

10. उत्सर्ग समिति—हरी घास से रहित, चिंवटी आदि से या उनके बिलों से रहित, प्रासुक और एकांत स्थान में मलमूत्रादि विसर्जन करना यह उत्सर्ग या प्रतिष्ठापनसमिति है।

2.4 पंचेन्द्रिय निरोध—

स्पर्शन, रसना आदि पाँचों इंद्रियों को वश में रखना, इनको शुभ ध्यान में लगा देना पंचेन्द्रिय निरोध होता है। इसके भी पाँचों इंद्रियों की अपेक्षा पाँच भेद हो जाते हैं।

11. स्पर्शनइंद्रिय निरोध—सुखदायक, कोमल, स्पर्शादि में या कठोर, कंकरीली भूमि आदि के स्पर्श में आनंद या खेद नहीं करना।

12. रसनेन्द्रिय निरोध—सरस, मधुर भोजन में या नीरस, शुष्क भोजन में हर्ष-विषाद नहीं करना।

13. घ्राणेन्द्रिय निरोध—सुगंधित पदार्थ में या दुर्गंधित वस्तु में राग-द्वेष नहीं करना।

14. चक्षुइन्द्रिय निरोध—स्त्रियों के सुन्दर रूप या विकृत वेष आदि में रागभाव और द्वेषभाव नहीं करना।

15. कर्णेन्द्रिय निरोध—सुन्दर-सुन्दर गीत, वाद्य तथा असुन्दर—निंदा, गाली आदि के वचनों में हर्ष-विषाद नहीं करना। यदि कोई मधुर गीतों से गान करता हो, तो उसे रागभाव से नहीं सुनना।

2.5 षट् आवश्यक—

जो अवश्य—जितेन्द्रिय मुनि का कर्तव्य है वह आवश्यक कहलाता है। उसके छह भेद हैं—समता, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

16. समता—"जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुख आदि में हर्ष विषाद नहीं करना, समान भाव रखना समता है। इसे ही सामायिक कहते हैं। त्रिकाल में देववंदना करना यह भी सामायिकव्रत है।" प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल में विधिवत् कम से कम एक मुहूर्त—48 मिनट तक सामायिक करना होता है।

17. स्तुति—वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तव नाम का आवश्यक है।

18. वंदना—अरिहंतों को, सिद्धों को, उनकी प्रतिमाओं को, जिनवाणी को और गुरुओं को कृतिकर्मपूर्वक नमस्कार करना वंदना है।

19. प्रतिक्रमण—अहिंसादि व्रतों में जो अतीचार आदि दोष उत्पन्न होते हैं, उनको निंदा- गर्हा करके शोधन करना—दूर करना प्रतिक्रमण है। इसके ऐर्यापथिक, दैवसिक आदि सात भेद हैं।

20. प्रत्याख्यान—मन, वचन, काय से भविष्य के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। आहार ग्रहण के अनन्तर गुरु के पास अगले दिन आहार ग्रहण करने तक के लिए जो चतुराहार का त्याग किया जाता है, वह प्रत्याख्यान कहलाता है।

"अतीतकाल के दोष का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। अनागत और वर्तमानकाल में द्रव्यादि दोष का परिहार करना प्रत्याख्यान है। यही इन दोनों में अन्तर है। तप के लिए निर्दोष वस्तु का त्याग करना भी प्रत्याख्यान है किन्तु प्रतिक्रमण दोषों के निराकरण हेतु ही है।"

21. कायोत्सर्ग—दैवसिक, रात्रिक आदि क्रियाओं में पच्चीस या सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण से तथा चौवन, एक सौ आठ आदि श्वासोच्छ्वासपूर्वक णमोकार मंत्र का स्मरण करना। काय—शरीर का उत्सर्ग—त्याग अर्थात् काय से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

2.6 शेष सात गुण—

22. लोच—हाथों से अपने शिर, दाढ़ी और मूँछ के बाल उखाड़ना केशलोच मूलगुण है।

23. अचेलकत्व—सूती, रेशमी आदि वस्त्र, पत्र, वल्कल आदि का त्याग कर देना, नग्न वेष धारण करना अचेलकत्व है। यह जितेन्द्रिय महान् पुरुषों के द्वारा स्वीकार किया जाने से तीनों जगत् में वंदनीय महान् पद है। वस्त्रों के ग्रहण करने से परिग्रह, आरंभ, धोना, सुखाना और याचना करना आदि दोष होते हैं अतः निष्परिग्रही साधु के यह व्रत होता है।

24. अस्नानव्रत—स्नान, उबटन आदि का त्याग करना अस्नानव्रत है। धूलि से धूसरित, मलिन शरीरधारी मुनि कर्ममल को भी धो डालते हैं। चांडाल आदि अस्पृश्य जन का अथवा विष्ठा, हड्डी, चर्म आदि का स्पर्श हो जाने से मुनि दंडस्नान करके गुरु से प्रायश्चित्त भी ग्रहण करते हैं।

25. क्षितिशयन—निर्जंतुक भूमि में घास, पाटा अथवा चटाई पर शयन करना भूमिशयन व्रत है। ध्यान, स्वाध्याय आदि से या गमनागमन से थककर स्वल्प निद्रा लेना होता है।

26. अदंतधावन—नीम की लकड़ी आदि से दंत मंजन नहीं करना अदंतधावन व्रत है। दांतों को नहीं घिसने से इंद्रिय संयम होता है, शरीर से विरागता प्रगट होती है और सर्वज्ञदेव की आज्ञा का पालन होता है।

27. स्थितिभोजन—पांवों को चार अंगुल अन्तराल से रखकर एक स्थान में खड़े होकर दोनों हाथों की अंजुली बनाकर श्रावक के द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करना स्थितिभोजन व्रत है।

28. एकभक्त—एक बेला में आहार लेना—सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी के बाद और सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक दिन में सामायिक काल को छोड़कर एक बार आहार ग्रहण करना एकभक्त है।

इस प्रकार दिगम्बर जैन साधु इन मूलगुणों का पालन करते हुए इस जगत् में सर्वत्र पूज्य होते हैं और क्रम से मोक्ष को प्राप्त करने वाले होते हैं।

2.7 करण और चरण—

पंच महाव्रत, पंच समिति और तीन गुप्ति (मन, वचन, काय को शुभ-अशुभ प्रवृत्ति से रोकना अथवा अशुभ प्रवृत्ति से रोकना भी गुप्ति है) इन तेरह को तेरह प्रकार का चारित्र या चरण कहते हैं। पंच परमेष्ठी को नमस्कार, षट् आवश्यक क्रिया और असही तथा निसही इनको तेरह क्रिया या करण भी कहते हैं। साधु इन तेरह प्रकार के चरण और करण में कुशल रहते हैं।

2.8 दिगम्बर मुनि के बाह्य चिन्ह—

आचेलक्य, लोंच, शरीर संस्कारहीनता और मयूरपिच्छिका मुनियों के ये चार चिन्ह माने हैं।

आचेलक्य—चेल—वस्त्रादि परिग्रह का त्याग करना। यहाँ चेल शब्द उपलक्षण मात्र है अतः वस्त्र के साथ खेत, घर, धन, धान्यादि सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग करना विवक्षित है। यह नग्नता ही निर्ग्रंथता है और यह उत्सर्ग लिंग है। निर्ग्रंथ अवस्था धारण किये बिना मुक्ति असंभव है। वस्त्र, चर्म, वल्कल, पत्ते आदि से शरीर को नहीं ढकना, भूषण, आभरण आदि धारण नहीं करना ही अचेलकता है। यह अचेलकत्व व्रत जगत् में पूज्य है और अट्ठाईस मूलगुणों में एक मूलगुण है।

लोंच—स्नान और केशों का संस्कार आदि न करने से उसमें जूँ आदि उत्पन्न हो सकते हैं इसीलिए अपने हाथ से मस्तक, दाढ़ी और मूँछ के केशों को उखाड़ना केशलोंच है। यह प्रदक्षिणावर्त रूप से अर्थात् दाहिने बाजू से आरंभ कर बायें तरफ आवर्त से किया जाता है। दो मास के अनन्तर अथवा पूरे दो मास होने पर लोंच करना उत्कृष्ट है। तीन मास के बीत जाने पर अथवा पूरे नहीं भी होने पर अथवा पूरे तीन मास होने पर केशलोंच करना मध्यम है। चार मास पूर्ण होने पर अथवा अपूर्ण रहने पर लोंच करना जघन्य है किन्तु चार महीने के ऊपर नहीं होना चाहिए।" उपवासपूर्वक ही लोंच करना होता है। पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमण के दिन ही लोंच करना चाहिए अथवा बिना प्रतिक्रमण के दिन भी लोंच किया जा सकता है। पुनः लोंच करके प्रतिक्रमण करना चाहिए।' दैन्यवृत्ति, याचना, परिग्रह और तिरस्कार आदि दोषों से बचने के लिए ही यह केशलोंच क्रिया है। यह भी एक मूलगुण है। 'लोंच के समय मौन रखना चाहिए।'

व्युत्सृष्टशरीरता—शरीर से ममत्व का त्याग करना। इसमें मुनिगण जलस्नान, शरीर को उबटन, तेल आदि लगाकर अभ्यंग स्नान, नखों का, केशों का, दाढ़ी मूँछों का संस्कार, दंत, ओष्ठ आदि का संस्कार नहीं करते हैं। सुगंधित कस्तूरी आदि से, पुष्प माला आदि से शरीर को नहीं सजाते हैं। इस प्रकार शरीर संस्कार स्नान आदि नहीं करने पर वे मुनि अत्यंत रूक्ष, मलिन शरीर के धारी होने पर भी ब्रह्मचर्य से पवित्र होने से पूज्य होते हैं। चूँकि अस्नान व्रत भी एक मूलगुण है।

प्रतिलेखन—जिससे प्रतिलेखन—शोधन या संमार्जन किया जाये, वह प्रतिलेखन है। यहाँ मयूर के पंखों की पिच्छिका को प्रतिलेखन कहते हैं। कार्तिक मास में स्वयं ही मयूर अपने पंखों को छोड़ देते हैं, उन्हें ही ग्रहण कर यह बनाई जाती है। दीक्षा के समय आचार्य इस संयम के उपकरण रूप पिच्छिका को जीवदया पालन हेतु शिष्यों को देते हैं। आजकल कार्तिक मास में संघ में ये पिच्छिकाएं प्रायः आर्यिकाओं द्वारा बनाई जाती हैं, पुनः आचार्य चातुर्मास समाप्ति पर चतुर्विध संघ के समक्ष स्वयं नूतन पिच्छिका ग्रहण करके सभी शिष्यों को नूतन पिच्छिका देते हैं। इसमें पाँच गुण होते हैं—धूलि को ग्रहण नहीं करना, पसीने से मलिन नहीं होना, मृदुता, सुकुमारता और लघुता। यदि यह धूलि को ग्रहण करे तो इससे पसीने सहित का परिमार्जन नहीं बनेगा या सचित्त से अचित्त, अचित्त से सचित्त धूलि के परिमार्जन में दूषण आयेगा। यह पसीने को ग्रहण करे तो पुनः पुस्तक आदि का परिमार्जन नहीं बनेगा इसलिए धूलि और रज को ग्रहण न करने से सदैव सभी वस्तु का प्रतिलेखन बन जाता है। इसका स्पर्श बहुत ही कोमल है। नेत्र में घुमाने पर भी बाधा नहीं होती है। सुकुमार—नमनशील है, झुक जाती है अन्यथा कठोर होने से इससे जीवों को बाधा हो सकती है और लघु है—हल्की है।

प्रतिलेखन का कार्य—

ईर्यापथ से गमन करने में यदि त्रस जीव बहुत हैं, तो उन्हें पिच्छी से दूर किया जाता है। क्षेत्र या धूलि का रंग बदलने पर या धूप से छाया में और छाया से धूप में जाते समय साधु अपने सर्वांग को पिच्छी से परिमार्जित करके पैर की धूलि को पिच्छी से हटाकर आगे बढ़ते हैं। अथवा जल में प्रवेश करना हुआ तो पैर की धूलि झाड़कर जल में प्रवेश करते हैं।" मार्ग में गमन करते समय जल के आने पर घुटने तक जल में प्रवेश करने से एक कायोत्सर्ग करना होता है। यदि उससे अधिक जल होता है तो उस जल के अधिक-अधिक जल के प्रमाण से गुरु से प्रायश्चित्त ग्रहण करना होता है। इसी प्रकार पुस्तक, कमण्डलु आदि के ग्रहण करने में, रखने में, मल-मूत्रादि विसर्जन के स्थान में, खड़े होने में, बैठने में, सोने में, सीधे सोने में, करवट बदलने में, हाथ-पैर आदि फैलाने में, उनके संकोचने में, शरीर आदि के स्पर्श करने में, अन्य भी किन्हीं कार्यों में साधु सावधान होते हुए अपनी पिच्छिका से परिमार्जन कर त्रस आदि जीवों की रक्षा करते हैं।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी भी कह रहे हैं—

'जो द्वीन्द्रिय आदि प्राणी सूक्ष्म हैं, वे चर्म चक्षु से नहीं दिखते हैं इसीलिए जीवदया हेतु पिच्छी धारण करना चाहिए। मलमूत्र विसर्जन करना, रात्रि में सोया हुआ साधु जब उठकर बैठता है और पुनः सोता है, करवट बदलता है, हाथ पैर

फैलाता है इत्यादि कार्यों में यदि पिच्छी से परिमार्जन किये बिना ये क्रियाएँ करता है, तो नियम से जीव हिंसा होती है। नेत्र में घुमाने पर भी इससे पीड़ा न होने से प्रतिलेखन सूक्ष्मत्वादियुक्त लघु पिच्छिका ग्रहण करना चाहिए। खड़े होने में, चलने आदि क्रियाओं में इस प्रतिलेखन से शोधन किया जाता है इसलिए स्वपक्ष में जैन मुनियों के चिन्ह में यह एक विशेष चिन्ह है।" "जो मुनि अपने पास पिच्छी नहीं रखते हैं, वे उपर्युक्त क्रियाओं में जीवों के घात से नहीं बच सकते हैं अतः उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अन्यत्र भी कहा है—"कोई साधु बिना पिच्छी सात कदम गमन करे तो एक कायोत्सर्ग से शुद्ध होता है। यदि एक कोश गमन करे तो एक उपवास से शुद्ध होता है तथा आगे दूना-दूना प्रायश्चित्त है।" यह पिच्छी जिनमुद्रा का चिन्ह है, मुद्रा ही सर्वत्र मान्य होती है और मुद्रा रहित मनुष्य मान्य नहीं होता है। साधु सामायिक, वंदना, चतुर्विंशतिस्तव आदि के समय भगवान् को नमस्कार करते समय और गुरुओं को नमस्कार करते समय दोनों हाथों में पिच्छी को लेकर अंजुलि जोड़कर अर्थात् पिच्छिका सहित अंजलि जोड़कर वंदना आदि करते हैं।' इस प्रकार से पिच्छिका के गुण और कार्य बताये हैं। ये साधु स्वयं भी अपने हाथ से पिच्छी बना सकते हैं अथवा श्रावकजन बनाकर प्रदान करते हैं। कहा भी है—"यदि स्वाध्याय, व्याख्यान आदि क्रियाओं को न छोड़कर अवकाश के समय साधु पुस्तक, पिच्छी आदि उपकरण बनाता है तो प्रायश्चित्त नहीं है, यदि क्रिया में बाधा करके बनावें तो प्रायश्चित्त है।"

समाचार विधि—

सम के भाव को समता कहते हैं अर्थात् राग-द्वेष का अभाव सो समाचार कहलाता है अथवा त्रिकाल देववंदना या पंच नमस्काररूप परिणाम समता है या सामायिक व्रत समता है, इस प्रकार के आचार को समाचार कहते हैं अथवा सम-सम्यक्-निरतिचार मूलगुणों का अनुष्ठान आचार सो समाचार है अथवा सभी में पूज्य या अभिप्रेत जो आचार है वह समाचार है। इस समाचार के दो भेद हैं—औधिक और पदविभागिक। सामान्य आचार को औधिक समाचार कहते हैं तथा सूर्योदय से प्रारंभ कर अहोरात्र में जितना आचार मुनियों के द्वारा किया जाता है उसे पदविभागी समाचार कहते हैं।

2.9 औधिक समाचार के दस भेद—

1. इच्छाकार—सम्यग्दर्शन आदि इष्ट को हर्ष से स्वीकार करना।

2. मिथ्याकार—व्रतादि में अतिचारों के होने पर 'मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे' ऐसा कहकर उनसे दूर होना।

3. तथाकार—गुरु के मुख से सूत्रार्थ सुनकर 'यही ठीक है' ऐसा अनुराग व्यक्त करना तथाकार है।

4. आसिका—जिनमंदिर, वसतिका आदि से निकलते समय 'असही' शब्द से वहाँ के व्यंतर आदि से पूछकर जाना।

5. निषेधिका—जिनमंदिर, वसतिका आदि में प्रवेश के समय 'निसही' शब्द से वहाँ के व्यंतरादि से पूछकर प्रवेश करना।

6. आपृच्छा—गुरु आदिकों से वंदनापूर्वक प्रश्न करना। आहार आदि के लिए जाते समय पूछना।

7. प्रतिपृच्छा—किसी बड़े कार्य के समय गुरु आदि से बार-बार पूछना।

8. छंदन—उपकरण आदि के ग्रहण करने में या वंदना आदि क्रियाओं में आचार्य के अनुकूल प्रवृत्ति रखना।

9. सनिमंत्रण—गुरु आदि से विनयपूर्वक पुस्तक आदि की याचना करना।

10. उपसंपत्—गुरुजनों के लिए 'मैं आप का ही हूँ' ऐसा आत्मसमर्पण करना।

उपसंपत् के पाँच भेद हैं—विनयोपसंपत्, क्षेत्रोपसंपत्, मार्गोपसंपत्, सुखदुःखोपसंपत् और सूत्रोपसंपत्।

1. अन्य संघ से विहार करते हुए आये मुनि को पादोष्ण या अतिथि मुनि कहते हैं। उनका विनय करना, आसन आदि देना, उनका अंग मर्दन करना, प्रिय वचन आदि बोलना। आप किस आचार्य के शिष्य हैं ? किस मार्ग से विहार करते हुए आये हैं ? ऐसा प्रश्न करना, उन्हें तृण, संस्तर, फलक-संस्तर, पुस्तक, पिच्छिका आदि देना, उनके अनुकूल

आचरण करना अथवा उन्हें संघ में स्वीकार करना विनयोपसंपत् है।

2. जिस क्षेत्र—देश में संयम, गुण, शील, यम-नियम आदि वृद्धिंगत होते हैं, उस देश में निवास करना क्षेत्रोपसंपत् है।

3. आगंतुक मुनि से मार्गविषयक कुशल पूछना अर्थात् आपका अमुक तीर्थक्षेत्र या ग्राम को जाकर सुखपूर्वक आगमन हुआ है न ? तथा मार्ग में आपके संयम, तप ज्ञानादि में निर्विघ्नता थी न ? इत्यादि सुख प्रश्न आपस में पूछना मार्गोपसंपत् है।

4. आपस में वसतिका, आहार, औषधि आदि से जो उपकार करना है वह सुखदुःखोपसंपत् है अर्थात् जो आगंतुक मुनि आहार, वसतिका आदि से सुखी हैं, उनको शिष्य आदि का लाभ होने पर कमण्डलु आदि दान देना, रोगपीड़ित मुनियों की प्राप्ति होने पर सुखशय्या, आसन, औषधि, अन्न पानादि के द्वारा उपचार करना और मैं आपका ही हूँ, ऐसा बोलना यह सब सुखदुःखोपसंपत् है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि साधु साधु के लिए आहार, वसतिका या औषधि का दान कैसे करेंगे ? सो योग्य वसतिका में उनकी व्यवस्था कराना, श्रावकों द्वारा आहार, औषधि की व्यवस्था कराना ही उनके द्वारा शक्य है, सो वे करेंगे ही।

5. सूत्र पठन में प्रयत्न करना सूत्रोपसंपत् है। सूत्र के लौकिक, वैदिक और सामयिक की अपेक्षा तीन भेद हो जाते हैं। गणितादि शास्त्र लौकिक सूत्र हैं, सिद्धांत शास्त्र वेद कहलाते हैं। इन संबंधी सूत्र वैदिक सूत्र हैं और तर्कशास्त्र को समय कहते हैं। इन संबंधी शास्त्र सामयिक हैं, ऐसे तीन प्रकार के सूत्र, अर्थ और उभय को प्रयत्नपूर्वक पढ़ना आदि नौ भेदरूप सूत्रोपसंपत् है। इस प्रकार से औघिक अर्थात् संक्षिप्त या सामान्य समाचार के दश भेद बताये गये हैं।

पदविभागिक समाचार—'कोई धैर्य, वीर्य, उत्साह आदि गुणों से सहित मुनि अपने गुरु के पास उपलब्ध शास्त्रों को पढ़कर अन्य आचार्य के पास यदि और विशेष अध्ययन के लिए जाना चाहता है तो वह अपने गुरु के पास विनय से अन्यत्र जाने हेतु बार-बार प्रश्न करता है। पुनः दीक्षागुरु और शिक्षागुरु से आज्ञा लेकर अपने साथ एक, दो या तीन मुनिवरों को लेकर जाता है क्योंकि सामान्य मुनियों के लिए आगम में एकलविहारी की आज्ञा नहीं है।'

2.10 साधु के एकलविहारी होने का निषेध—

विहार के गृहीतार्थ विहार और अगृहीतार्थ विहार ऐसे दो भेद हैं। इनके सिवाय तीसरे विहार की जिनेश्वरों ने आज्ञा नहीं दी है।' जीवादि तत्त्वों के स्वरूप के ज्ञाता मुनियों का जो चारित्र का पालन करते हुए देशांतर में विहार है वह गृहीतार्थ विहार है और जीवादि तत्त्वों को न जानकर चारित्र का पालन करते हुए जो मुनियों का विहार है वह अगृहीतार्थ संश्रित विहार है। जो साधु बारह प्रकार के तप को करने वाले हैं, द्वादशांग और चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता हैं अथवा काल, क्षेत्र आदि के अनुरूप आगम के ज्ञाता हैं या प्रायश्चित्त आदि ग्रंथों के वेत्ता हैं। देह की शक्ति और हड्डियों के बल से अथवा भाव के सत्त्व से सहित हैं, शरीरादि से भिन्नरूप एकत्व भावना में तत्पर हैं। वज्रवृषभनाराच आदि तीन संहननों में से किसी उत्तम संहनन के धारक हैं, धृति—मनोबल से सहित हैं अर्थात् क्षुधा आदि बाधाओं को सहने में समर्थ हैं। बहुत दिन के दीक्षित हैं, तपस्या से वृद्ध हैं—अधिक तपस्वी हैं और आचार शास्त्रों के पारंगत हैं, ऐसे मुनि को एकलविहारी होने की जिनेन्द्रदेव ने आज्ञा दी है।

'गमनागमन, सोना, उठना, बैठना, कुछ वस्तु ग्रहण करना, आहार लेना, मलमूत्रादि विसर्जन करना, बोलना, चालना आदि क्रियाओं में स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला ऐसा कोई भी मुनि मेरा शत्रु भी हो, तो भी वह एकाकी विचरण न करे। स्वेच्छाचारी मुनि के एकाकी विहार से गुरु की निंदा होती है, श्रुताध्ययन का व्युच्छेद, तीर्थ की मलिनता, जड़ता, मूर्खता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता आदि दोष आते हैं। एकलविहारी होने से कंटक, ठूँठ आदि का उपद्रव, कुत्ते, बैल आदि पशुओं के और म्लेच्छों के उपसर्ग, विष, हैजा आदि से भी अपना घात हो सकता है। ऋद्धि आदि गौरव से गर्व युक्त, हठाग्रही, कपटी, आलसी, लोभी और पापबुद्धियुक्त मुनि संघ में रहते हुए भी शिथिलाचारी होने से अन्य

मुनियों के साथ नहीं रहना चाहता है। जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का लोप, अनवस्था—देखादेखी स्वच्छंद विहारी की परम्परा बन जाना, मिथ्यात्व की आराधना, आत्मगुणों का नाश और संयम की विराधना इन पाँच निकाचित दोषों का प्रसंग आता है।" अन्यत्र भी एकलविहारी का निषेध किया है—"कोई मुनि अपने गुरु के समीप समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके यदि अन्य मुनियों के संघ में अध्ययन करने की इच्छा हो, तो बार-बार पूछकर गुरु की आज्ञा लेकर अन्य किसी एक या दो अथवा बहुत से मुनियों के साथ विहार करते हैं। (कदाचित् यात्रा, धर्मप्रभावना आदि के निमित्त से भी आजकल इसी तरह कुछ मुनि मिलकर गुरु की आज्ञा लेकर विहार करते हैं) अकेले मुनि विहार नहीं करते हैं। इसका कारण यह है कि जो मुनि बहुत दिन के दीक्षित हैं, ज्ञान और संहनन से बलवान हैं तथा भावना से भी बलवान हैं, ऐसे ही मुनि एकलविहारी हो सकते हैं, अन्य साधारण मुनियों के लिए एकाकी विहार की आज्ञा नहीं है। सो ही कहते हैं कि—जिस मुनि में ऊपर कथित ज्ञान, संहनन और अंत:करण के बल आदि गुण नहीं है और जो अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करने में तत्पर हैं, ऐसा मेरा शत्रु भी कभी एकाकी विहार न करे।" और यदि ऐसे मुनि भी एकाकी विचरण करते हैं तो क्या दोष आते हैं सो दिखाते हैं—शास्त्रज्ञान की परम्परा का नाश, व्यवस्था दोष अर्थात् एक की देखादेखी बहुत से साधु ऐसा करने लगेंगे, तो व्यवस्था बिगड़ जावेगी। व्रतों का नाश, आज्ञा भंग—जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन और तीर्थधर्म तथा गुरु की अपकीर्ति हो जाती है। इसके सिवाय अग्नि, जल, विष, अजीर्ण, सर्प या व्यवहारजनों के द्वारा अथवा आर्तध्यान, रौद्रध्यान आदि के द्वारा अपना विनाश हो जाता है, इत्यादि दोष एकाकी विहार में आ जाते हैं।

2.11 संघ कैसा होना चाहिए ?—

जिस संघ में आचार्य—दीक्षा प्रायश्चित्त आदि दायक गुरु, उपाध्याय—अध्यापक, मुनि, प्रवर्तक—सभी साधुओं को चर्या आदि में प्रवृत्ति कराने वाले, स्थविर—बल वृद्ध आदि मुनि को सर्वज्ञानुकूल उपदेश देने वाले, गणधर—सर्वसंघ का पालन करने वाले ऐसे पाँच आधार जिस संघ में रहते हैं, वही संघ रहने के लिए योग्य है। जिस समय ये मुनि अपने संघ से निकलकर अन्य संघ में प्रवेश करते हैं, उस समय उस संघ के सभी मुनि आगन्तुक अतिथि मुनि को देखकर उठकर खड़े होते हैं। आगे जाकर नमोऽस्तु-प्रतिनमोऽस्तु करते हैं। उनका रत्नत्रय आदि कुशल पूछकर मार्ग की थकावट को दूर करने हेतु वैयावृत्ति, आहार की व्यवस्था आदि सुविधा देते हैं। तीन दिन तक ये साधु आवश्यक क्रियाओं में, आहार आदि क्रियाओं में परस्पर एक-दूसरे की परीक्षा करते हैं। दूसरे या तीसरे शिष्यगण आगन्तुक मुनि की चर्या की निर्दोषता आदि के विषय में आचार्यदेव को जानकारी देते हैं। पुन: आगन्तुक मुनि का नाम, कुल, गुरु, दीक्षा आदि सभी बातें गुरु स्वयं आगंतुक से पूछते हैं। यदि वह मुनि संघ परम्परा से और अपने चारित्र से निर्दोष है तो उसे स्वीकार करते हैं। आगंतुक मुनि भी तब अपने आने का कारण निवेदन कर गुरु के पास श्रुत अध्ययन प्रारंभ कर देते हैं। ये मुनि इस परसंघ में आचार्य आदि सब साधुओं के साथ ही प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करते हैं, स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं करते हैं।

2.12 आर्यिकाओं की चर्या—

'यहाँ तक जो मूलगुण और समाचार का वर्णन किया है, ये ही सब मूलगुण और समाचार विधि आर्यिकाओं के लिए भी है। विशेष यह है कि वृक्षमूलयोग, आतापनयोग आदि का आर्यिकाओं के लिए निषेध है।" अन्यत्र भी कहा है—'जिस प्रकार यह समाचार नीति मुनियों के लिए बतलाई है उसी प्रकार लज्जादि गुणों से विभूषित आर्यिकाओं को भी इन्हीं समस्त समाचार नीतियों का पालन करना चाहिए।" आर्यिकायें वसतिका में परस्पर में एक-दूसरे के अनुकूल रहती हैं। निर्विकार वस्त्र—वेश को धारण करती हुई दीक्षा के अनुरूप आचरण करती हैं। रोना, बालक आदि को स्नान कराना, भोजन बनाना, वस्त्र सीना आदि गृहस्थोचित कार्य नहीं करती हैं। इनका स्थान साधुओं के निवास से दूर तथा

गृहस्थों के स्थान से न अति दूर न अति पास ऐसा रहता है, वहीं पर मलमूत्रादि विसर्जन हेतु एकांत प्रदेश रहता है। ऐसे स्थान में ये दो, तीन या तीस, चालीस आदि तक आर्यिकाएँ निवास करती हैं। ये गृहस्थों के घर आहार के अतिरिक्त अन्य समय नहीं जाती हैं। कदाचित् सल्लेखना आदि विशेष कार्य यदि आ जावे तब गणिनी की आज्ञा से दो, एक आर्यिकाओं के साथ जाती हैं। इनके पास दो साड़ी रहती हैं किन्तु तीसरा वस्त्र नहीं रख सकती हैं। फिर भी ये लंगोटी-मात्रधारी ऐसे ऐलक से भी पूज्य हैं, चूँकि इनके उपचार से महाव्रत माने गये हैं किन्तु ऐलक के अणुव्रत ही हैं। यथा— ग्यारहवीं प्रतिमाधारी ऐलक लंगोटी में ममत्व सहित होने से उपचार महाव्रत के योग्य भी नहीं है किन्तु आर्यिका एक साड़ी मात्र धारण करने पर भी ममत्वरहित होने से उपचार महाव्रती हैं। एक साड़ी पहनना और बैठकर आहार करना इन दो चर्याओं में ही अन्तर है। इन आर्यिकाओं का नेतृत्व करने वाले आचार्य कैसे होते हैं ?

शिष्यों के संग्रह और उन पर अनुग्रह करने में कुशल, सूत्रार्थ में विशारद, यशस्वी, तेरह प्रकार की क्रिया और तेरह प्रकार के चारित्र में तत्पर ऐसे आचार्य होते हैं। जिनके वचन सभी को ग्राह्य और हितकर होते हैं। गंभीर, स्थिरपरिणामी, मितभाषी, अल्पकुतूहली, चिरकाल के दीक्षित, पदार्थों के ज्ञान में कुशल ऐसे आचार्य ही आर्यिकाओं के गणधर होते हैं। इन गुणों से व्यतिरिक्त आचार्य यदि आर्यिकाओं का नेतृत्व करते हैं तो गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ ऐसे चार काल की विराधना करा देते हैं अर्थात् संघ की अपकीर्ति, संयम की हानि आदि दोष आ जाते हैं।

2.13 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-मुनियों के प्रधान आचरण को क्या कहते हैं ?

(क) आवश्यक क्रिया ☐ (ख) प्रतिक्रमण ☐ (ग) मूलगुण ☐

प्रश्न 2-निर्जंतुक मार्ग से सूर्योदय के प्रकाश में चार हाथ आगे जमीन देखकर एकाग्रचित्तपूर्वक धर्मकार्य हेतु गमन करना.....है।

(क) एषणा समिति ☐ (ख) ईर्यासमिति ☐ (ग) उत्सर्ग समिति ☐

प्रश्न 3-मुनि की षट् आवश्यक क्रियाओं में तीसरी आवश्यक क्रिया कौन सी है ?

(क) समता ☐ (ख) वंदना ☐ (ग) प्रत्याख्यान ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-करण और चरण में क्या अन्तर है ? परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 2-दिगम्बर मुनि के बाह्य चिन्ह कितने और कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 3-उपसंपत् के भेद कितने और कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 4-औघिक समाचार के दस भेद बताते हुए उनमें से किसी चार का निरूपण कीजिए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-आचार्यों ने आर्यिकाओं की जो चर्या आगम में बताई है उसका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए ?

पाठ-3 – दिगम्बर मुनि की नित्य-नैमित्तिक क्रियाएं

3.1 दैनिक चर्या-

साधुओं के लिए अहोरात्र संबंधी अट्ठाईस कृतिकर्म या कायोत्सर्ग बतलाये गये हैं। साधु किस-किस कृतिकर्म का प्रयोग किस-किस काल में करते हैं, सो देखिए—

निज आत्मस्वरूप में चित्त का स्थिर हो जाना इसका नाम योग अथवा समाधि है। इस योग की सिद्धि के लिए पहले उसकी योग्यता उत्पन्न करने हेतु जो क्रियाएँ पाली जाती हैं, उन्हें परिकर्म कहते हैं। ये साधु इस परिकर्म के स्वाध्याय आदि भेदों का प्रतिदिन पालन करते ही रहते हैं क्योंकि परिकर्म के बिना योग की सिद्धि असंभव है और योग के बिना आत्मस्वरूप की प्राप्ति भी असंभव ही है।

3.2 स्वाध्याय विधि आदि—

परिकर्म का प्रथम भेद जो स्वाध्याय है उसका काल और उसकी विधि बताते हैं। स्वाध्याय के काल चार हैं— गौसर्गिक, अपराण्हिक, प्रादोषिक और वैरात्रिक अथवा इन्हें पौर्वाण्हिक, अपराण्हिक, पूर्वरात्रिक और अपररात्रिक नामों से भी जाना जाता है। सूर्योदय से दो घड़ी (48 मिनट) बाद से लेकर मध्यान्ह के दो घड़ी पहले तक पौर्वाण्हिक स्वाध्याय का काल है। मध्यान्ह के दो घड़ी बाद से लेकर सूर्यास्त के दो घड़ी पहले तक अपराण्हिक स्वाध्याय का काल है। सूर्यास्त के दो घड़ी बाद से अर्द्धरात्रि के दो घड़ी पहले तक पूर्वरात्रिक स्वाध्याय का काल है और अर्धरात्रि में दो घड़ी बाद से लेकर सूर्योदय के दो घड़ी पहले तक अपररात्रिक स्वाध्याय का काल है।

निद्रा समाप्त कर उठने के बाद सबसे प्रथम अपररात्रिक स्वाध्याय का विधान है।" साधु लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्यभक्ति करके स्वाध्याय की प्रतिष्ठापना करते हैं पुनः स्वाध्याय करके लघु श्रुतभक्ति के द्वारा निष्ठापन कर देते हैं।"

"सूत्रादि ग्रंथों का स्वाध्याय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धिपूर्वक यथोचित काल में करने से वह मुक्ति के लिए कारण होता है अन्यथा इससे विपरीत होने से वह कर्मबंध के लिए कारण हो जाता है।"

"वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश, इन पाँच प्रकार के स्वाध्यायों को विधिवत् करना श्रुतज्ञान का ज्ञानाचार है। द्रव्य, क्षेत्रादि की शुद्धि करके विनय के साथ केवल मोक्ष के लिए शिष्यों को सूत्र और अर्थ का पढ़ाना वाचना स्वाध्याय है।"

द्रव्यशुद्धि— अपने शरीर में ज्वर, नेत्ररोग, उदरशूल आदि कोई भी पीड़ा हो अथवा शरीर से पीव, रुधिर आदि बह रहा हो या मलमूत्रादि लिप्त हो, ऐसी अवस्था में द्रव्यशुद्धि असंभव है।

क्षेत्रशुद्धि— व्याख्यान स्थान से चारों दिशाओं में पंचेन्द्रिय का कलेवर, गीला चर्म, माँस, हड्डी, रुधिर आदि पदार्थ कम से कम बत्तीस धनुष दूर होना चाहिए। मनुष्य और तिर्यंचों का सूखा चमड़ा दो सौ हाथ दूर होना चाहिए और मल-मूत्र डेढ़ सौ हाथ दूर होना चाहिए।

यदि कोई पंचेन्द्रिय जीव पीड़ा से दुःखी हो या मर रहा हो अथवा त्रस-स्थावर जीवों का घात हो रहा हो। यदि अज्ञानी अथवा बालक, जल, दीपक, अग्नि का बुझना आदि अत्यन्त समीप हो या वन में लगी हुई अग्नि का धुआं उठ रहा हो अथवा उसकी दुर्गंध आ रही हो, इत्यादि में वाचना-स्वाध्याय बंद कर देना चाहिए।

कालशुद्धि— जिन दिनों नंदीश्वर की महापूजा चल रही हो, जिस समय अर्हंत, आचार्य, उपाध्याय आदि आराध्य जनों का आगमन हो, एक योजन के भीतर सन्यास धारण करने वाले का महान उपवास हो, उन दिनों को छोड़कर तथा समस्त पर्व के दिन और आवश्यक क्रियाओं के समय को छोड़कर बाकी के समय में विशुद्धिप्रद ऐसी कालशुद्धि होती है। यदि आचार्य का स्वर्गवास अपने ही गाँव में हो तो सात दिन तक, यदि चार कोश के भीतर हो तो तीन दिन तक और

यदि किसी दूर क्षेत्र में हो तो एक दिन तक वाचना स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

"पिछली रात्रि के स्वाध्याय की निष्ठापना करके भूमि में स्थित होकर पूर्वाण्ह वाचना स्वाध्याय हेतु पूर्वादि दिशाओं में नव-नव गाथाओं का उच्चारण करते हुए कायोत्सर्ग करने से प्रत्येक दिशाओं की शुद्धि होती है, यह कालशुद्धि की विधि है।"

जिस समय बिजली चमक रही हो, इन्द्रधनुष दिख रहा हो, पृथ्वी कंपायमान हो रही हो, अग्नि लग रही हो, युद्ध, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, अकालवृष्टि या मेघ गर्जना हो रही हो, उस समय भी वाचना स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

पूर्वाण्ह स्वाध्याय के अनंतर अपराण्ह स्वाध्याय के लिए णमोकार मंत्र की 7-7 गाथा चारों दिशाओं में पढ़कर दिक्शुद्धि करनी चाहिए। इसी प्रकार अपराण्ह स्वाध्याय के अनंतर पूर्वरात्रिक स्वाध्याय हेतु चारों दिशाओं में क्रम से पाँच-पाँच गाथा पढ़कर दिक्शुद्धि की जानी चाहिए। पश्चिमरात्रिक स्वाध्याय हेतु दिक्शुद्धि के कारणों का अभाव होने से सूत्रादि ग्रंथों की वाचना नहीं की जाती है। "आकाशगामी, चारणऋद्धिधारी, अवधिज्ञानी आदि मुनियों के क्षेत्र शुद्धि होने से वे पश्चिमरात्रि में भी वाचना स्वाध्याय करते हैं। यह दिक्शुद्धि का विधान अन्यत्र भी है—

भावशुद्धि — यश, पूजा, पुरस्कार वा पारितोषिक की इच्छा न रखते हुए अहंकाररहित और श्रुतज्ञानरूपी अमृत के आनंद में मग्न बुद्धि का होना भाव शुद्धि है।

इस तरह चारों प्रकार की शुद्धियों को करके तथा अपने हाथ-पैरों को शुद्धकर शुद्ध देश में स्थित होकर भक्तिपूर्वक विधि के अनुसार क्रिया करके साधु पर्यंकासन से बैठ जाते हैं और आचार्य के पादकमलों को नमस्कार करके अपने कुक्षि आदि अंगों को स्पर्श न करते हुए अंजुलि जोड़कर सूत्रों का अध्ययन करते हैं। काल के अनुसार ही वाचना स्वाध्याय करके विसर्जन कर देते हैं। वाचना नाम के स्वाध्याय में ही यह विधि है किन्तु पुराण, आराधना, पंचसंग्रह आदि शास्त्रों के स्वाध्याय में इस विधि की आवश्यकता नहीं है। गणधरदेव, अभिन्नदशपूर्वी, प्रत्येक बुद्ध और श्रुतकेवलियों द्वारा कथित ग्रंथ सूत्र कहलाते हैं। ऐसे सूत्र के अध्ययन में ही द्रव्यादि शुद्धि की आवश्यकता मानी है।

"इस विधि का उल्लंघन करके जो सूत्रों का स्वाध्याय करते हैं वे अनेक प्रकार के रोग, असमाधि, स्वाध्याय भंग आदि अनेक दुःखों को प्राप्त करते हैं।"

संशय को दूर करने के लिए प्रहास, उद्धत्ता को छोड़कर तथा बड़प्पन न दिखलाते हुए बड़ी नम्रता के साथ जो पूछना है, वह पृच्छना स्वाध्याय है।

जाने हुए तत्त्वों का बार-बार चिंतवन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

शब्दों के उच्चारण के दोषों से रहित बार-बार पढ़ना, पाठ करना वा घोकना (रटना) आम्नाय नाम का स्वाध्याय है।

द्वादशांग श्रुतज्ञान का अथवा उसके एकदेश का उपदेश देना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है।

स्वाध्याय से मुनियों की बुद्धि तीक्ष्ण होती है, अन्तरंग प्रसन्न होता है और असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होती है। महान् सिद्धांत ग्रंथ धवला में भी कहा है—

"व्याख्यान करने वालों और सुनने वालों को भी द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि से व्याख्यान करने या सुनने में प्रवृत्ति करनी चाहिए। उनमें ज्वर, कुक्षि रोग, शिरोरोग, कुत्सित स्वप्न, रुधिर, विष्ठामूत्रलेप, अतिसार और पीव का बहना इत्यादिकों का शरीर में न रहना द्रव्यशुद्धि है। व्याख्याता से अधिष्ठित प्रदेश से चारों ही दिशाओं में निश्चित दूरी तक क्षेत्र में विष्ठा-मूत्र, हड्डी, केश, नख और चमड़े आदि के अभाव को क्षेत्रशुद्धि कहते हैं। बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्र का ग्रहण, अकालवृष्टि, मेघगर्जन, मेघों के समूह से आच्छादित दिशा में, दिशादाह, धूमिकापात (कुहरा), संन्यास, महोपवास, नंदीश्वरमहिमा और निजमहिमा इत्यादि के अभाव को कालशुद्धि कहते हैं।"

यहाँ कालशुद्धि करने के विधान को कहते हैं। वह इस प्रकार है—"पश्चिम रात्रि के स्वाध्याय को समाप्त करके बाहर निकलकर प्रासुक भूमि प्रदेश में कायोत्सर्ग से पूर्वाभिमुख स्थित होकर नौ गाथाओं के उच्चारणकाल से पूर्व दिशा

को शुद्ध करके फिर प्रदक्षिणा रूप से पलटकर इतने ही काल से दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशाओं को शुद्ध कर लेने पर 36 गाथाओं के उच्चारण काल से अथवा 108 उच्छ्वास काल से कालशुद्धि समाप्त होती है। अपराण्हकाल में भी इसी प्रकार से काल शुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है इस समय की कालशुद्धि प्रत्येक दिशा में 7-7 गाथाओं द्वारा 84 उच्छ्वासों में समाप्त होती है। पश्चात् सूर्यास्त होने से पहले क्षेत्रशुद्धि करके सूर्यास्त हो जाने पर कालशुद्धि पूर्ववत् करना चाहिए। इसमें प्रत्येक दिशा में 5-5 गाथा के उच्चारण से 20 गाथाओं द्वारा 60 उच्छ्वास में यह कालशुद्धि होती है। अपररात्रि—रात्रि के पिछले भाग में वाचना नहीं है क्योंकि उस समय क्षेत्रशुद्धि करने का कोई उपाय नहीं है।" अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, समस्त अङ्गश्रुत के धारक, आकाश स्थित चारण तथा मेरु कुलाचलों में स्थित चारण ऋषियों के अपरारात्रिक वाचना भी है क्योंकि वे क्षेत्रशुद्धि से रहित हैं अर्थात् भूमि पर न रहने से उन्हें क्षेत्र शुद्धि की आवश्यकता नहीं होती।

राग, द्वेष, अहंकार, आर्त व रौद्र ध्यान से रहित, पाँच महाव्रतों से युक्त, तीन गुप्तियों से रक्षित तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आचार से वृद्धि को प्राप्त साधु के भावशुद्धि होती है।

यम पटह का शब्द सुनने पर, अङ्ग से रक्तस्राव बहने पर, अतिचार के होने पर तथा दाताओं के अशुद्ध काय होते हुए भोजन कर लेने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

तिल मोदक, चिउड़ा, लाई और पुआ आदि चिक्कण एवं सुगंधित भोजनों के खाने पर तथा दावानल का धुआँ होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।

एक योजन के अंदर संन्यास विधि के होने पर महोपवास विधि आवश्यक क्रिया एवं केशों का लोंच होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।

आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिन तक, योजन मात्र में तीन दिन तक और अतिदूर में होने पर एक दिन तक अध्ययन का निषेध है।

प्राणी के तीव्र दुःख से मरणासन्न होने पर या अत्यन्त वेदना से तड़फड़ाने पर तथा एक निवर्तन (एक बीघा या गुंठा) मात्र में तिर्यंचों का संचार होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।

उतने मात्र में स्थावरकाय जीवों के घातरूप कार्य में प्रवृत्त होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर, दूर से दुर्गन्ध आने पर अथवा अत्यंत सड़ी गंध के आने पर ठीक अर्थ समझ में न आने पर अथवा अपने शरीर के शुद्धि से रहित होने पर मोक्षसुख के चाहने वाले व्रती पुरुष को सिद्धान्त का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

मल छोड़ने की भूमि से सौ अरत्नि प्रमाण दूर तनुसलिल अर्थात् मूत्र के छोड़ने में भी इस भूमि से पचास अरत्नि दूर, मनुष्य शरीर के लेशमात्र अवयव के स्थान से पचास धनुष तथा तिर्यंचों के शरीर संबंधी अवयव के स्थान से उससे आधी मात्र अर्थात् पच्चीस धनुष प्रमाण भूमि को शुद्ध करना चाहिए।

व्यंतरों के द्वारा भेरीताड़न करने पर, उनकी पूजा का संकट होने पर, कर्षण के होने पर, चाण्डाल बालकों के समीप में झाड़ू-बुहारी करने पर अग्नि, जल व रुधिर की तीव्रता होने पर तथा जीवों के मांस व हड्डियों के निकाले जाने पर क्षेत्र की विशुद्धि नहीं होती। जैसा कि सर्वज्ञों ने कहा है।

क्षेत्र की शुद्धि करने के पश्चात् अपने हाथ और पैरों को शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मनयुक्त होता हुआ प्रासुक देश में स्थित होकर वाचना को ग्रहण करे।

वह साधु बाजू और कांख आदि अपने अंग का स्पर्श न करता हुआ उचित रीति से अध्ययन करे और यत्नपूर्वक अध्ययन करके पश्चात् शास्त्रविधि से वाचना को छोड़ दे।

"साधु पुरुषों ने बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय को श्रेष्ठ कहा है इसीलिए विद्वानों को स्वाध्याय न करने के दिनों को जानना चाहिए।

पर्वदिनों (अष्टमी व चतुर्दशी आदि) नंदीश्वर के श्रेष्ठ महिमदिवसों अर्थात् आष्टान्हिक पर्व के दिनों में और सूर्य, चन्द्र का ग्रहण होने पर विद्वान व्रती को अध्ययन नहीं करना चाहिए।

अष्टमी में अध्ययन गुरु और शिष्य दोनों के वियोग को करता है। पूर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह और चतुर्दशी के दिन किया गया अध्ययन विघ्न को करता है।

यदि साधुजन कृष्णा चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते हैं तो विद्या और उपवासविधि सब विनाशवृत्ति को प्राप्त होते हैं।

मध्यान्हकाल में किया गया अध्ययन जिनरूप को नष्ट करता है। दोनों संध्याकालों में किया गया अध्ययन व्याधि को करता है तथा मध्यम रात्रि को किये गये अध्ययन से अनुरक्तजन भी द्वेष को प्राप्त होते हैं।

अतिशय तीव्र दुःख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या समीप में होने पर, मेघों की गर्जना व बिजली के चमकने पर और अतिवृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।

सूत्र और अर्थ की दिशा के लोभ से किया गया द्रव्यादि शुद्धि का अतिक्रमण असमाधि अर्थात् सम्यक्त्वादि की विराधना, अस्वाध्याय अर्थात् शास्त्रादिकों का अलाभ, कलह, व्याधि और वियोग को करता है।

"विनय से पढ़ा गया श्रुत यदि किसी भी प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो परभव में वह उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञान को भी प्राप्त कराता है।"

भगवान कुंदकुंददेव भी कालशुद्धि में पढ़ने योग्य ग्रंथ और अकाल में भी पढ़ने योग्य ग्रंथों का विभाजन कर रहे हैं—

"गणधरदेव द्वारा कथित प्रत्येक बुद्ध, अभिन्नदशपूर्वी और श्रुतकेवली ऐसे महर्षियों द्वारा प्रणीत ग्रंथ सूत्र कहे जाते हैं। विरत—मुनिवर्ग और स्त्रीवर्ग—आर्यिकाओं को इन सूत्रग्रंथों का पठन अस्वाध्याय काल में नहीं करना चाहिए। इनसे अतिरिक्त जो ग्रंथ हैं, उनको अस्वाध्यायकाल—कालशुद्धि बिना अकाल में भी पढ़ सकते हैं। वे ग्रंथ कौन से हैं ? आराधना शास्त्र, मरण को कहने वाले शास्त्र, भगवती आराधना आदि, पंचसंग्रह आदि शास्त्र, स्तुति आदि के प्रतिपादक शास्त्र, प्रथमानुयोग शास्त्र, द्वादशानुप्रेक्षा आदि के वर्णन करने वाले शास्त्र इनको अकाल में भी पढ़ सकते हैं।"

स्वाध्याय के समय विनयशुद्धि कैसी होनी चाहिए ?

"पर्यंकासन से बैठकर पिच्छिका के द्वारा ग्रंथ, भूमि आदि का प्रतिलेखन करके पिच्छिका सहित अंजलि जोड़कर प्रणाम करके सूत्र और अर्थ में उपयोग स्थिर करते हुए अपनी शक्ति के अनुसार पढ़ना चाहिए।"

वर्तमानकाल में जो भी ग्रंथ हैं, उनमें उपर्युक्त सूत्र का लक्षण घटित न होने से वे सूत्र नहीं हैं, ऐसा नहीं समझना। धवला और जयधवला सिद्धांतग्रंथों में इन षट्खण्डागम सूत्रों को और कसायपाहुड़ सूत्रों को स्वयं श्रीवीरसेनाचार्य ने सूत्ररूप प्रामाणिक सिद्ध किया है। यथा—"जो गणरधरदेव या प्रत्येकबुद्ध आदि के द्वारा कहा गया है" वह सूत्र है इस वचन के अनुसार ये एक सौ अस्सी गाथाएँ (कसायपाहुड़) सूत्र नहीं हो सकती हैं क्योंकि गुणधर भट्टारक न गणधर हैं, न प्रत्येकबुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं और न अभिन्नदशपूर्वी ही हैं। इस पर समाधान करते हुए आचार्य श्री वीरसेन कहते हैं कि—नहीं, क्योंकि निर्दोषत्व, अल्पाक्षरत्व और सहेतुकत्वरूप प्रमाणों द्वारा गुणधर भट्टारक की गाथाओं की सूत्र के साथ समानता है अर्थात् गुणधर भट्टारक आचार्य की गाथाओं में भी सूत्रत्व पाया जाता है।"

अन्यत्र भी षट्खण्डागम और कषायप्राभृत की सूत्र संज्ञा है। यथा—

शंका—तो फिर इस युग के आचार्यों द्वारा कहे गये सत्कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) और कषायप्राभृत को सूत्रत्व कैसे प्राप्त हो सकेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिनका अर्थरूप से तीर्थंकरों ने प्रतिपादन किया है और गणधरदेव ने जिनकी ग्रंथ रचना की है। ऐसे बारह अंग आचार्य परम्परा से निरन्तर चले आ रहे हैं परन्तु काल के प्रभाव से उत्तरोत्तर बुद्धि के क्षीण

होने पर और उन अंगों को धारण करने वाले योग्य पात्र के अभाव में उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं इसलिए जिन आचार्यों ने आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरुषों का अभाव देखा और जो अत्यन्त पापभीरु थे और जिन्होंने गुरु परम्परा से श्रुतार्थ ग्रहण किया था, उन आचार्यों ने तीर्थविच्छेद के भय से उस समय अवशिष्ट रहे हुए अंग संबंधी अर्थ को पोथियों में लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रत्व नहीं आ सकता है अर्थात् वे षट्खण्डागम और कसायपाहुड ग्रंथ सूत्र ही हैं।"

इन सूत्रग्रंथों के स्वाध्याय का अधिकार मुनि और आर्यिकाओं को ही है। जैसा कि ऊपर मूलाचार का प्रमाण उद्धृत किया गया है तथा सुलोचना आर्यिका का उदाहरण भी है—"वह सुलोचना आर्यिका भी ग्यारह अंग के ज्ञान को धारण करने वाली हो गई थी।"

क्षुल्लक, ऐलक, श्रावक आदि को सिद्धांत ग्रंथ पढ़ने का अधिकार नहीं है। यथा—

"दिन में प्रतिमायोग धारण करना—दिन में नग्न होकर कायोत्सर्ग करना, वीरचर्या—मुनि के समान गोचरी करना, त्रिकालयोग—गर्मी में पर्वत के शिखर पर, बरसात में वृक्ष के नीचे और सर्दी में नदी के किनारे ध्यान करना, सिद्धान्त ग्रंथों का अध्ययन और रहस्य—प्रायश्चित्त ग्रंथों का अध्ययन, इतने कार्यों में देशविरत (क्षुल्लक-ऐलक पर्यंत) श्रावकों को अधिकार नहीं है।"

"कुछ क्षण अर्थात् अधिक से अधिक चार घड़ी प्रमाण जो मध्यरात्रि का काल स्वाध्याय के लिए अयोग्य है उतने कालमात्र (डेढ़ घंटे मात्र) योगनिद्रा से श्रम दूर करके—शरीर को विश्रांति देकर साधु जागृत हो जाते हैं और अपररात्रिक स्वाध्याय प्रारंभ कर देते हैं। विधिवत् स्वाध्याय करके सूर्योदय होने के दो घड़ी पहले विसर्जित कर देते हैं।" पुनः बाहर निकलकर प्रासुक प्रदेश में खड़े होकर दिग्दाह, उल्कापात, मेघ गर्जनादि, अकाल से रहित देखकर पूर्वाण्ह स्वाध्याय हेतु दिक्शुद्धि करते हैं अर्थात् पूर्व दिशा में मुख करके कायोत्सर्ग मुद्रा से 27 उच्छ्वासों में 9 बार जाप्य करते हैं पुनः इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा की शुद्धि करते हैं।

3.3 प्रतिक्रमण क्रिया–

अनंतर वे साधु पश्चिम रात्रि में रात्रिक प्रतिक्रमण करते हैं। उस समय आचार्य के पास सभी साधु विनय से बैठकर "जीवे प्रमादजनिताः" इत्यादि पाठ बोलते हुए करते हैं। इसमें सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, वीरभक्ति और चतुर्विंशति भक्ति ऐसे चार भक्तियाँ होती हैं। वीरभक्ति के प्रारंभ में 54 उच्छ्वास में 18 बार णमोकार मंत्र का जाप किया जाता है।

रात्रियोग निष्ठापना—पुनः रात्रियोग निष्ठापना करते हैं अर्थात् सायंकाल प्रतिक्रमण के बाद जो रात्रियोग ग्रहण किया था (मैं आज रात्रि में इसी वसतिका में निवास करूँगा) इस रात्रियोग का योगभक्ति द्वारा विसर्जन कर देते हैं।" उसकी विधि यह है कि विधिवत् कायोत्सर्ग करके योगभक्ति पढ़ते हैं। पुनः सभी साधु लघु आचार्य भक्ति के द्वारा आचार्यभक्ति पढ़कर आचार्य वंदना करते हैं। यदि आचार्य प्रत्यक्ष में नहीं हैं तो परोक्ष में ही वंदना करते हैं।

इतने में रात्रि की शेष रही दो घड़ी (48 मिनट) का काल व्यतीत हो जाता है। पुनः सूर्योदय के समय साधु देववंदना अर्थात् सामायिक क्रिया को विधिवत् करते हैं।

3.4 देववंदना प्रयोग विधि-

त्रिकाल देववंदना—सामायिक करने में चैत्यभक्ति और पंचगुरु भक्ति इन दो भक्तियों का विधिवत् प्रयोग किया जाता है। पुनः सर्वदोष विशुद्धि के लिए प्रिय भक्ति—समाधिभक्ति पढ़ी जाती है।

इस देववंदना में कृतिकर्म के छः भेद होते हैं—

स्वाधीनता, त्रिःपरीति, त्रयीनिषद्या, त्रिबार कायोत्सर्ग, द्वादश आवर्त और चार शिरोनति इस प्रकार कृतिकर्मरूप वंदना के छह कृति अथवा अंग हैं।"

सिद्धांतग्रंथ में भी कहा है—

आदाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्तं तिऊणदं चदुस्सिरं वारसावत्तं चेदि।"

1. वंदना करने वाले की स्वाधीनता 2. तीन प्रदक्षिणा 3. तीन भक्ति संबंधी तीन कायोत्सर्ग 4. तीन निषद्या—ईर्यापथ कायोत्सर्ग के अनंतर बैठकर आलोचना करना और चैत्यभक्ति संबंधी विज्ञापन करना, चैत्यभक्ति के अन्त में बैठकर आलोचना करना और पंचमहागुरुभक्ति संबंधी क्रिया विज्ञापन करना, पंचमहागुरुभक्ति के अंत में बैठकर आलोचना करना, 5. चार शिरोनति और 6. बारह आवर्त। यही सब आगे किया जाता है।

"जिणसिद्धाइरियबहुसुदेसु वंदिज्जमाणेसु जं कीरइ कम्मं तं किदियम्मं णाम। तस्स आदाहीण-तिक्खुत्त-पदाहिण-तिओणद-चदुसिर-वारसावत्तादिलक्खणं विहाणं फलं च किदियम्मं वण्णेदि।"

जिन, सिद्ध, आचार्य और बहुश्रुत की वंदना करने में जो क्रिया की जाती है, उसे कृतिकर्म कहते हैं। उस कृतिकर्म के आत्माधीनता, तीन बार प्रदक्षिणा, तीन अवनति, चार नमस्कार और बारह आवर्त आदि रूप लक्षण, भेद तथा फल का वर्णन कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है। पराधीन जीव हमेशा ही दीन बना रहता है अतः चैत्यवंदना आदि कार्यों में स्वाधीनता अवश्य चाहिए। "श्रुतज्ञानरूपी" चक्षु से अपनी आत्मा में चिच्चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा को देखते हुए जिनालय में जाकर द्रव्यादि की शुद्धि से शुद्ध हुए साधु "निःसही निःसही निःसही" इस प्रकार उच्चारण करते हुए मंदिर के भीतर प्रवेश करके जिनप्रतिमा के मुखचन्द्र का अवलोकन कर अत्यन्त प्रसन्न होते हुए भगवान को तीन बार नमस्कार करते हैं पुनः चैत्यालय की तीन प्रदक्षिणा देते हैं। इसके बाद "अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य" अथवा "दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि" स्तोत्र को पढ़कर वंदना मुद्रा के द्वारा "पडिक्कमामि भंत्ते! इरियावहियाए" इत्यादि ईर्यापथशुद्धि पाठ बोलते हैं पुनः कायोत्सर्ग करके पंचांग नमस्कार करके "ईर्यापथे प्रचलिताद्य मया प्रमादा"—इत्यादि आलोचना करके यदि धर्माचार्य हैं तो उनके निकट अन्यथा भगवान के समक्ष पंचांग नमस्कार करके कर्तव्य कर्म को स्वीकार करते हैं अर्थात् 'नमोस्तु भगवन्! देववंदनां करिष्यामि'—जय हे भगवन्! नमस्कार हो, अब मैं देववंदना करूँगा। इस प्रकार कर्तव्य की प्रतिज्ञा करके पर्यंकासन से बैठकर "सिद्धं सम्पूर्णभव्यार्थं" इत्यादि से प्रारंभ कर "खम्मामि सव्वजीवाणं" इत्यादि सूत्रपाठों द्वारा साम्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं पुनः वंदना क्रिया का विज्ञापन करते हैं अर्थात् "पौर्वाण्हिकदेववंदनायां पूर्वा.....चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसा बोलकर विज्ञापना करके खड़े होकर भूमिस्पर्शनात्मक पंचांग नमस्कार करते हैं। पश्चात् चार अंगुल प्रमाण पैरों में अन्तर रखकर खड़े होकर मुक्ताशुक्तिमुद्रा बनाकर तीन आवर्त और शिरोनति करके "णमो अरिहंताणं" इत्यादि सामायिक दंडक का पाठ करके तीन आवर्त और एक शिरोनति करके जिनमुद्रा से कायोत्सर्ग (9 बार णमोकार मंत्र का जाप 27 उच्छ्वास में) करते हैं। पुनः पंचांग नमस्कार करके खड़े होकर पूर्ववत् मुक्ताशुक्ति मुद्रा से तीन आवर्त एक शिरोनति करके "थोस्सामि हं जिणवरे" इत्यादि चतुर्विंशतिस्तव पढ़कर तीन आवर्त एक शिरोनति करते हैं। पश्चात् वंदना मुद्रा बनाकर "जयति भगवान् हेमांभोज" इत्यादि चैत्यभक्ति बोलते हुए जिनेन्द्र भगवान की तीन प्रदक्षिणा दे देते हैं। पुनः बैठकर "इच्छामि भंत्ते! चेइयभत्ति.....आदि चैत्यभक्ति की आलोचना करते हैं। अनन्तर "पौर्वाण्हिक देववंदनायां पंचमहागुरुभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसी विज्ञापना करके उठकर पंचांग नमस्कार करके पूर्ववत् सामायिक दंडक, कायोत्सर्ग, थोस्सामि स्तव पढ़कर वन्दना मुद्रा से "प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः। "शास्त्राभ्यासो" इत्यादि लघुसमाधिभक्ति पढ़कर बैठकर "इच्छामि भंत्ते! समाहिभत्ति" इत्यादि आलोचना करते हैं। अनन्तर यथावकाश आत्मध्यान करते हैं।

पुनः सभी साधु मिलकर लघु सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति द्वारा आचार्य की वंदना करते हैं। कहा भी है—"प्रातःकाल देववंदनारूप प्राभातिक अनुष्ठान के अनन्तर साधुजन विधिवत् आचार्य आदि की वंदना करते हैं। मध्यान्हकाल में देववंदना के बाद करते हैं और सायंकाल में प्रतिक्रमण के बाद करते हैं। यह त्रिकाल गुरुवंदना है।

गुरुवंदना की विधि यह है—"मुनि गवासन से बैठकर लघु सिद्धभक्ति और लघु आचार्यभक्तिपूर्वक आचार्य की वंदना करते

हैं। यदि आचार्य सिद्धान्त पारंगत हैं तो लघु सिद्ध, श्रुत, आचार्य इन तीन भक्ति को बोलकर वंदना करते हैं। अपने से दीक्षा में बड़े सामान्य साधु की लघु सिद्धभक्ति बोलकर और सिद्धान्तविद् साधु की लघु सिद्ध, लघु श्रुतभक्तिपूर्वक वंदना करते हैं।"

प्रयोग विधि–

"अथ आचार्यवन्दनायां पूर्वा.....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं"। ऐसी प्रतिज्ञा करके विधिवत् कायोत्सर्ग करके "तवसिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि लघु सिद्धभक्ति पढ़ते हैं पुनः "अथ आचार्यवंदनायां पूर्वा.....आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसी प्रतिज्ञा करके कायोत्सर्ग करके "श्रुतजलधिपारगेभ्यः" इत्यादि लघु आचार्य भक्ति पढ़ते हैं।

देववंदना में कम से कम दो घड़ी काल का विधान है इसलिए सूर्योदय से दो घड़ी काल समाप्त हो जाता है।

पूर्वाण्ह स्वाध्याय–

सूर्योदय से दो घड़ी बाद पौर्वाण्हिक स्वाध्याय हेतु विधिवत् श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करके स्वाध्याय प्रारंभ करते हैं और मध्यान्ह के दो घड़ी पहले-पहले लघु श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय विसर्जित कर देते हैं।

पुनः अपराण्हिक स्वाध्याय हेतु दिक्शुद्धि करते हैं अर्थात् चारों दिशाओं में 7-7 बार णमोकार मंत्र उच्छ्वासपूर्वक जपते हैं।

मध्यान्ह देववंदना—पुनः प्रातःकालीन देववंदना के समान विधिवत् माध्यान्हिक देववंदना करके लघु सिद्धभक्ति लघु आचार्यभक्तिपूर्वक गुरु—आचार्य की वंदना करते हैं।

अनंतर यदि उस दिन उपवास है तो मुनि उस दो घड़ी के अस्वाध्याय काल में जाप्य व ध्यानादि करते हैं और यदि उपवास नहीं है तो वे गुरु वंदना के अनंतर ही आचार्यश्री के पीछे आहार के लिए निकलते हैं।

3.5 आहारचर्या–

उस समय साधु बायें हाथ में पिच्छी और कमण्डलु को लेकर दाहिने हाथ की मुद्रा को कंधे पर रखकर आहारमुद्रा में निकलते हैं। तब श्रावक उन्हें विधिवत् पड़गाहन कर घर में ले जाकर नवधाभक्तिपूर्वक आहार देते हैं।

पड़गाहन करना, उच्चस्थान देना, पादप्रक्षालन करना, अष्टद्रव्य से पूजन करना, नमस्कार करना, मन शुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि तथा भोजनशुद्धि करना ये नवधाभक्ति कहलाती हैं। दान देने वाले दातार श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विवेक, निर्लोभता, क्षमा और सत्त्व इन सात गुणों से सहित होते हैं।

नवधाभक्ति पूर्ण हो जाने पर जब श्रावक मुनि से आहार ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करते हैं तब वे मुनि अपने खड़े होने की जगह और दातार के खड़े होने की जगह को ठीक से देख लेते हैं कि कोई विकलत्रय आदि जीव जंतु तो नहीं है। पुनः शुद्ध गरम प्रासुक जल से श्रावक द्वारा हाथ धुलाये जाने पर वे "पूर्व दिन के ग्रहण किये गये प्रत्याख्यान या उपवास की सिद्धभक्तिपूर्वक निष्ठापना करके आहार शुरू करते हैं।" अन्यत्र भी कहा है—"जिस घर के योग्य दाता ने प्रतिग्रह और प्रणाम करके ठहराया है उसके घर में.....दाता के द्वारा दिये गये अपने योग्य उचित आसन पर बैठ जाते हैं। दातार के द्वारा पादप्रक्षालन आदि क्रियाओं के होने के बाद, उनके द्वारा प्रार्थना की जाने पर साधु सिद्धभक्ति करके प्रत्याख्यान का निष्ठापन करते हैं और समचतुरंगुल पाद से (पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर) खड़े होकर नाभि से ऊपर हाथ रखते हुए करपात्र में दातार द्वारा प्रदत्त आहार ग्रहण करते हैं। आहार करते समय उनके दोनों हाथ के पुट (अंजुलि) बंधे—मिले रहते हैं—अलग नहीं होते हैं। वे विकार—मुख बिगाड़ना, अरुचि या ग्लानि आदि न करते हुए, अति शीघ्रता न करते हुए और हुँकार आदि शब्द न करते हुए आहार लेते हैं। खड़े होकर आहार ग्रहण करने में हेतु यही है कि "जब तक मुझमें खड़े होने की शक्ति है और जब तक मेरे दोनों हाथ मिल सकते हैं तभी तक मैं भोजन करूँगा अन्यथा आहार का त्याग कर दूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा होती है।"

3.6 प्रत्याख्यान ग्रहण विधि–

पुनः भोजन के अनन्तर शीघ्र ही लघु सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण कर लेते हैं। यथा—"भोजन के अनन्तर तत्क्षण ही साधु लघु सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेवे। यह विधि वहीं चौके में आचार्य के असान्निध्य में ही होती है। अनन्तर आचार्य के पास आकर लघु योगिभक्ति और लघु सिद्धभक्ति बोलकर पुनः गुरु के पास प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण करके लघु आचार्यभक्ति द्वारा आचार्य की वंदना करते हैं।"

शंका—शीघ्र ही वहीं पर साधु प्रत्याख्यान क्यों ग्रहण कर लेते हैं ?

समाधान—यदि कदाचित् गुरु के पास आते हुए मार्ग में मरण भी हो जाए तो वह प्रत्याख्यानपूर्वक होगा, यह हेतु है।

प्रत्याख्यान करने के बाद साधु आहार संबंधी दोषों का विशोधन करते हैं उसे गोचर प्रतिक्रमण कहते हैं।

"आहार के लिए साधु यदि निकल चुके हैं और कारणवश किसी ने पड़गाहन नहीं किया या और कुछ कारण से वे वापस अपनी वसतिका में आते हैं तो पुनः उस दिन वे आहार के लिए नहीं जाते हैं—उपवास ही करते हैं।"

तात्पर्य यह है कि साधु देववंदना (सामायिक) और गुरुवंदना करके आहारार्थ जाकर नवधाभक्ति के बाद प्रत्याख्यान की निष्ठापना करते हैं। उसकी विधि—

"अथ प्रत्याख्याननिष्ठापनक्रियायां .....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" पुनः नौ बार णमोकार मंत्र जपकर लघु सिद्धभक्ति पढ़कर आहार शुरू करते हैं। आहार पूर्ण हो जाने पर मुखशुद्धि करके शीघ्र ही—

"अथ प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापनक्रियायां.....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसा बोलकर 9 बार जाप्य करके लघु सिद्धभक्ति पढ़ते हैं, पुनः श्रावक उन्हें पिच्छी समर्पित कर देते हैं। वे वहाँ से आकर आचार्यदेव के सान्निध्य में गवासन से बैठकर पुनः विधिवत् प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं—

"अथ प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापनक्रियायां.....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" (9 बार जाप्य) लघुसिद्ध भक्ति करके "अथ प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापनक्रियायां.....योगभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" (9बार जाप्य) लघु योगभक्ति पढ़कर "अथ आचार्यवंदनायां आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" (9 बार जाप्य) लघु आचार्य भक्ति पढ़कर आचार्य की वंदना करके आहार के लिए जाकर वापस आने तक या आहार में जो कोई बात हुई हो, उसको गुरु के सामने निवेदन कर देते हैं।

3.7 अपराण्हिक स्वाध्याय—

अनन्तर अपराण्हिक स्वाध्याय हेतु विधिवत् श्रुतभक्ति, आचार्य भक्ति करके स्वाध्याय प्रारंभ कर देते हैं। पढ़ना, पढ़ाना, प्रश्न करना—चर्चा करना, पढ़े हुए का चिंतन करना, घोकना—पाठ याद करना या धर्मोपदेश देना आदि सभी स्वाध्याय के अन्तर्गत हैं। पुनः सूर्यास्त से दो घड़ी पहले ही लघु श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय विसर्जित करके पूर्वरात्रिक स्वाध्याय हेतु दिक्शुद्धि करने के लिए चारों दिशाओं में 5-5 बार णमोकार मंत्र उच्छ्वास सहित जपते हैं।

दैवसिक प्रतिक्रमण—अनंतर सब साधु गुरु के पास बैठकर—"जीवे प्रमादजनिताः" इत्यादि रूप दैवसिक प्रतिक्रमण करते हैं। पुनरपि योगभक्तिपूर्वक 'रात्रियोग' ग्रहण करके गवासन से बैठकर लघुसिद्ध भक्ति, लघु आचार्य भक्ति बोलकर आचार्य की वंदना करते हैं।

रात्रियोग प्रतिष्ठापना की प्रयोग विधि—"अथ रात्रियोगप्रतिष्ठापनायां..... योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" विधिवत् सामायिकदंडक, 9 जाप्य और थोस्सामि स्तवन करके "जातिजरोरुरोग....." इत्यादि अथवा "प्रावृट्काले" इत्यादि योगभक्ति का पाठ करते हैं।

अपराण्हिक वंदना—ये क्रियाएँ सूर्यास्त तक दो घड़ी में समाप्त हो जाती हैं। तब साधु सूर्यास्त के समय विधिवत् "अपराण्हिक देववंदना" करते हैं।

पूर्वरात्रिक स्वाध्याय—अनंतर दो घड़ी बाद स्वाध्याय काल में विधिवत् "पूर्वरात्रिक" स्वाध्याय प्रारंभ कर देते हैं जो कि (अधिक से अधिक) मध्यरात्रि के दो घड़ी पहले तक करते हैं। पुनः स्वाध्याय विसर्जन करके मध्यरात्रि के पहले की दो घड़ी और पश्चात् की दो घड़ी ऐसे चार घड़ी (डेढ़ घंटे) तक अस्वाध्याय काल में शरीर के श्रम को दूर करने के लिए निद्रा लेते हैं। इस प्रकार से साधुओं की यह अहोरात्रिक चर्या आगम के आधार से कही गई है।

स्वाध्याय करने का आसन–

पर्यंकासन, पद्मासन अथवा वीरासन से बैठकर पिच्छिका सहित अंजुलि जोड़कर अपने वक्षस्थल के समीप रखकर नमस्कार करके विनयपूर्वक एकाग्रमना होकर साधु स्वाध्याय करते हैं और यदि खड़े होकर (पूर्वोक्त विधि से) वंदना करने में शक्तिहीन होते हैं तो वे इसी तरह बैठकर अंजुली जोड़कर वंदना करते हैं अर्थात् पूर्व में जो देववंदना में खड़े होकर ही चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति पढ़ते हुए वंदना करने का विधान बताया है तो यदि खड़े होकर वंदना करने की शक्ति नहीं है तो साधु पर्यंकासन आदि आसन से बैठकर ही वंदना करते हैं।

3.8 नैमित्तिक क्रियाएँ—

चतुर्दशी क्रिया—चतुर्दशी के दिन त्रिकाल देववंदना में चैत्यभक्ति करके श्रुतभक्ति की जाती है, पुनः पंचगुरु भक्ति होती है अथवा चैत्यभक्ति के पहले सिद्धभक्ति पुनः चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति ऐसे वंदना में पाँच भक्तियाँ भी की जाती हैं। यदि कदाचित् किसी धर्म व्यासंग—किसी की सल्लेखना आदि के प्रसंग में वैयावृत्ति आदि की बहुलता से, धर्मप्रभावना आदि विशेष कार्यों के निमित्त से चतुर्दशी की क्रिया न हो सके तो अमावस्या या पूर्णिमा को पाक्षिक क्रिया की जाती है। सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति को 'पाक्षिकी क्रिया' कहते हैं।

अष्टमी क्रिया—सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति इन चार भक्तियों द्वारा अष्टमी क्रिया होती है। इसमें चारित्र भक्ति को सालोचना करना होता है तब 'पाक्षिक-प्रतिक्रमण' में "इच्छामि भंत्ते! अट्ठमियम्मि आलोचेउं" इत्यादि पाठ प्रारंभ करके "जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झं" तक बोला जाता है अथवा त्रिलोक देववंदना में यह क्रिया करने पर चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति ये दो भक्तियाँ करनी होती हैं अथवा चतुर्दशी और अष्टमी दोनों दिन की क्रियाएँ सामायिक में करने की भी परम्परा देखी जाती है।

सिद्धवंदना क्रिया—सिद्ध प्रतिमा की वंदना करते समय साधु एक सिद्धभक्ति ही करते हैं।

जिनवंदना क्रिया—जिनप्रतिमा की वंदना में सिद्ध, चारित्र और शांतिभक्ति करते हैं।

अपूर्व चैत्यवंदनादि क्रिया—अष्टमी आदि क्रियाओं के समय में ही अपूर्व चैत्यवंदना और त्रैकालिक नित्यवंदना का संयोग आकर उपस्थित हो जाता है तो साधु सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करते हैं।

पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रिया—पाक्षिक प्रतिक्रमण प्रत्येक मास की चतुर्दशी, पूर्णिमा या अमावस्या को करते हैं। इसमें पहले विधिवत्—लघु सिद्ध, श्रुत, आचार्यभक्तिपूर्वक आचार्य की वंदना करके सभी साधुगण आचार्य के साथ सिद्धभक्ति और चारित्रभक्ति पढ़कर "इच्छामि भंत्ते! पक्खियम्मि" इत्यादि आलोचना पढ़ते हैं, पुनः भगवान के सामने अकेले आचार्य लघुसिद्धभक्ति, आलोचना सहित लघु योगभक्ति करके अपने दोषों की आलोचना करके प्रायश्चित्त लेते हैं। अनन्तर सभी शिष्य साधुगण पूर्वोक्त लघु सिद्धभक्ति, सालोचना योगभक्ति करके आचार्यभक्ति पढ़कर आचार्य वंदना करके, आचार्य से पन्द्रह दिन के अतिचारों का प्रायश्चित्त मांगते हैं। आचार्यवर्य शिष्यों को यथोचित प्रायश्चित्त (रस परित्याग-जाप्य-उपवासादि) देते हैं।

अनन्तर आचार्य सभी शिष्यों के साथ प्रतिक्रमण भक्ति का कायोत्सर्ग तक क्रिया करते हैं, पुनः केवल आचार्य 'थोस्सामि' से लेकर वीरभक्ति की प्रतिज्ञा तक प्रतिक्रमण दंडकों का उच्चारण करते हैं—पढ़ते हैं और सभी शिष्य बैठे हुए एकाग्रमना सुनते रहते हैं। अनन्तर सभी साधु "थोस्सामि" इत्यादि दंडक पढ़कर आचार्य के साथ आगे की भक्तियाँ

बोलते हैं। जिसमें वीरभक्ति, चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्ति, चारित्रालोचनाचार्यभक्ति, वृहदालोचनाचार्यभक्ति और लघीयस्याचार्यभक्ति की जाती है। पाक्षिक प्रतिक्रमण में वीरभक्ति के समय 300 उच्छ्वासों में कायोत्सर्ग किया जाता है। सम्पूर्ण विधि पूर्ण हो जाने पर सभी साधु विधिवत् तीन भक्तिपूर्वक आचार्य की वंदना करते हैं।

चातुर्मासिक प्रतिक्रमण—यह प्रतिक्रमण कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को तथा फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को चार-चार माह के अन्तराल से किया जाता है। इसमें यही पाक्षिक प्रतिक्रमण करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि "सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं चातुर्मासिकप्रतिक्रमणक्रियायां" पाठ सर्वत्र बोला जाता है और वीरभक्ति में 400 उच्छ्वासों में कायोत्सर्ग किया जाता है।

वार्षिक प्रतिक्रमण—आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को वार्षिक प्रतिक्रमण क्रिया जाता है। इस प्रतिक्रमण में 'सांवत्सरिकप्रतिक्रमणक्रियायां' पाठ सर्वत्र बोला जाता है और वीरभक्ति में 500 उच्छ्वासों द्वारा कायोत्सर्ग किया जाता है।

पुनः व्रतारोपण आदि विषयक चार प्रतिक्रमणों में वृहदाचार्य भक्ति और मध्यमाचार्य भक्ति के अतिरिक्त पाक्षिक प्रतिक्रमण की ही सारी विधि की जाती है।"

श्रुतपंचमी क्रिया—श्रुतपंचमी (ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी) के दिन साधुगण विधिवत् वृहत्सिद्ध भक्ति और वृहद् श्रुतभक्ति करके श्रुतस्कंध की प्रतिष्ठापना करके श्रुतावतार के उपदेश को स्वीकार करके वृहत्श्रुतभक्ति और वृहत् आचार्यभक्ति पढ़कर स्वाध्याय प्रारंभ करते हैं, पुनः वृहत् श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय की समाप्ति करके शांतिभक्ति का पाठ करते हैं, पुनः श्रावक स्वाध्याय को ग्रहण नहीं करते हैं तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति करते हैं।

सिद्धांतवाचना और आचारवाचना में यही विधि होती है अर्थात् वृहत्सिद्धभक्ति और वृहत् श्रुतभक्ति पढ़कर सिद्धान्तवाचना की प्रतिष्ठापना करके वृहत् श्रुत और वृहदाचार्य भक्तिपूर्वक स्वाध्याय स्वीकार कर उपदेश देते हैं। पुनः श्रुतभक्ति के द्वारा स्वाध्याय समाप्त कर अन्त में शांतिभक्ति बोलकर क्रिया समाप्त करते हैं। वृद्ध व्यवहार के अनुसार आचारवाचना में भी यही विधि की जाती है।

साधुगण सिद्धान्त के प्रत्येक अर्थाधिकार के अंत में कायोत्सर्ग करते हैं तथा प्रत्येक अर्थाधिकार के अंत में और आदि में सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करते हैं। वाचना के दिन में भी यही क्रिया करते हैं। जहाँ वाचना की गई है उस स्थान पर दूसरे-तीसरे या अधिक दिन आदि भक्ति प्रगट करने के लिए छह-छह कायोत्सर्ग करते हैं। यह क्रिया सिद्धान्त और उसके अर्थाधिकार के प्रति उत्तम बहुमान प्रदर्शित करने के लिए कही गई है अतएव यह क्रिया अपनी शक्ति के अनुसार करनी चाहिए।

संन्यास प्रारंभ की क्रिया—वृहत्सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति बोलकर संन्यास की प्रतिष्ठापना (ग्रहण) करते हैं तथा संन्यास के आदि और अन्त के दिनों को छोड़कर मध्य के दिनों में वृहत्सिद्धभक्ति, वृहदाचार्यभक्ति के द्वारा स्वाध्याय करके वृहत् श्रुतभक्ति के द्वारा उसका निष्ठापन करते हैं। अन्त में क्षपक-साधु के संन्यास के अंत में क्षपक का अंत हो जाने पर सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति करके शांतिभक्तिपूर्वक संन्यास की निष्ठापना कर देते हैं।"

तथा रात्रियोग या वर्षायोग आदि अन्यत्र ग्रहण कर चुके हैं तो भी परिचारक साधु पहले दिन स्वाध्याय की प्रतिष्ठापना करके उस संन्यास वसति में ही सोवें, ऐसा कथन है।

जो स्वाध्याय को ग्रहण नहीं करने वाले श्रावक हैं, वे संन्यास ग्रहण के प्रथम दिन और अंतिम दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति करते हैं।

नंदीश्वर क्रिया—"आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन महीने में अष्टमी से लेकर पूर्णमासी पर्यन्त प्रतिदिन साधुगण आचार्य के साथ मध्यान्ह में पौर्वाण्हिक स्वाध्याय को समाप्त करके सिद्धभक्ति, नंदीश्वरभक्ति, पंचगुरुभक्ति और

शांतिभक्ति के द्वारा आष्टान्हिक क्रिया करते हैं।" नंदीश्वरभक्ति करते हुए तीन प्रदक्षिणा भी करने का विधान है।"

अभिषेक वंदना क्रिया—जिनेन्द्रदेव के महाभिषेक दिवस सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करके वंदना करते हैं।

मंगलगोचर मध्यान्ह वंदना—"वर्षायोग ग्रहण और विसर्जन के प्रसंग में मंगलगोचर मध्यान्ह वंदना होती है अर्थात् आषाढ़ सुदी तेरस के दिन साधु मंगलार्थ गोचरी करने के पहले मध्यान्ह में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करके मध्यान्ह वंदना करते हैं। इसे ही मंगलगोचर मध्यान्ह वंदना कहते हैं।"

मंगलगोचर प्रत्याख्यान—पुनः आहार ग्रहण करके आकर आचार्य आदि सभी साधु मिलकर वृहत्सिद्धभक्ति, वृहत्योगभक्ति करके गुरु से भक्त प्रत्याख्यान—उपवास ग्रहण करके वृहत् आचार्यभक्ति द्वारा आचार्य की वंदना करके शांतिभक्ति करते हैं। यही विधि कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को भी करते हैं। चूँकि वर्षायोग ग्रहण करने के लिए आषाढ़ सुदी चौदश का उपवास करते हैं और वर्षायोग निष्ठापना करने के लिए कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी का उपवास करते हैं।

3.9 वर्षायोग प्रतिष्ठापन क्रिया—

"प्रत्याख्यान प्रयोगविधि के अनंतर—त्रयोदशी को मंगलगोचर प्रत्याख्यान ग्रहण करने के बाद आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्वरात्रि में साधु वर्षायोग प्रतिष्ठापन करते हैं।" आचार्य आदि सभी साधु मिलकर सिद्धभक्ति और योगभक्ति करके "यावंति जिनचैत्यानि" इत्यादि श्लोक बोलकर वृषभजिन और अजितजिन की स्तुति (स्वयंभुवा भूतहितेन इत्यादि स्वयंभू स्तोत्र की) बोलकर अंचलिका सहित "वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु" इत्यादि चैत्यभक्ति करके पूर्वदिक् चैत्यालय की वंदना करते हैं। ऐसे ही "यावंति जिनचैत्यानि" पुनः बोलकर संभवजिन और अभिनंदनजिन की "त्वं संभवः' इत्यादि स्तुति पढ़कर अंचलिका सहित 'वर्षेषु' इत्यादि चैत्यभक्ति पढ़कर दक्षिणदिक् चैत्यालय की वंदना करते हैं। इसी तरह 'सुमति पद्मप्रभजिन' की स्तुतिपूर्वक चैत्यभक्ति करके पश्चिमदिक् और सुपार्श्व-चन्द्रप्रभ जिन की स्तुतिपूर्वक चैत्यभक्ति करके उत्तर चैत्यालय की वंदना करते हैं। साधु भाव से ही चारों दिशाओं की प्रदक्षिणा करते हैं और "वहाँ पर बैठे हुए लोग ही चारों दिशाओं में योगतंदुल—पीताक्षत प्रक्षेपण करते हैं, ऐसी परम्परा है।" पुनः साधु पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करते हैं। इस विधि से वर्षायोग ग्रहण करके (उस ग्राम के चारों तरफ कुछ मीलों की सीमा निश्चित करके) विधि समाप्त करते हैं।

वर्षायोग समापन विधि—'कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में सभी साधु पूर्वोक्त विधि से वर्षायोग निष्ठापन कर देते हैं।" अन्तर केवल इतना ही है कि वर्षायोग ग्रहण विधि में—

"अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां.....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।" बोलते हैं और वर्षायोगसमापन में "अथ वर्षायोगनिष्ठापनक्रियायां.....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।" बोलते हैं। बाकी सारी विधि वही की जाती है।

वर्षायोग काल की व्यवस्था—

"वर्षायोग के सिवाय दूसरे समय—हेमंत ऋतु आदि में भी श्रमण संघ को किसी भी एक स्थान या नगर में एक महीने तक निवास करना चाहिए तथा वर्षायोग के लिए जहाँ जाना है वहाँ आषाढ़ में पहुँच जाना चाहिए और मगसिर महीना पूर्ण होने पर उस क्षेत्र को छोड़ देना चाहिए। यदि कोई विशेष प्रसंग आ जावे तो श्रावण कृष्णा चतुर्थी तक वर्षायोग स्थान पर पहुँच जाना चाहिए परन्तु इस स्थिति का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार वर्षायोगनिष्ठापना यद्यपि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में हो जाती है फिर भी कार्तिक शुक्ला पंचमी के पहले विहार नहीं करना चाहिए। श्रावण कृष्णा चतुर्थी के बाद और कार्तिक शुक्ला पंचमी के पहले वर्षायोग के काल में यदि कदाचित् दुर्निवार उपसर्ग आदि प्रसंगों से स्थान छोड़ना पड़े तो प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए।"

वीर निर्वाण क्रिया—"साधुगण कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में वर्षायोग निष्ठापन करके सूर्योदय के समय सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्तिपूर्वक वीर निर्वाण क्रिया करते हैं।"

इसकी प्रयोग विधि—

"अथ वीरनिर्वाणक्रियायां.....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" इत्यादि प्रकार से निर्वाण क्रिया करके साधु और श्रावक नित्यवंदना (सामायिक) करते हैं।

3.10 पंचकल्याणक क्रिया—

तीर्थंकर भगवान का गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक जब हो तब साधु और श्रावक सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर क्रिया करते हैं। निष्काम कल्याणक में सिद्ध, चारित्र, योग और शांतिभक्ति करते हैं। केवलज्ञान कल्याणक में सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग और शांतिभक्ति तथा निर्वाणकल्याणक में सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग, निर्वाण और शांतिभक्ति करते हैं।

"निर्वाणकल्याणक क्रिया में निर्वाण भक्ति पढ़ते समय तीन प्रदक्षिणा भी दी जाती है।"

प्रयोग विधि—

"अथ वृषभदेवजिनगर्भकल्याणकक्रियायां..... सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।"

ऐसे ही सर्वत्र समझना।

तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाणकल्याणक से पवित्र क्षेत्रों की वंदना में भी उपर्युक्त भक्तिपाठ बोलकर वंदना करते हैं। यथा—

"अथ पार्श्वनाथजिननिर्वाणकल्याणकनिषद्यावंदनायां..... सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" इत्यादि।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर गर्भ, जन्म आदि कल्याणकों के अवसर में भी उपर्युक्त विधि से भक्तिपाठ करते हुए वंदना करते हैं।

ऋषि के शरीर की और निषद्या की क्रिया—मुनि मरण को प्राप्त हो जायें तो उनके शरीर की वंदना करने में अथवा जहाँ पर उनका संस्कार किया जाता है, उसे निषेधिका या निषद्या कहते हैं। उसकी वंदना करने में भक्ति का विधान बताते हैं—

सामान्य साधु के शरीर की या निषद्या की वंदना में साधु सिद्धभक्ति, योगिभक्ति और शांतिभक्ति पढ़ते हैं, सिद्धान्तवेत्ता साधु के शरीर या निषद्या की वंदना में सिद्ध, श्रुत, योग और शांति ये चार भक्ति करते हैं। उत्तरगुणधारी साधु के शरीरादि की वंदना में सिद्ध, चारित्र, योग और शांतिभक्ति पढ़ते हैं। यदि ये सिद्धांतवेत्ता भी हैं तो सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग और शांतिभक्ति करते हैं। आचार्य के शरीर या निषद्या वंदना में सिद्ध, योग, आचार्य और शांतिभक्ति पढ़ते हैं। यदि आचार्य सिद्धांतवेत्ता हैं तो सिद्ध, श्रुत, योग, आचार्य और शांतिभक्ति से वंदना करते हैं और यदि आचार्य सिद्धांतवेत्ता और उत्तरगुणधारी भी हैं तो उनके शरीर या निषद्या की वंदना में सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगि, आचार्य और शांतिभक्ति पढ़कर वंदना करते हैं।

प्रयोग विधि—

"अथ आचार्यशांतिसागरशरीरवंदनायां.....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" इत्यादि। यह शरीर की वंदना तो साधु का समाधिमरण होने के बाद तत्क्षण ही की जाती है। अथवा उनकी निषद्या वंदना में—

"अथ आचार्यशांतिसागरनिषद्यावंदनायां.....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" इत्यादि।

जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा में वंदना क्रिया—स्थिर जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा अथवा चल जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा के समय सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर वंदना की जाती है।

जिन भगवान की चल प्रतिमा की प्रतिष्ठा के चतुर्थ दिन के अभिषेक के समय सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर वंदना की जाती है तथा स्थिरप्रतिमा की प्रतिष्ठा के चतुर्थ दिन के अभिषेक के समय सिद्धभक्ति,

चारित्रभक्ति, बृहदालोचना और शांतिभक्ति बोलकर वंदना की जाती है। यह क्रिया साधुओं के लिए है। पुनः जो स्वाध्याय को ग्रहण नहीं करने वाले श्रावक होते हैं वे चल एवं स्थिर जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा में उपर्युक्त ही भक्तियाँ पढ़ें किन्तु अभिषेक क्रिया में आलोचनारहित वे ही भक्तियाँ पढ़ें अर्थात् सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति करें, किन्तु चारित्रभक्ति में जो आलोचना है उसको नहीं पढ़ें।

केशलोच क्रिया—साधु अपने सिर और दाढ़ी-मूँछ के केशों को हाथ से उखाड़ते हैं इसी का नाम केशलोच है। यह उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेदरूप है।

दो महीने में किया गया लोच उत्कृष्ट है, तीन महीने में किया गया मध्यम और चार मास में किया गया जघन्य है। लोच के दिन उपवास करके साधु लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति करके मौनपूर्वक लोंच करते हैं और अन्त में लघु सिद्धभक्तिपूर्वक समाप्त कर देते हैं।

प्रयोग—

"अथ केशलोचप्रतिष्ठापनक्रियायां.....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।" इत्यादि समाप्ति में 'प्रतिष्ठापन' के स्थान पर 'निष्ठापन' शब्द बोलते हैं।

विशेष—सभी क्रियाओं के अंत में हीनाधिक दोष की विशुद्धि के लिए समाधिभक्ति अवश्य की जाती है। कहा भी है—

हीनाधिक दोष की विशुद्धि के लिए सर्वत्र—सभी क्रियाओं की समाप्ति में प्रियभक्ति—समाधिभक्ति पढ़ी जाती है।"

योगी की वंदना क्रिया—'प्रतिमायोगधारी सूर्य की तरफ मुख करके ध्यान करने वाले ऐसे साधु योगी कहलाते हैं। भले ही वे दीक्षा में अपने से लघु हों, फिर भी अन्य साधु उनकी वंदना करते हैं। उसमें सिद्धभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति द्वारा वंदना करते हैं।" योगभक्ति पढ़ते-पढ़ते उन योगी की तीन प्रदक्षिणा भी देते हैं।

3.11 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-निज आत्मस्वरूप में चित्त का स्थिर हो जाना इसका नाम.....है ?

(क) परिकर्म ☐ (ख) योग ☐ (ग) कृतिकर्म ☐

प्रश्न 2-स्वाध्याय के कितने काल हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) दो ☐ (ग) चार ☐

प्रश्न 3-जाने हुए तत्त्वों का बार-बार चिंतन करना कौन सा स्वाध्याय कहलाता है ?

(क) पृच्छना ☐ (ख) अनुप्रेक्षा ☐ (ग) आम्नाय ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-शुद्धि कितने प्रकार की होती है, नाम बताते हुए भावशुद्धि का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 2-भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव ने अकाल में पढ़ने योग (अस्वाध्याय काल में) ग्रंथ कौन-कौन से बताए हैं ?

प्रश्न 3-देववंदना में कृतिकर्म के कितने भेद होते हैं, नाम बताइए ?

प्रश्न 4-साधु के लिए स्वाध्याय करने के कौन-कौन से आसन बताए हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-साधु के करने योग्य नैमित्तिक क्रियाएँ कौन-कौन सी हैं, नामोल्लेख करते हुए किन्हीं आठ क्रियाओं का विस्तृत वर्णन कीजिए ?

पाठ-4 – संपूर्ण परिग्रह त्याग से ही मोक्ष संभव है

4.1 परिग्रहत्याग महाव्रत में पूर्णतया संपूर्ण परिग्रहों का त्याग हो जाता है तथा आचेलक्य नामक मूलगुण में वस्त्र का सर्वथा त्याग हो जाने से दिगम्बर मुनि ही अट्ठाईस मूलगुणों के धारक साधु होते हैं। 'इसी से स्त्रीमुक्ति का भी निषेध हो जाता है।'

आर्ष ग्रन्थ में "सम्मामिच्छाइट्ठिअसंजदसम्माइट्ठिसंजदासंजदसंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।" मनुष्यिनियां सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होती हैं।

यहाँ स्त्रियों के लिए जो संयत शब्द आया है, वह द्रव्य से पुरुषवेदी और भाव से स्त्रीवेद की अपेक्षा ही है। इसी संबंध में धवला टीका के आधार से निम्न प्रश्न-उत्तर प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

उपर्युक्त सूत्र की टीका में प्रश्नोत्तर में अच्छा समाधान किया है। यथा—

"**शंका**—इसी आर्षवचन से द्रव्यस्त्रियों की मुक्ति सिद्ध हो जायेगी ?'

समाधान—नहीं, क्योंकि वस्त्रसहित होने से उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका—वस्त्र सहित में भी स्त्रियों के भावसंयम में कोई विरोध नहीं है ?

समाधान—उनके भावसंयम नहीं है। अन्यथा—भावसंयम के मानने पर उनके भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्रादि का ग्रहण नहीं बन सकता है अर्थात् वस्त्रादि के रहते हुए भावसंयम असंभव है, चूँकि असंयम के बिना वस्त्रादि का ग्रहण हो नहीं सकता है।"

इस कथन से वस्त्र सहित पुरुष को भी भावसंयम असंभव होने से मुक्ति की बात ही बहुत दूर है।

शंका—पुनः स्त्रियों में चौदह गुणस्थान कैसे होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेदयुक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों के सद्भाव का अविरोध है।" अर्थात् द्रव्यपुरुष वेदी के भाव से स्त्रीवेद होने पर चौदहों गुणस्थान हो सकते हैं।

यही बात आगे सूत्र में कही है। यथा—"इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णि मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति। णवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति।।

स्त्रीवेद और पुरुषवेद वाले जीव असंज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं। नपुंसकवेद वाले जीव एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक पाये जाते हैं। यहाँ पर जो नवमें गुणस्थान तक ही तीनों वेद कहे हैं, सो वेद के अस्तित्व की अपेक्षा से कहे हैं क्योंकि नवमें गुणस्थान में ही इन वेदों का क्षय हो जाता है। यहाँ भाववेदों की अपेक्षा ही कथन है क्योंकि छठे गुणस्थान से लेकर आगे मनुष्य द्रव्य से पुरुष ही हैं। कारण, मनुष्यों में वेदों की विषमता पाई जाती है। यथा—

"पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेदकर्म के उदय से भाव में पुरुष, स्त्री, नपुंसक वेद होते हैं और नामकर्म के उदय से द्रव्य पुरुष, द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसक होते हैं। सो ये द्रव्यवेद और भाववेद प्रायः करके समान होते हैं परन्तु कहीं-कहीं विषम भी होते हैं' अर्थात् नामकर्म के अन्तर्गत अंगोपांग नामक नामकर्म के उदय से शरीर में द्रव्यवेद की रचना होती है और मोहनीय कर्म के अन्तर्गत वेदकर्मों के उदय से भाव वेद होते हैं। ये वेद देव और नारकी में समान होते हैं। जो द्रव्यवेद है, वही भाववेद रहता है किन्तु मनुष्य और तिर्यंचों में विषम भी होते हैं अर्थात् किसी मनुष्य के द्रव्यवेद पुरुष है और भाववेद स्त्री या नपुंसक भी रह सकता है, ऐसे ही स्त्री या नपुंसक में भी कोई द्रव्य से स्त्री है किन्तु भाव से पुरुष या नपुंसक वेद भी रह सकता है।

जो द्रव्य से पुरुषवेदी हैं और भाव से स्त्रीवेदी हैं उन्हीं के चौदह गुणस्थानों की बात है। वे ही मोक्ष जा सकते हैं क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व भी उन्हीं के ही होता है। यथा—मनुष्यिनियों में तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु ये पर्याप्त मनुष्यनी के ही होते हैं, अपर्याप्तक मनुष्यिनी के नहीं। यहाँ क्षायिक सम्यक्त्व भाववेद की अपेक्षा से ही है" अर्थात् यदि

तीनों में कोई भी सम्यग्दर्शन हो जाता है तो वह जीव मरकर भाव-स्त्रीवेद में भी नहीं जा सकता है द्रव्यस्त्रीवेद की तो बात बहुत दूर है किन्तु कोई कर्मभूमिज मनुष्य द्रव्य से पुरुष होकर भी यदि भाव से स्त्रीवेदी है तो क्षायिक सम्यक्त्व ग्रहण कर सकता है, द्रव्यस्त्रीवेदी नहीं।

द्रव्य से पुरुषवेदी ऐसे मुनि यदि भाव से स्त्री और नपुंसकवेदी हैं, तो भी क्षपकश्रेणी चढ़कर मोक्ष चले जाते हैं। यथा—

"पुरुषवेद के उदय सहित जीव के श्रेणी चढ़ने पर पुरुषवेद की बंधव्युच्छित्ति और उदयव्युच्छित्ति एक काल में होती है अथवा 'च' शब्द से बंध की व्युच्छित्ति उदय के द्विचरम समय में होती है और शेष—स्त्रीवेद तथा नपुंसक वेद के उदय सहित श्रेणी चढ़ने वाले जीव के पुरुषवेद की बंध व्युच्छित्ति उदय के द्विचरम समय में होती है।"

द्रव्यस्त्रीवेदी में "उत्तमसंहनन का अभाव होने से भी मुक्ति संभव नहीं है क्योंकि "उत्तम संहनन वाले पुरुष ही क्षपकश्रेणी पर चढ़कर शुक्ल ध्यान के द्वारा कर्मों का नाश कर सकते हैं" अन्य नहीं और "कर्मभूमि की महिलाओं के तीन हीन संहनन ही होते हैं उत्तम संहनन नहीं होते हैं" ऐसा आगम वाक्य है।"

भावस्त्रीवेदी या भाव नपुंसकवेदी मुनि के मन:पर्ययज्ञान, आहारक ऋद्धि और तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं हो सकता है यह विशेषता है।

यथा—स्त्रीवेद और नपुंसक वेद में केवलज्ञान, केवलदर्शन और मन:पर्यय इन तीन ज्ञान के बिना 9 उपयोग होते हैं। वेद तो नवमें गुणस्थान तक होता है और मन:पर्ययज्ञान छठे से हो जाता है अत: उसका निषेध ही हो गया तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में होने से वे अपगतवेदी को होते हैं इसलिए इनका भी निषेध किया गया है।

यथा—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में आहारकद्विक और अन्यतर दो वेद के बिना तिरेपन आस्रव होते हैं।

"तथा भावस्त्रीवेद और भावनपुंसकवेद में भी तीर्थंकर प्रकृति और आहारकद्विक के बंध का विरोध नहीं है उदय का ही विरोध है, क्योंकि उदय पुरुषवेद में ही निश्चित है।"

आर्षग्रन्थ में भी कहा है कि "स्त्रीवेदी प्रमत्तसंयत जीवों के आलाप कहने पर.....चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिककाययोग ये नव योग होते हैं किन्तु आहारक और आहारक मिश्रयोग नहीं होते...। मन:पर्ययज्ञान के बिना आदि के तीन ज्ञान, परिहारविशुद्धि संयम के बिना आदि के दो संयम होते हैं। यहाँ पर आहारकद्विक, मन:पर्ययज्ञान और परिहारविशुद्धि संयम के नहीं होने का कारण यह है कि आहारकद्विक, मन:पर्ययज्ञान और परिहारविशुद्धिसंयम के साथ स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय होने का विरोध है।"

अन्यत्र भी लिखा है कि—"पुरुष वेद का अनुभव करते हुए जो पुरुष क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए हैं। उसी प्रकार से शेष—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय से भी क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए ध्यान में उपयुक्त हैं वे सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् जो भावपुरुषवेद का अनुभव करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए हैं, केवल भावपुरुषवेद से नहीं अपितु भावस्त्रीवेद और भाव नपुंसकवेद से भी क्षपकश्रेणी पर चढ़कर शुक्लध्यान में उपयुक्त हैं वे द्रव्यपुरुष वेद वाले मनुष्य सिद्ध हो जाते हैं।"

निष्कर्ष यह निकलता है कि द्रव्य से पुरुषवेदी ही निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करके छठे आदि गुणस्थानों को प्राप्त करते हैं। वे चाहे भाव से स्त्रीवेदी हों या नपुंसकवेदी किन्तु द्रव्य से स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी जीव पंचम गुणस्थान से आगे नहीं जा सकते हैं और न वे दिगम्बर वेष ही धारण कर सकते हैं।

दिगम्बर भेष के बिना सोलह स्वर्ग के ऊपर गमन भी असंभव है—

"असंयत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत ऐसे मनुष्य और तिर्यंच उत्कृष्टता से अच्युतकल्प पर्यंत ही उत्पन्न होते हैं। जो द्रव्य से निर्ग्रंथ हैं और भाव से मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा देशसंयमी हैं वे अंतिम ग्रैवेयकपर्यंत उत्पन्न होते हैं, इससे ऊपर नहीं।

सम्यग्दृष्टि महाव्रती सर्वार्थसिद्धि पर्यंत, सम्यग्दृष्टि भी भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच सौधर्म युगलपर्यंत और मिथ्यादृष्टि भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंच एवं पंचाग्नि साधक तापसी साधु उत्कृष्टता से भवनत्रिक पर्यंत ही जाते हैं।

नग्नांड लक्षण वाले चरक, एकदंडी, त्रिदंडी ऐसे परिव्राजक संन्यासी ब्रह्मकल्प पर्यन्त ही उत्पन्न होते हैं। कांजिक

आदि भोजन करने वाले आजीवक साधु अच्युतकल्प पर्यंत ही उत्पन्न होते हैं, आगे नहीं।

अन्यत्र भी कहा है—"चार प्रकार के दान में प्रवृत्त कषायों से रहित, पंचगुरुओं की भक्ति से युक्त, देशव्रतसंयुत जीव सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, आर्जव, लज्जा एवं शीलादि से परिपूर्ण स्त्रियाँ अच्युतकल्प पर्यन्त उत्पन्न होती हैं।

जो अभव्य जिनलिंग को धारण करने वाले और उत्कृष्ट तप के श्रम से परिपूर्ण हैं, वे उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। पूजा, व्रत, तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न निर्ग्रंथ भव्य इससे आगे सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

मंदकषायी, प्रियभाषी कितने ही चरक (साधु विशेष) और पारिव्राजक क्रम से भवनवासियों आदि को लेकर ब्रह्मकल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो कोई पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी जीव हैं, अकामनिर्जरा से युक्त और मंदकषायी हैं वे सहस्रारकल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो तनुदंडन अर्थात् कायक्लेश से सहित (साधु) हैं, तीव्र क्रोधी हैं, ऐसे कितने ही जीव क्रमशः भवनवासियों से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि वस्त्रसहित ऐलक अथवा आर्यिका भी सोलह स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं और वस्त्र रहित दिगम्बर मुनि चाहे भाव से मिथ्यादृष्टि भी क्यों न हों, नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं तथा दिगम्बर मुनि भावलिंगी ही नव अनुदिश, पाँच अनुत्तरों में जाते हैं किन्तु अन्य संप्रदाय के परमहंस नामक नग्न साधु बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकते हैं अतः दिगम्बर जैन मुनि हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति असंभव है।

श्री शुभचंद्राचार्य भी कहते हैं—

जो पुरुष बाह्य परिग्रह को भी छोड़ने में असमर्थ हैं वह नपुंसक (नामर्द व कायर) आगे कर्मों की सेना को कैसे हनेगा ?"

"एक लंगोटी मात्र परिग्रह भी रखने पर उसको धोना, सुखाना, सुरक्षा करना, फट जाने पर याचना करना आदि अनेकों दोष आते हैं, पुनः निर्विकल्प अवस्था रूप शुक्लध्यान की सिद्धि असंभव है ही। यही कारण है कि "दिगम्बर साधु वृक्षों की छाल, पत्ते, चर्म और वस्त्रादि से शरीर को नहीं ढकते हैं अतएव अलंकार, परिग्रह और कामविकार से रहित नग्नमुद्रा को धारण करते हैं।"

इन्हीं सब कारणों से दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में स्त्रियों को इसी भव से मुक्ति का निषेध है, ऐसा समझना।

यह दिगम्बरत्व अपरिग्रह की चरम सीमा है, जितेन्द्रियता और निर्विकारता की कसौटी है। ये दिगम्बर मुनि सदैव बालकवत् निर्विकार रहते हैं और निर्भय रहते हैं। ये शीलरूपी वस्त्र को धारण किये हैं अतः नंगे भी नहीं हैं। इसी मुद्रा को यथाजात कहते हैं अर्थात् जन्म के समय जो रूप था सो ही है अतः यथाजात, यथारूप, प्रकृतरूप, प्राकृतिकमुद्रा, जिनमुद्रा आदि शब्दों से यह रूप जाना जाता है। इस जिनरूप को धारण करते हुए दिगम्बर मुनि सदैव इस पृथ्वीतल पर विचरण करते रहें और मोक्षमार्ग सदैव अस्खलितरूप से चलता रहे।

4.2 पंचमकाल में गौतम स्वामी आदि—

"जिस दिन भगवान महावीर सिद्ध हुए उसी दिन गौतम गणधर केवलज्ञान को प्राप्त हुए। ये बारह वर्षों तक केवलीपद में रहकर सिद्धपद को प्राप्त हुए, उसी दिन सुधर्मास्वामी केवली हुए, ये भी बारह वर्षों तक केवली रहकर मुक्त हुए, तब जम्बूस्वामी केवली हुए, ये अड़तीस वर्षों तक केवली रहे अनंतर मुक्त हो गये। पुनः कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुए। यह 12+12+38=62 वर्ष का काल अनुबद्ध केवलियों के धर्मप्रवर्तन का माना गया है।

केवलियों में अंतिम केवली 'श्रीधर' कुण्डलगिरी से सिद्ध हुए हैं और चारण ऋषियों में अंतिम ऋषि सुपार्श्व नामक हुए हैं। प्रज्ञाश्रमणों में अंतिम वज्रयश नामक प्रज्ञाश्रमण मुनि और अवधिज्ञानियों में अंतिम श्री नामक ऋषि हुए हैं। मुकुटधरों में अंतिम चंद्रगुप्त ने जिनदीक्षा धारण की। इसके पश्चात् मुकुटधारी राजाओं ने जैनेश्वरी दीक्षा नहीं ली है।'

अनुबद्ध केवली के अनंतर नंदी, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए हैं। इनका काल 'सौ वर्ष' प्रमाण है, पुनः विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह आचार्य दशपूर्व के धारी हुए हैं। इन सबका काल 'एक सौ तिरासी' वर्ष है। अनंतर नक्षत्र, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच आचार्य ग्यारह अंग के धारी हुए हैं। इनका काल 'दो सौ बीस' वर्ष हैं। पुनः सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य आचारांग के धारक हुए हैं। ये चारों आचार्य ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के एकदेश के भी ज्ञाता थे। इनका काल 'एक सौ अठारह' वर्ष है।

इस प्रकार गौतमस्वामी से लेकर आचारांगधारी आचार्यों तक का काल 62+100+183+220+118=683 छह सौ तिरासी वर्ष प्रमाण है। इसके अनंतर 20317 वर्षों तक धर्मप्रवर्तन के लिए कारणभूत ऐसा श्रुततीर्थ चलता रहेगा, पुनः कालदोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा। इतने मात्र समय में अर्थात् 683+20317=21000 इक्कीस हजार वर्षों के समय में चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा किन्तु लोग प्रायः अविनीत, दुर्बुद्धि, असूचक, सात भय व आठ मदों से संयुक्त, शल्य एवं गारवों से सहित, कलहप्रिय, रागिष्ठ, क्रूर एवं क्रोधी होंगे।"

4.3 शक राजा की उत्पत्ति

"वीर भगवान के मोक्ष चले जाने के बाद छह सौ पाँच वर्ष, पाँच मास के अनन्तर शक राजा उत्पन्न हुए।"

अन्यत्र भी कहा है—"श्री वीरप्रभु के मोक्ष जाने के बाद छह सौ पाँच वर्ष पाँच माह बीत जाने पर विक्रम नाम का शक राजा उत्पन्न हुआ और इसके बाद 394 वर्ष 7 माह बीत जाने पर प्रथम कल्की उत्पन्न हुआ है।" अर्थात् (605 वर्ष 5 माह) + (394 वर्ष 7 माह) = 1000 वर्ष बाद कल्की की उत्पत्ति हुई है।

अन्य ग्रंथों में भी यही है—"भगवान महावीर के मोक्ष जाने के पश्चात् छह सौ पाँच वर्ष पाँच मास बीत जाने पर शक राजा होगा और हजार-हजार वर्ष बाद एक-एक कल्की राजा होता रहेगा, जो जैनधर्म का विरोधी होगा।"

अभी वीर प्रभु के धर्मतीर्थकाल में कुल 2540 वर्ष व्यतीत हुआ है और लगभग साढ़े अठारह हजार वर्ष बाकी हैं। तब तक यह धर्मतीर्थ चलता ही रहेगा।

4.4 राज्य परम्परा—

"जिस काल में वीर भगवान ने निःश्रेयस सम्पत्ति को प्राप्त किया उसी समय 'पालक' नामक अवन्तिसुत का राज्याभिषेक हुआ। 60 वर्ष तक पालक का, 155 वर्ष विजयवंशियों का, 40 वर्ष मुरुंडवंशियों का और 30 वर्ष तक पुष्यमित्र का राज्य रहा। पुनः 60 वर्ष तक वसुमित्र-अग्निमित्र, 100 वर्ष गंधर्व, 40 वर्ष नरवाहन, 242 वर्ष भृत्य-आंध्र और 231 वर्ष तक गुप्तवंशियों ने राज्य किया। अनन्तर इन्द्र नामक राजा का पुत्र कल्की उत्पन्न हुआ। इसका नाम चतुर्मुख, आयु 70 वर्ष और राज्यकाल 42 वर्ष प्रमाण रहा है। ये सब मिलकर 60+155+40+30+60+100+40+242+231+42=1000 वर्ष हो जाते हैं।"

आचारांगज्ञानियों के पश्चात् (683 वर्ष पश्चात्) 275 वर्षों के व्यतीत होने पर कल्की नरपति को पट्ट बांधा गया था और इसका राज्यकाल 42 वर्ष प्रमाण था। 683+275+42=1000 वर्ष।

यह कल्की अपने योग्य जनपदों को सिद्ध करके लोभ को प्राप्त हुआ मुनियों के आहार में से भी अग्रपिंड को शुल्करूप में मांगने लगा। तब श्रमण अग्रपिंड को देकर 'यह अन्तरायों का काल है' ऐसा समझकर निराहार चले जाते हैं। उस समय उनमें से किसी एक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है। पश्चात् कोई असुरदेव अवधिज्ञान से मुनिगणों के उपसर्ग को जानकर उस धर्मद्रोही कल्की को मार डालता है। तब अजितंजय नामक पुत्र 'रक्षा करो' ऐसा कहकर देव की शरण लेता है और देव 'धर्मपूर्वक राज्य करो' इस प्रकार कहकर उसकी रक्षा करता है। इसके पश्चात् दो वर्ष तक लोगों

में समीचीन धर्म की प्रवृत्ति रही है पुनः काल के माहात्म्य से दिन प्रतिदिन हीन होती चली गई है।

इस प्रकार एक-एक हजार वर्षों के पश्चात् एक-एक कल्की तथा पाँच सौ वर्षों के पश्चात् एक-एक उपकल्की होते हैं। प्रत्येक कल्की के समय एक-एक दुःषमकालवर्ती साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उस समय चातुर्वर्ण्य संघ भी अल्प हो जाते हैं। अनंतर अंत में अंतिम कल्की के समय वीरांगज मुनि होंगे। उनके हाथ के आहार को शुल्क में मांगने पर वे चतुर्विध संघ सहित सल्लेखना ग्रहण कर लेंगे और उसी दिन से धर्म का, राजा का और अग्नि का अभाव हो जावेगा पुनः छठा काल प्रवेश करेगा।

विशेष — जब भगवान महावीर स्वामी मोक्ष पधारे हैं तब इस चतुर्थ काल के अंत में तीन वर्ष आठ महीने और पंद्रह दिन बाकी थे। उसी दिन गौतम स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया, वे बारह वर्ष तक केवली रहे मतलब आठ वर्ष और साढ़े तीन महीने तक वे पंचम काल में केवलीपद में विहार करते हैं। "वास्तव में चतुर्थकाल के जन्मे हुए पंचम काल में मोक्ष जा सकते हैं किन्तु पंचमकाल के जन्मे हुए पंचम काल में मोक्ष नहीं जा सकते हैं।"

4.5 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जो द्रव्य से पुरुषवेदी हैं और भाव से स्त्रीवेदी हैं उनके कौन सा सम्यक्त्व होता है ?

(क) क्षयोपशम सम्यक्त्व ☐
(ख) उपशम सम्यक्त्व ☐
(ग) क्षायिक सम्यक्त्व ☐

प्रश्न 2-कर्मभूमि की महिलाओं में.....ही होते हैं।

(क) तीन हीन संहनन ☐
(ख) तीन उत्तम संहनन ☐
(ग) छहों संहनन ☐

प्रश्न 3-सम्यग्दृष्टि महाव्रती कहाँ तक जा सकते हैं ?

(क) नव ग्रैवेयक तक ☐
(ख) नव अनुदिश तक ☐
(ग) सर्वार्थसिद्धि तक ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-सम्यग्दृष्टि भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच तथा मिथ्यादृष्टि भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच किस स्वर्ग पर्यंत उत्पन्न हो सकते हैं ?

प्रश्न 2-अकामनिर्जरा से युक्त, मंदकषायी पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यंच किस कल्प पर्यन्त उत्पन्न होते हैं ?

प्रश्न 3-नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर में कौन-कौन जा सकते हैं ?

प्रश्न 4-दिगम्बर जैनागम के अनुसार क्या स्त्रियाँ इस भव से मुक्ति प्राप्त कर सकती हैं ? अगर नहीं तो क्यों ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1- पंचमकाल में श्री गौतम स्वामी से लेकर होने वाले अनुबद्ध केवली, केवली, चारण ऋषि, प्रज्ञाश्रमण, अवधिज्ञानी ऋषि, श्रुतकेवली, दशपूर्वधारी आचार्य, ग्यारह अंगधारी आचार्य व आचारांगधारी आचार्यों का वर्णन करते हुए उनका समय भी बताइए ?

इकाई–5 आर्यिका चर्या (जैन साध्वी चर्या)

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) नारी जीवन की उत्कृष्ट साधना-आर्यिका दीक्षा

(2) आर्यिका की आगमोक्त विनय विधि

(3) मुनि और आर्यिका की चर्या में अन्तर

(4) ऐतिहासिक आर्यिकाएँ

पाठ 1–नारी जीवन की उत्कृष्ट साधना-आर्यिका दीक्षा

1.1 आधुनिक परिवेश में चाहे श्रावक हो या मुनि, श्राविका हो या आर्यिका, स्पष्ट रूप में उनकी चर्या का ज्ञान होना आवश्यक है। आचार्यश्री यतिवृषभस्वामी ने कहा है—

पंचमकाल के अंत तक मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका का चतुर्विध संघ वर्तन करेगा। अभी तो पंचमकाल के मात्र 2540 वर्ष व्यतीत हुए हैं, शेष 18468 वर्षों तक निरन्तर ऐसी ही अक्षुण्ण परम्परा चलती रहेगी। इसके फलस्वरूप वर्तमान में लगभग चौदह सौ की संख्या में दिगम्बर जैन साधु-साध्वियों के दर्शन हो रहे हैं, यह चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर महाराज की कृपाप्रसाद का फल है।

उस चतुर्विध संघ श्रृंखला में महिलाओं के लिए त्याग की चरमसीमा आर्यिका का पद माना जाता है।

वैसे देखा जाए तो धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आदि समस्त क्षेत्रों में प्राचीन काल से नारियों का योगदान रहा है। जिस प्रकार से पुरुषों को आत्मसाधना करने का एवं जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार है, उसी प्रकार से प्रत्येक महिला को, चाहे वह कुंवारी हो, सौभाग्यवती हो या विधवा हो, सभी को आत्म कल्याण करने का अधिकार सदैव से प्राप्त है।

हाँ! मध्यकाल का एक युग ऐसा आया था, जब नारियों पर अत्याचार होते थे एवं अनेकों प्रकार की प्रताड़नाएं उन्हें प्राप्त होती थीं परन्तु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में नारियों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय संविधान के अनुसार भी पुत्र और पुत्री दोनों को माता-पिता की संपत्ति में बराबर का अधिकार बताया गया है।

1.2 ब्राह्मी-सुन्दरी ने ली थी प्रथम आर्यिका दीक्षा-

इस कर्मयुग के प्रारंभ में जिस प्रकार से तीर्थंकर आदिनाथ ने दीक्षा लेकर मुनि परम्परा को प्रारंभ किया, उसी प्रकार उनकी पुत्री ब्राह्मी-सुन्दरी ने भगवान के समवसरण में दीक्षा लेकर आर्यिका परम्परा का शुभारंभ किया है। किंवदन्ती में ऐसा लोग कह देते हैं कि भगवान् आदिनाथ को अपने दामाद के समक्ष मस्तक झुकाना पड़ता इसीलिए उनकी कन्याओं ने विवाह बंधन ठुकरा कर दीक्षा धारण की थी किन्तु यह बात कदापि युक्तिसंगत नहीं है, न ही जैन इतिहास इस तथ्य को स्वीकार करता है। तीर्थंकर की तो प्रत्येक क्रिया ही अद्वितीय होती है। वे शैशव अवस्था से ही अपने माता-पिता एवं दिगम्बर मुनि को भी नमस्कार नहीं करते हैं, इसमें उनका अहंकार नहीं, बल्कि तीर्थंकर पदवी का माहात्म्य ही ऐसा है। माता-पिता या दिगम्बर मुनिराज उनकी इस क्रिया का प्रतिरोध भी नहीं करते हैं प्रत्युत तीर्थंकर के पुण्य की सराहना करते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मी-सुन्दरी कन्याओं ने उत्कट वैराग्य भावना से आर्यिका दीक्षा धारण की थी तथा हजारों आर्यिकाओं में ब्राह्मी माता ने प्रधान 'गणिनी' पद को प्राप्त किया था। 'सार्वभौम जैनधर्म प्राणिमात्र का हित करने वाला है' यह सोचकर हृदय में संसार समुद्र से पार होने की भावना को लेकर कोई महिला पहले साधु संघ में प्रवेश करती है पुनः

उसके वैराग्य भावों में वृद्धि प्रारंभ होती है। चतुर्विध संघ के नायक आचार्य उसे समुचित शिक्षाएँ प्रदान कर संघ की प्रमुख आर्यिका या गणिनी के सुपुर्द कर देते हैं क्योंकि आर्यिकाएँ ही महिलाओं की सुरक्षा एवं पोषण कर सकती हैं।

जिस प्रकार से बालक माता के प्रति पूर्ण समर्पित होता है। चाहे माँ उसे डांटे, मारे और कितना भी अपने से दूर भगावे किन्तु बालक रोने-धोने के पश्चात् भी माँ की गोद में ही आकर शांति प्राप्त करता है। माता का हृदय बहुत ही उदार होता है, उसकी ममता के आंचल तले जाकर बड़े से बड़ा दुःख भी सुख रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसीलिए माँ की महानता बतलाते हुए नीतिकारों ने शिक्षा दी है—

''भोजन करना माँ से चाहे जहर हो, रास्ता चलना सीधा चाहे फेर हो''

इसी प्रकार वैराग्य भावयुक्त कुमारी कन्या अथवा महिला भी आर्यिका माता के शिष्यत्व को स्वीकार करके स्वयं को उनके प्रति समर्पित कर देती है और उनसे निवेदन करती है कि हे मातः! मैं अपने अनंत संसार को समाप्त करने हेतु, स्त्रीलिंग के छेदन हेतु दीक्षा ग्रहण करना चाहती हूँ अतः आप मुझे हस्तावलंबन देकर मेरी आत्मा का कल्याण कीजिए।

इन औपचारिकताओं के पश्चात् गणिनी आर्यिका उस नववैराग्यशालिनी महिला को कुछ दिन अपने पास रखती हैं और उसके मन की दृढ़ता को, शारीरिक क्षमता को एवं उसमें आर्यिका दीक्षा की योग्यता देखती हैं तथा धार्मिक अध्ययन भी कराती हैं। साधु संघ में प्रवेश करते ही वह दीक्षा धारण ही कर लेवे, यह कोई आवश्यक नहीं है। सर्वप्रथम तो उसमें साधुओं की वैयावृत्ति करने की एवं आहारदान की भावना होनी चाहिए तथा भिन्न-भिन्न प्रदेशों की, भिन्न-भिन्न प्रकृति वाली संघस्थ आर्यिकाओं व ब्रह्मचारिणियों के साथ प्रेमपूर्वक रहने की प्रवृत्ति होनी चाहिए ताकि संघ में किसी प्रकार की अशांति का वातावरण न उपस्थित होने पावे। यह यथानुरूप ढल जाना उस महिला में सबसे बड़ा गुण होना चाहिए।

कुमारी बालिकाएं तथा महिलाएँ ब्रह्मचर्य व्रत लेकर आर्यिकाओं के पास रहती हैं और आहार-दानादिक में भाग लेती हैं, यह बात **''अनंतमती''** के उदाहरण से साक्षात् स्पष्ट होती है। जैसा कि कथानक में आता है—

अंग देश के राजा प्रियदत्त और रानी अंगवती के **''अनंतमती''** नाम की एक कन्या थी। उसने बचपन में कुतूहलवश पिताजी से अष्टान्हिका पर्व में आठ दिनों का ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया था, जिसके फलस्वरूप उसने आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया।

एक बार कोई पूर्व जन्म के वैरी शत्रु विद्याधर ने उसका हरण कर उसे एक घनघोर जंगल में डाल दिया। अनेकों कष्टों को सहन कर जैसे-तैसे उसके शील की रक्षा हुई, तब वह जिनेन्द्र भगवान का स्मरण कर भटकती हुई किसी समय **'अयोध्या'** नगरी पहुँच गई। वहाँ एक जिनमंदिर में **''पद्मश्री''** नाम की आर्यिका के दर्शन हुए, तब वह उन्हें माता समझ कर उनके पास रहने लगी।

अनंतमती के पिता उसे ढूंढते-ढूंढते जब अयोध्या पहुँचे, वहाँ एक श्रावक के घर के आगे सुन्दर चौक पूरा हुआ देखकर रोने लगे। श्रावक के द्वारा पूछने पर उसने बताया—मेरी पुत्री ऐसा चौक पूरा करती थी, अब वह पता नहीं कहाँ है? श्रावक ने आर्यिका के पास रहने वाली उस कन्या का प्रियदत्त से परिचय कराया और कहने लगा कि मेरी पत्नी इसे प्रतिदिन अपने चौके में भोजन करने के लिए बुलाती है और चौक भी यही कन्या बनाती है।

पिता पुत्री का चिरवियोग के पश्चात् मिलन होता है किन्तु अनंतमती के मन में तो संसार के प्रति पूर्ण वैराग्य हो चुका था अतः उसने पिता की आज्ञा लेकर आर्यिकाश्री के पास दीक्षा धारण कर ली और घोरातिघोर तपश्चरण करती हुई सल्लेखनापूर्वक मरण करके सहस्रार स्वर्ग में देवपद को प्राप्त कर लिया।

इसी प्रकार के अनेकों उदाहरण वर्तमान में भी देखे जाते हैं क्योंकि चाहे बालक हो या बालिका, महिलाएँ हों या पुरुष, सभी के लिए दो ही मार्ग प्रशस्त होते हैं या तो वे साधुओं को नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान देते हैं अन्यथा स्वयं साधु परमेष्ठी के पद को धारण कर श्रावकों से आहार लेते हैं। इसके अतिरिक्त आगमानुसार तीसरी श्रेणी कोई नहीं होती।

यदि मनगढ़न्त अभिप्रायों से वह श्रेणी बना ली जाती है, तो '**आप डूबे पांड्या ले डूबे जजमान**' वाली नीति ही सार्थक होती है क्योंकि नीचे पद में रहकर यदि उच्च पद की अनधिकृत क्रियाएँ की जाती हैं तो नीच गोत्र का आस्रव होता है एवं समाज भी भ्रमित हो जाती है।

संघ के बीच में एवं गणिनी गुर्वानी के अनुशासन में रहकर विद्याभ्यास करने से ब्रह्मचारिणियों के जीवन में इन अनर्गल क्रियाओं की संभावना प्रायः नहीं रहती है अतः आर्यिकाओं की प्रशस्त परम्परा इन्हीं से चलती है। जब संघ संरक्षण में रहती हुईं वे विद्या-शिक्षा में निपुण हो जाती हैं एवं व्यवहारिक ज्ञान आदि का अनुभव भी प्राप्त कर लेती हैं, तभी वे दीक्षा के योग्य मानी जाती हैं।

संघ के आचार्य अथवा गणिनी आर्यिका जी जब उस वैराग्यशील महिला का पूर्ण रूप से परीक्षण कर लेते हैं, तब उसकी दीक्षा का मंगल मुहूर्त निकालकर घोषणा करते हैं। औपचारिकता के नाते दीक्षार्थी के कुटुम्बियों से भी आज्ञा मंगानी होती है ताकि दीक्षा जैसा पुनीत कार्य निर्विघ्नरूप से सम्पन्न हो सके।

दीक्षार्थी महिला की इच्छानुसार तीर्थयात्राएँ भी उसे करवा दी जाती हैं पुनः जिनधर्म प्रभावना हेतु दीक्षार्थी की शोभायात्राएँ भी सम्पन्न होती हैं। यह कार्य गृहस्थ श्रावकों एवं दीक्षार्थी के परिवार वालों पर निर्भर रहता है।

यह क्रियाएँ वर्तमानकाल में लोक व्यवहार की दृष्टि से और धार्मिक प्रभावना के लक्ष्य से ही की जाती हैं। इसमें आत्मकल्याण का कोई विशेष संबंध नहीं है। पूर्वकाल के उदाहरण भी अपने समक्ष हैं कि वैराग्य होने के बाद पुनः किसी घड़ी की प्रतीक्षा नहीं की जाती क्योंकि असली वैराग्य ही सर्वोत्तम शुभ मुहूर्त माना जाता है।

आदिपुराण के पृष्ठ 592 पर श्री जिनसेन आचार्य ने लिखा है—

भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।
गणिनी पदमार्यायां सा भेजे पूजितामरैः।।

हरिवंशपुराण पृष्ठ 183 पर प्रकरण है—

ब्राह्मी च सुन्दरी चोभे कुमार्यौ धैर्य संगते।
प्रव्रज्य बहुनारीभिरार्याणां प्रभुतां गते।

अर्थात् ब्राह्मी-सुन्दरी दोनों कन्याओं ने प्रभु आदिनाथ के समवसरण में आर्यिका दीक्षा धारण की थी और ब्राह्मी आर्यिका समस्त आर्यिकाओं में गणिनी—स्वामिनी थीं।

इस युग की प्रथम आर्यिका ने भगवान के समवसरण में दीक्षा ली थी उसके पश्चात् महिलाओं के लिए गणिनी से दीक्षा प्राप्त करने के अनेकों उदाहरण देखे जाते हैं—आदिपुराण द्वितीय भाग में पृ. 503 पर आया है—

1.3 ''भरत के सेनापति जयकुमार की दीक्षा के बाद सुलोचना ने भी ब्राह्मी आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर ली'' -

अन्यत्र हरिवंश पुराण में भी कहा है—

''दुष्ट संसार के स्वभाव को जानने वाली सुलोचना ने अपनी सपत्नियों के साथ श्वेत साड़ी धारणकर ब्राह्मी तथा सुन्दरी के पास दीक्षा धारण कर ली। इसके साथ हरिवंशपुराण में आर्यिका सुलोचना को ग्यारह अंग की धारिणी भी माना है।

कुबेरमित्र की स्त्री धनवती ने संघ की स्वामिनी आर्यिका अमितमती के पास दीक्षा धारण कर ली और उन यशस्वती तथा गुणवती आर्यिकाओं की माता कुबेरसेना ने भी अपनी पुत्री के समीप दीक्षा ले ली।

पद्मपुराण में भी वर्णन आता है—

''रावण के मरने के बाद मंदोदरी ने शशिकांता आर्यिका के मनोहारी वचनों से प्रबोध को प्राप्त हो उत्कृष्ट संवेग

और उत्तम गुणों को प्राप्त होती हुई, गृहस्थ की वेशभूषा को छोड़कर, श्वेत साड़ी से आवृत हुई आर्यिका हो गई। उस समय अड़तालिस हजार स्त्रियों ने संयम धारण किया था, इन्हीं में रावण की बहन, जो कि खरदूषण की पत्नी थी, उस चन्द्रनखा (सूर्पणखा) ने भी दीक्षा ले ली थी।

माता कैकेयी भरत की दीक्षा के बाद विरक्तमना एक सफेद साड़ी से युक्त होकर तीन सौ स्त्रियों के साथ **'पृथ्वीमती'** आर्यिका के पास दीक्षित हो गई थीं।

अग्नि परीक्षा के पश्चात् रामचन्द्र ने सीता से घर चलने को कहा, तब सीता ने कहा कि अब मैं **''जैनेश्वरी आर्यिका दीक्षा धारण करूँगी''**, वहीं केशलोंच करके पुनः शीघ्र जाकर पृथ्वीमती आर्यिका के पास दीक्षित हो गईं।

उनके बारे में लिखा है कि सीताजी वस्त्रमात्र परिग्रहधारिणी महाव्रतों से पवित्र अंग वाली महासंवेग को प्राप्त थीं।

हरिवंश पुराण में राजुल के विषय में बताया है—

षट्सहस्रनृपस्त्रीभिः सह राजीमती सदा।
प्रव्रज्याग्रेसरी जाता सार्यिकाणां गणस्य तु।।146।।

छह हजार रानियों के साथ राजीमती ने भगवान् नेमिनाथ के समवसरण में आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में प्रधान गणिनी हो गईं।

हरिवंशपुराण में ही आगे—

राजा चेटक की पुत्री चंदना कुमारी, एक स्वच्छ वस्त्र धारण कर भगवान महावीर के समवसरण में आर्यिकाओं में प्रमुख हो गईं।

राजा श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् रानी चेलना गणिनी आर्यिका चंदना के पास दीक्षित हो गईं जो कि चंदना की बड़ी बहन थीं। ऐसा उत्तरपुराण में कथन आया है तथा—

गुणरूपी आभूषण को धारण करने वाली कुन्ती, सुभद्रा तथा द्रौपदी ने भी राजीमती गणिनी के पास उत्कृष्ट दीक्षा ले ली थी। और भी पुराणों में कितने ही उदाहरण हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि एक प्रमुख गणिनी आर्यिका समवसरण में तीर्थंकर की साक्षीपूर्वक दीक्षित होकर अन्य आर्यिकाओं को दीक्षा प्रदान करती थीं।

1.4 आज भी गणिनी आर्यिकाओं के द्वारा आर्यिका, क्षुल्लिका की दीक्षाएँ प्रदान की जाती हैं-

वर्तमान युग में आचार्य और गणिनी दोनों के द्वारा महिलाओं की आर्यिका, क्षुल्लिका दीक्षा की परम्परा चल रही है अतः स्वेच्छा से वैराग्यशालिनी महिला जिनके श्रीचरणों में दीक्षा की याचना करती है, वे जिम्मेदारीपूर्वक दीक्षा देकर अनुग्रह आदि करते हुए उसे नवजीवन में प्रवेश कराते हैं।

दीक्षा दिवस से पूर्व तक उसे श्राविका के समस्त कर्तव्य पालन करने होते हैं। जैसे—जिनेन्द्र पूजा-विधान, उत्तम आदि पात्रों को शक्ति अनुसार चतुर्विध दान देकर अपने मन को पवित्र बनाती है।

दीक्षा के शुभ मुहूर्त के अवसर पर दीक्षार्थी बहन की शोभायात्रा निकाली जाती है जिसमें उसके परिवार जनों को अपने अरमान पूरे करने का सौभाग्य प्राप्त होता है यदि दीक्षार्थिनी कुंआरी या सौभाग्यवती है, तो मेंहदी रचाना आदि भी होता है। यह भी एक मंगल अवसर होता है क्योंकि उसे तो पूर्णरूप से नवजीवन में प्रवेश करना होता है।

दीक्षा का दृश्य अपने आप में एक रोमांचक दृश्य होता है। आपकी पुत्री का विवाह अपने घर के छोटे से मंडप में हो जाता है और दीक्षा का महानकार्य विशाल मंडप में सम्पन्न होता है, जहाँ एक परिवार को छोड़कर **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** अर्थात् सारे संसार को अपना कुटुम्ब समझा जाता है परन्तु वास्तविकता तो यह है कि न एक परिवार अपना है और न ही समस्त संसार अपना हो सकता है, अपना तो केवल आत्मा है, उसे पाने के लिए ही दीक्षा धारण की जाती है। जैसा कि कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।.....इत्यादि

आत्महित की प्रमुखता से ही दीक्षा लेना सर्वोत्तम कार्य है, परहित उसके साथ हो जावे तो ठीक है किन्तु मात्र परहित का ही लक्ष्य रखना आत्महित में बाधक हो सकता है।

इस प्रकार यहाँ अनेक आर्यिकाओं के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

दीक्षा के प्रसंग में आगे जानना है कि—

शोभायात्रा के पश्चात् सभामंडप में पूर्वमुख या उत्तरमुख उसे बैठाकर गणिनी आर्यिका सर्वप्रथम केशलोंच प्रतिष्ठापन में सिद्ध भक्ति, योगभक्ति पढ़कर दीक्षार्थी बहन का केशलोंच प्रारंभ कर देती हैं।

देखते ही देखते सभामंडप में असीम वैराग्य का दृश्य उपस्थित हो जाता है। कई बार देखने में आता है कि वह बहन स्वयं भी वीरतापूर्वक अपना केशलोंच करती है।

माँ की वह ममता, जिसने बालिका को दुग्धपान के साथ अपने आंचल की छांव दी थी, भाई की वे कलाइयाँ, जिन्होंने सदा बहन के रक्षासूत्र को अंगीकार किया था, पिता की वह गोद, जिसने कन्या रत्न को झूले की भांति झुलाया था, वह स्नेहिल परिवार, जिसने सदैव उसके सुख-दुख में हाथ बंटाया था, सभी उस क्षण वैराग्य की मोहिनी मुद्रा के प्रति नतमस्तक हो जाते हैं तथा कोई-कोई चिरकालीन मोहवश अश्रुधारा से अपना मलिन हृदय भी निर्मल करते हैं।

मानव जीवन का प्रत्येक क्षण अत्यन्त अमूल्य होता है अतः उन क्षणों का सदुपयोग करना उसका कर्तव्य है। देखते ही देखते बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था तीनों समयों को बिताकर व्यक्ति कालकवलित हो जाता है और आत्मा की ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती है।

आपने सुना होगा गजकुमार मुनिराज के बारे में, वे भी अपने यौवन को राग की ओर ले जा रहे थे, फलस्वरूप बारात लेकर दूल्हा बनकर चल पड़े थे। विवाह भी हो गया किन्तु बारात घर तक वापस नहीं आ पाती है, रास्ते में ही उनको एक दिगम्बर मुनिराज के दर्शन हो जाते हैं। वे मुनिराज अवधिज्ञानी थे अतः गजकुमार की अल्पायु जानकर उसे सम्बोधित किया, आत्मकल्याण हेतु प्रेरणा प्रदान की।

आत्मार्थी को तो इतना संबोधन ही काफी था। गजकुमार अपनी नई-नवेली दुल्हन को रास्ते में ही छोड़कर तपोवन में जाकर गुरुदेव से मुनि दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं । बाराती अपने घर चले जाते हैं और दुल्हन की डोली अपने पिता के घर।

उस कन्या के पिता का क्रोध सातवें आसमान पर चढ़ जाता है। ओह! मेरी बेटी के साथ इतना बड़ा अन्याय! वे क्रोधावेश में ध्यानस्थ मुनिराज गजकुमार के पास पहुँचते हैं और कहते हैं—अरे ढोंगी! यदि तुझे यही करना था, तो एक कन्या के साथ शादी का नाटक क्यों रचा था? अब तो तुझे घर चलना ही पड़ेगा। जब मुनिराज कुछ न बोले तो ससुर जी को और भी गुस्सा आया अतः उन्होंने गजकुमार मुनि के मस्तक पर अंगीठी जला दी।

भयंकर अग्नि का उपसर्ग जानकर वे मुनिराज संसार-शरीर-भोगों की असारता का चिंतवन करने लगे और शरीर से आत्मा को पृथक् करने के उपाय में एकाग्रचित्त हो गए। इधर मस्तक पर अंगीठी जल रही थी और उधर आत्मा के कर्म जल रहे थे। अन्त में उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर वे अंतकृत केवली हो गये।

जिनके विषय में यह कहा जाता है—

दुल्हन को लिए बारात चली, बारात न वापस आती है।
जो प्रात गई सो प्रात गई, वह प्रात न वापस आती है।।

देखो! संसार की स्थिति, जहाँ एक व्यक्ति त्याग की चरम सीमा पर स्थित था, वहीं दूसरा राग-द्वेष की चरमसीमा पर खड़ा हिताहित का विवेक भी खो बैठा था। जीवन के अमूल्य क्षणों का सदुपयोग किया था-गजकुमार ने। जो घड़ी

हाथ से निकल जाती है, वह लाख प्रयास के बावजूद भी वापस नहीं आती। जैसे हाथ से निकला बाण और मुंह से निकली बात वापस नहीं आती है, उसी प्रकार बीती हुई प्रात (सुबह) भी वापस नहीं लाई जा सकती है।

मानव जीवन की दुर्लभता का चिंतन करने पर ही संसार से वैराग्य होता है और दीक्षा के शुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं। महान पुण्योदय से जब कोई महिला दीक्षा के लिए अग्रसर होती है, तब उसकी सर्वप्रथम परीक्षा केशलोंच की क्रिया से प्रारंभ होती है।

जब पांडाल में गणिनी आर्यिका एवं अन्य आर्यिकाओं के द्वारा केशलुंचन सम्पन्न कर दिया जाता है, तभी उसकी आगे दीक्षा की क्रिया प्रारंभ होती है।

केशलोंच के पश्चात् उस श्राविका को सौभाग्यवती महिलाएँ मंगल स्नान के लिए ले जाती हैं जहाँ तेल, उबटन आदि लगाकर मंगल स्नान कराकर मात्र एक साड़ी, जैसा कि उन्हें अब जीवन भर एक साड़ी ही धारण करनी है, उसे पहनाकर पुनः मंगल गीत गाती हुईं महिलाएँ उस श्राविका को पुनः स्टेज पर लाती हैं।

पुनः श्रीफल लेकर गुरु चरणों में समस्त जनता की साक्षीपूर्वक दीक्षा के लिए निवेदन करती है। जिन्हें भाषण देने का अभ्यास होता है, वे मंच पर खड़ी होकर दीक्षा की प्रार्थना हेतु वैराग्य भावों से युक्त कुछ भाषण भी करती हैं और अपने परिवारजनों एवं प्राणिमात्र से क्षमायाचना करती हुई सभी के प्रति स्वयं का क्षमाभाव भी प्रगट करती हैं।

गुरु की पुनः पुनः स्वीकृति प्राप्त होने के पश्चात् वे आचार्य अथवा गणिनी सौभाग्यवती महिलाओं के द्वारा पूरे गए मंगल चौक पर दीक्षार्थी महिला को पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठा देते हैं। दीक्षा प्रदान करने वाली गणिनी आर्यिका अथवा आचार्य पहले उस दीक्षार्थी से कहते हैं कि तुम्हें हमारे संघ की मर्यादा और अनुशासन में रहना होगा, एकाकी विहार नहीं करना एवं ख्याति, लाभ, पूजा में पड़कर अपनी गुरु परम्परा को नहीं तोड़ना इत्यादि बातें मजूर कराकर दीक्षा के संस्कार प्रारंभ कर दिये जाते हैं।

जब वह दीक्षार्थी महिला गुरु की सभी बातों को स्वीकार कर लेती है, तब आचार्य या गणिनी अपने संघस्थ सभी साधुओं से, दीक्षार्थी के कुटुम्बियों से एवं वहाँ पर उपस्थित समस्त जनसमूह की सहमति प्राप्त करते हैं तब सभी साधुवर्ग भी धर्मवृद्धि से हर्षितमना होते हुए अपनी सहमति प्रदान करते हैं और श्रावकगण व दीक्षार्थी के कुटुम्बीवर्ग भी दुःखमिश्रित हर्षपूर्वक जय-जयकार की ध्वनि से सभा को गुंजायमान करते हुए स्वीकृति देते हैं।

शास्त्रों में वर्णित दीक्षा विधि के अनुसार गणिनी माताजी के द्वारा दीक्षार्थी का मस्तक गरम प्रासुक जल से प्रक्षालित किया जाता है पुनः मस्तक पर स्वस्तिक लिखकर पीले तंदुल और लवंग से मंत्रों का आरोपण किया जाता है। उसके हाथ में मंत्र लिखकर तथा दोनों हाथों की अंजुलि में तंदुल भरकर उसमें श्रीफल आदि मंगल द्रव्य रखकर पुनः उन्हें अट्ठाईस मूलगुण प्रदान किये जाते हैं।

पुनः अपनी गुरु परम्परानुसार गुर्वावली को पढ़कर मंत्रों द्वारा गणिनी स्वयं संयम का उपकरण मयूर पंख की पिच्छिका, शौच के लिए उपकरण स्वरूप नारियल का कमंडलु और ज्ञान का उपकरण शास्त्र प्रदान करती हैं। शिष्या भी विनयपूर्वक दोनों हाथों से पिच्छिका को प्राप्त करती है, बाएँ हाथ से कमंडलु को और दोनों हाथों से शास्त्र को ग्रहण करती है।

इन्हीं संस्कारों के साथ ही गुरु द्वारा उस नवदीक्षिता का नवीन नामकरण भी किया जाता है, तभी नये नाम वाली आर्यिका माताजी की जयकारों से पंडाल गूंजने लगता है। सारी वेशभूषा और क्रियाओं के परिवर्तन के साथ ही नाम भी परिवर्तित हो जाने से अब वह पूर्ण रूप से नवजीवन में प्रवेश कर जाती है।

पुनः नवदीक्षिता आर्यिका सर्वप्रथम भक्तिपूर्वक दीक्षागुरु को नमोऽस्तु-वंदामि करके अन्य साधु-साध्वियों को नमोऽस्तु-वंदामि करके साधु श्रेणी में ही बैठ जाती है।

उस नवदीक्षिता आर्यिका को सर्वप्रथम कुछ दम्पत्ति श्रीफल आदि चढ़ाकर "वंदामि" कहकर नमस्कार करते हैं।

यह विशेष ज्ञातव्य है कि दीक्षा के दिन उस दीक्षार्थी महिला का उपवास रहता है। द्वितीय दिवस पारणा के लिए गणिनी आर्यिका के पीछे श्रावकों के घर में आहार हेतु जाती हैं। वहाँ पर श्रावक विधिवत् पड़गाहन करके नवधाभक्ति से आहारदान देकर अपना जन्म सफल समझते हैं।

जिस प्रकार से मूल—जड़ के बिना वृक्ष नहीं ठहरता, मूल—नींव के बिना मकान नहीं बनता, उसी प्रकार मूल—प्रधान आचरण के बिना श्रावक और साधु दोनों की सार्थकता नहीं होती है। यहाँ पर आर्यिकाओं की चर्या का प्रकरण चल रहा है अतः उनके मूलगुणों का ही कथन किया जा रहा है।

मुख्यरूप से मुनियों के मूलगुण 28 होते हैं। जैसा कि प्रतिक्रमण पाठ में स्थान-स्थान पर कथन आता है—

वदसमिदिंदिय रोधो, लोचो आवासयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेगभत्तं च।।1।।
एदे खलु मूलगुणा.....

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, षट् आवश्यकक्रिया, लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त ये 28 मूलगुणों के नाम हैं। इन्हें तीर्थंकर आदि महापुरुष भी मुनि अवस्था में पालन करते हैं एवं ये स्वयं महान हैं अतः इन व्रतों को महाव्रत भी कहते हैं।

1.5 अट्ठाईस मूलगुणों के अलग-अलग नाम और लक्षण यहाँ पर प्रस्तुत हैं—

1. अहिंसा महाव्रत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये छह काय हैं, इन छहकायिक जीवों की हिंसा का मन-वचन-काय से पूर्णतया त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है। इस महाव्रत वाले सम्पूर्ण आरंभ और परिग्रह से रहित दिगम्बर मुनि होते हैं और एक साड़ी मात्र परिग्रह वाली आर्यिकाएँ होती हैं।

2. सत्य महाव्रत—रागद्वेष, मोह, क्रोध आदि दोषों से भरे हुए वचनों का त्याग करना और ऐसा सत्य भी नहीं बोलना कि जिससे प्राणियों का घात होता है, सो सत्य महाव्रत है।

3. अचौर्य महाव्रत—ग्राम, शहर आदि में किसी की भूली, रखी या गिरी हुई वस्तु को स्वयं नहीं लेना, दूसरों के द्वारा संग्रहीत शिष्य, पुस्तक आदि को भी न लेना तथा दूसरों के दिए बिना योग्य वस्तु को भी नहीं लेना अचौर्य महाव्रत है।

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत—रागभाव को छोड़कर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना, बालिका, युवती और वृद्धा में पुत्री, बहन और माता के समान भाव रखना त्रैलोक्यपूज्य ब्रह्मचर्य व्रत है।

5. परिग्रह त्याग महाव्रत—धन, धान्य आदि दश प्रकार के बहिरंग तथा मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह का त्याग करना, वस्त्राभूषण, अलंकार आदि का पूर्णतया त्याग कर देना, यहाँ तक कि लंगोटमात्र भी नहीं रखना अपरिग्रह महाव्रत है। आर्यिकाओं के लिए दो साड़ी रखने का विधान ही उनका मूलगुण होता है।

आगम में कहे अनुसार गमनागमन, भाषण आदि में सम्यक् प्रवृत्ति करना समिति है। इसके भी पाँच भेद हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग।

6. ईर्यासमिति—निर्जंतुक मार्ग से सूर्योदय होने पर चार हाथ आगे जमीन देखकर एकाग्रचित्त करके तीर्थयात्रा, गुरुवंदना आदि धर्मकार्यों के लिए गमन करना ईर्यासमिति है।

7.भाषा समिति—चुगली, हँसी, कर्कश, परनिंदा आदि से रहित, हित, मित और असंदिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है।

8. एषणा समिति—छ्यालिस दोष और बत्तीस अंतराय से रहित, नवकोटि से शुद्ध श्रावक के द्वारा तैयार किया गया ऐसा प्रासुक निर्दोष पवित्र आहार लेना एषणा समिति है।

9. आदान निक्षेपण समिति—पुस्तक, कमण्डलु आदि को रखते-उठाते समय कोमल मयूर पिच्छिका से

परिमार्जन करके रखना, उठाना, तृण-घास, चटाई, पाटे आदि को भी सावधानी से देखकर पिच्छिका से परिमार्जन करके ग्रहण करना या रखना, आदान निक्षेपण समिति है।

10. उत्सर्ग समिति — हरी घास, चिंवटी आदि जीवजन्तु से रहित प्रासुक, ऐसे एकांत स्थान में मलमूत्रादि विसर्जन करना यह उत्सर्ग या प्रतिष्ठापन समिति है।

स्पर्शन, रसना आदि पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना, इनको शुभध्यान में लगा देना पंचेन्द्रिय निरोध होता है। इसके भी पाँच इन्द्रियों की अपेक्षा से पाँच भेद होते हैं।

11. स्पर्शन इन्द्रिय निरोध — सुखदायक, कोमल स्पर्शादि में या कठोर कंकरीली भूमि आदि के स्पर्श में आनन्द या खेद नहीं करना।

12. रसनेंद्रिय निरोध — सरस, मधुर भोजन में या नीरस, शुष्क भोजन में हर्ष-विषाद नहीं करना।

13. घ्राणेंद्रिय निरोध — सुगंधित पदार्थ में या दुर्गन्धित वस्तु में रागद्वेष नहीं करना।

14. चक्षुइंद्रिय निरोध — स्त्रियों के सुन्दर रूप या विकृतवेष आदि में रागभाव और द्वेष भाव नहीं करना।

15. कर्णेन्द्रिय निरोध — सुन्दर-सुन्दर गीत, वाद्य तथा असुन्दर-निन्दा, गाली आदि के वचनों में हर्ष-विषाद नहीं करना। यदि कोई मधुर गीतों से गान करता हो, तो उसे रागभाव से नहीं सुनना।

जो अवश — जितेन्द्रिय मुनि का कर्तव्य है, वह आवश्यक कहलाता है। उसके छः भेद हैं — समता, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

16. समता — जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि में हर्ष- विषाद नहीं करना, समान भाव रखना समता है। इसी का नाम सामायिक है। त्रिकाल में देववंदना करना यही सामायिक व्रत है। प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल में विधिवत् कम से कम एक मुहूर्त — 48 मिनट तक सामायिक करना होता है।

17. स्तुति — वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तुति नाम का आवश्यक है।

18. वंदना — अरिहंतों को, सिद्धों को, उनकी प्रतिमा को, जिनवाणी को और गुरुओं को कृतिकर्म पूर्वक नमस्कार करना वंदना है।

19. प्रतिक्रमण — अहिंसादि व्रतों में जो अतिचार आदि दोष उत्पन्न होते हैं, उनको निंदा-गर्हापूर्वक शोधन करना — दूर करना प्रतिक्रमण है। इसके भी सात भेद हैं — ऐर्यापथिक, दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ।

गमनागमन से हुए दोषों को दूर करने के लिए 'पडिक्कमामि भंते! इरियावहियाए विराहणाए' इत्यादि दण्डकों का उच्चारण करके कायोत्सर्ग करना ऐर्यापथिक है। दिवस संबंधी दोषों को दूर करने के लिए सायंकाल में 'जीवे प्रमाद जनिता' इत्यादि पाठ करना दैवसिक, रात्रि संबंधी दोषों के निराकरण हेतु रात्री के अंत में प्रतिक्रमण करना रात्रिक, प्रत्येक मास की चतुर्दशी या पूर्णिमा या अमावस्या को करना पाक्षिक, कार्तिक और फाल्गुन मास के अंत में करना चातुर्मासिक, आषाढ़ की अंतिम चतुर्दशी या पूर्णिमा को करना सांवत्सरिक तथा मरणकाल में करना उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

20. प्रत्याख्यान — मन-वचन-काय से भविष्य के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। आहार ग्रहण करने के अनन्तर गुरु के पास अगले दिन आहार ग्रहण करने तक के लिए जो चतुराहार का त्याग किया जाता है, वह प्रत्याख्यान कहलाता है।

21. कायोत्सर्ग — दैवसिक, रात्रिक आदि क्रियाओं में पच्चीस या सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण से तथा चौवन, एक सौ आठ आदि श्वासोच्छ्वास पूर्वक णमोकार मंत्र का स्मरण करना। काय — शरीर से उत्सर्ग — ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

यहाँ तक इक्कीस मूलगुण हुए हैं, अब शेष सात गुण को भी स्पष्ट करते हैं।

22. (1) लोंच—अपने हाथ से अपने सिर, दाढ़ी और मूंछ के बाल उखाड़ना केशलोंच मूलगुण है। केश में जूँ आदि जीव पड़ जाने से हिंसा होगी या उन्हें संस्कारित करने के लिए तेल, साबुन आदि की जरूरत होगी, जो कि साधु पद के विरुद्ध होगा अतः दीनता, याचना, परिग्रह, अपमान आदि दोषों से बचने के लिए यह क्रिया है। लोंच के दिन उपवास करना होता है और लोंच करते या कराते समय मौन रखना होता है।

इसके उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद हैं—दो महीने पूर्ण होने पर उत्तम, तीन महीने में मध्यम और चार महीने पूर्ण होने पर जघन्य केशलोंच कहलाता है । चार महीने के ऊपर हो जाने पर साधु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

23. (2) अचेलकत्व—सूती, रेशमी आदि वस्त्र, पत्र, वल्कल आदि का त्याग कर देना, नग्न वेश धारण करना अचेलकत्व है। यह महापुरुषों द्वारा ही स्वीकार किया जाता है, तीनों जगत में वंदनीय महान पद है। वस्त्रों के ग्रहण करने से परिग्रह, आरंभ, धोना, सुखाना और याचना करना आदि दोष होते हैं, अतः निष्परिग्रही साधु के यह व्रत होता है।

24. (3) अस्नानव्रत—स्नान, उबटन आदि रूप शरीर के संस्कारों का त्याग करना, अस्नान व्रत है। धूलि से धूसरित, मलिन शरीरधारी मुनि कर्ममल को धो डालते हैं। चांडालादि अस्पृश्यजन, हड्डी, चर्म, विष्ठा आदि का स्पर्श हो जाने से वे मुनि दंडस्नान करके गुरु से प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं।

25. (4) भूमिशयन—निर्जंतुक भूमि में घास या पाटा अथवा चटाई पर शयन करना भूमिशयन व्रत है। ध्यान, स्वाध्याय आदि से या गमनागमन से आई शारीरिक थकान को दूर करने हेतु स्वल्प निद्रा का विधान है।

26. (5) अदंतधावन—नीम की लकड़ी, ब्रुश आदि से दातौन नहीं करना। दाँतों को नहीं घिसने से इंद्रियसंयम होता है, शरीर से विरागता प्रगट होती है और सर्वज्ञ देव की आज्ञा का पालन होता है।

27. (6) स्थिति भोजन—खड़े होकर अपने दोनों हाथों की अंजुलि बनाकर श्रावक के द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करना स्थिति भोजन है। आर्यिकाएँ बैठकर करपात्र में आहार ग्रहण करती हैं।

28. (7) एक भक्त—सूर्योदय के अनंतर तीन घड़ी के बाद और सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक दिन में सामायिक काल के सिवाय कभी भी एक बार आहार ग्रहण करना एकभक्त है। आजकल प्रायः नौ बजे से ग्यारह बजे तक साधु जन आहार को जाते हैं। कदाचित् एक बजे से भी जा सकते हैं। दिन में एक बार ही आहार को निकलना चाहिए। कदाचित् लाभ न मिलने पर उस दिन पुनः आहारार्थ नहीं जाना चाहिए।

1.6 आर्यिकाओं के ये 28 मूलगुण कैसे होते हैं?-

इस बात का खुलासा परमपूज्य गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित 'आर्यिका' नामक पुस्तक में है। यथा—

प्रायश्चित्त ग्रंथ में आर्यिकाओं के लिए आज्ञा प्रदान की है कि "आर्यिकाओं को अपने पहनने के लिए दो साड़ी रखना चाहिए। इन दो वस्त्रों के सिवाय तीसरा वस्त्र रखने पर उसके लिए प्रायश्चित्त होता है।"

इन दो वस्त्रों का ऐसा मतलब है कि दो साड़ी लगभग 16-16 हाथ की रहती हैं। एक बार में एक ही पहनना होता है, दूसरी धोकर सुखा देती हैं जो कि द्वितीय दिवस बदली जाती है। सोलह हाथ की साड़ी के विषय में आगम में कहीं वर्णन नहीं आता है, मात्र गुरु परम्परा से यह व्यवस्था चली आ रही है, आगम में तो केवल दो साड़ी मात्र का उपदेश है।

चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के प्रथम पट्टशिष्य आचार्य श्री वीरसागर महाराज (ज्ञानमती माताजी के दीक्षा गुरु) कहते थे कि दो साड़ी रखने से आर्यिका का **'आचेलक्य'** नामक मूलगुण कम नहीं होता है किन्तु उनके लिए आगम की आज्ञा होने से यही मूलगुण है। हाँ! तृतीय साड़ी यदि कोई आर्यिका रखती है, तो उसके मूलगुण में दोष अवश्य आता है। इसी प्रकार से **'स्थितिभोजन'** मूलगुण में मुनिराज खड़े होकर आहार करते हैं और आर्यिकाओं को बैठकर आहार लेना होता है, यह भी शास्त्र की आज्ञा होने से उनका मूलगुण ही है। यदि कोई आर्यिका

आगमाज्ञा उलंघन कर खड़ी होकर आहार ले लेवे तो अवश्य उसका मूलगुण भंग होता है। इसीलिए उनके भी अट्ठाईस मूलगुण मानने में कोई बाधा नहीं है। यही कारण है कि आर्यिकाओं को उपचार से महाव्रती संज्ञा दी गई है।

आर्यिकाएँ साड़ीमात्र परिग्रह धारण करते हुए भी लंगोटी मात्र अल्पपरिग्रह धारक ऐलक के द्वारा पूज्य हैं। जैसा कि सागारधर्मामृत में प्रकरण आया है—

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतं।
अपिभाक्तममूर्च्छत्वात् साटिकेऽप्यार्यिकार्हति।।36।।

पण्डित श्री आशाधर जी कहते हैं कि अहो! आश्चर्य है कि ऐलक लंगोटी में ममत्व परिणाम होने से उपचार से भी महाव्रती नहीं हो सकता है किन्तु आर्यिका साड़ी धारण करने पर भी ममत्व परिणाम रहित होने के कारण उपचार से महाव्रती कहलाती है क्योंकि ऐलक तो लंगोटी का त्याग कर सकता है फिर भी ममत्व आदि कारणों से धारण किए है किन्तु आर्यिका तो साड़ी त्याग करने में असमर्थ है। उनकी यह साड़ी बिना सिली हुई होनी चाहिए अर्थात् सिले हुए वस्त्र पहनने का उनके लिए निषेध है।

आचारसार ग्रंथ में भी वर्णन आया है—

देशव्रतान्वितैस्तासामारोप्यैते बुधैस्ततः।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः।।89।।

अर्थात् गणधर आदि देवों ने उन आर्यिकाओं की सज्जाति आदि को सूचित करने के लिए उनमें उपचार से महाव्रत का आरोपण करना बतलाया है। साड़ी धारण करने से आर्यिकाओं में देशव्रत ही होते हैं परन्तु सज्जाति आदि कारणों से गणधर आदि देवों ने उनके देशव्रतों में उपचार से महाव्रतों का आरोपण किया है।

प्रायश्चित्त ग्रंथ में भी आर्यिकाओं को मुनियों के बराबर प्रायश्चित्त का विधान है तथा क्षुल्लक आदि को उनसे आधा इत्यादि रूप से है—

साधूनां यद्वदुद्दिष्टमेवमार्यागणस्य च।
दिनस्थान त्रिकालोनं प्रायश्चित्तं समुच्यते।।

जैसा प्रायश्चित्त साधुओं के लिए कहा गया है, वैसा ही आर्यिकाओं के लिए कहा गया है। विशेष इतना है कि दिन, प्रतिमा, त्रिकालयोग चकार शब्द से अथवा अन्य ग्रंथों के अनुसार पर्यायच्छेद (दीक्षा छेद) मूलस्थान तथा परिहार ये प्रायश्चित्त भी आर्यिकाओं के लिए नहीं हैं।

आर्यिकाओं के लिए दीक्षाविधि भी अलग से नहीं है। मुनिदीक्षा विधि से ही उन्हें दीक्षा दी जाती है।

इन सभी कारणों से स्पष्ट है कि आर्यिकाओं के व्रत, चर्या आदि मुनियों के सदृश हैं।

कुल मिलाकर निष्कर्ष यह निकलता है कि एक-एक मूलगुण को अतिचार रहित पालन करने वाली आर्यिका मुक्तिपथ की अनुगामिनी होती है। यही व्यवस्था अनादिकाल से चली आ रही है। वर्तमान में भी यही व्यवस्था देखने में आती है कि ये आर्यिकाएँ एक साड़ी पहनती हैं, जिससे उनका सम्पूर्ण शरीर ढका रहता है, हाथ में मयूर पंख की पिच्छी रखती हैं तथा शौच का उपकरण काठ या नारियल का कमंडलु रखती हैं।

1.7 आर्यिकाओं के 28 कायोत्सर्ग—

मुनि-आर्यिकाओं के दैनिक 28 कायोत्सर्ग होते हैं जो कि प्रातःकाल से रात्रिविश्राम के पूर्व तक किये जाते हैं। उन्हीं का स्पष्टीकरण किया जाता है—

सर्वप्रथम प्रातःकाल से इन कायोत्सर्गों का शुभारंभ होता है। यूँ तो साधु जीवन में प्रतिक्षण स्वाध्याय, अध्ययन आदि की प्रमुखता होने से शुभोपयोग ही रहता है तथापि आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कृतिकर्म विधिपूर्वक उन्हीं

क्रियाओं को करने का आदेश दिया है, जिनमें कायोत्सर्गों की गणना हो जाती है। यहाँ एक कायोत्सर्ग का अभिप्राय 27 स्वासोच्छ्वास में 9 बार णमोकार मंत्र जपना है।

रात्रि एक बजे के पश्चात् से लेकर सूर्योदय से 2 घड़ी पूर्व तक यथाशक्ति स्वाध्याय करना चाहिए, इसे अपररात्रिक स्वाध्याय कहते हैं। स्वाध्याय प्रारंभ करने से पूर्व स्वाध्याय प्रतिष्ठापन हेतु लघु श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति संबंधी दो कायोत्सर्ग होते हैं पुनः स्वाध्याय के पश्चात् स्वाध्याय निष्ठापन हेतु श्रुतभक्ति संबंधी एक कायोत्सर्ग होता है, ऐसे एक स्वाध्याय करने में 3 कायोत्सर्ग करने होते हैं। यद्यपि यह विधि अधिक प्रचलन में नहीं है, प्रायः 9 बार णमोकार मंत्र मात्र पढ़कर लोग स्वाध्याय प्रारंभ कर देते हैं और अन्त में भी 9 बार णमोकार मंत्र पढ़कर स्वाध्याय समापन कर देते हैं किन्तु आगमानुसार उपर्युक्त विधि आवश्यक होती है। पुनः रात्रि संबंधी दोषों का शोधन करने हेतु गणिनी माताजी के पास रात्रिक प्रतिक्रमण करना होता है, जिसमें सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, वीरभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति इन चार भक्तिसंबंधी 4 कायोत्सर्ग होते हैं पुनः रात्रियोग निष्ठापन करने हेतु योगभक्ति संबंधी एक कायोत्सर्ग होता है।

इसके अनंतर सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व और दो घड़ी पश्चात् तक के संधिकाल में पौर्वाण्हिक सामायिक की जाती है। इस सामायिक में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति संबंधी दो कायोत्सर्ग होते हैं। अनंतर पौर्वाण्हिक स्वाध्याय सूर्योदय के दो घड़ी बाद होता है, उसमें भी पूर्वोक्त 3 कायोत्सर्ग होते हैं।

पुनः आहारचर्या सम्पन्न होती है। उसके पश्चात् आर्यिकाएँ मध्यान्ह की सामायिक करती हैं जिसमें 2 कायोत्सर्ग होते हैं। सामायिक का जघन्य काल 2 घड़ी अर्थात् 48 मिनट होता है। इससे अधिक घंटे,दो घंटे भी सामायिक की जा सकती है। अनंतर मध्यान्ह की चार घड़ी बीत जाने पर अपराण्हिक स्वाध्याय किया जाता है जिसमें 3 कायोत्सर्ग होते हैं। इसके पश्चात् दिवस संबंधी दोषों के क्षालन हेतु सभी आर्यिकाएँ सामूहिकरूप से दैवसिक प्रतिक्रमण करती हैं, जिसमें 4 कायोत्सर्ग होते हैं पुनः अपनी वसतिका में आकर सामायिक से पूर्व रात्रियोग प्रतिष्ठापन के लिए योगभक्ति करती हैं जिसका एक कायोत्सर्ग होता है। रात्रियोग का मतलब यह है कि 'मैं आज रात्रि में इस वसतिका में ही निवास करूँगी' क्योंकि साधुजन रात्रि में यत्र-तत्र विचरण नहीं करते हैं। मल-मूत्रादि विसर्जन के लिए भी दिन में ही स्थान देख लेते हैं जो कि वसतिका के आसपास ही होता है।

अनंतर आर्यिकाएँ सायंकालिक सामायिक (देववंदना) करती हैं उसमें उपर्युक्त दो कायोत्सर्ग होते हैं, पुनः पूर्वरात्रिक स्वाध्याय के तीन कायोत्सर्ग करती हुई अपने अहोरात्रि के 28 कायोत्सर्ग प्रतिदिन पूर्ण सावधानी पूर्वक करती हैं पुनः महामंत्र का स्मरण करते हुए रात्रि विश्राम करती हैं।

यही चर्या मुनि-आर्यिकाओं की प्राचीनकाल से चली आ रही है अतः समस्त आर्यिकाओं को इन्हीं क्रियाओं का पालन करना चाहिए। यदि कोई आर्यिका विदुषी हैं तो दैनिक कर्तव्यों का पालन करते हुए उसमें से समय निकालकर भव्य प्राणियों को धर्म प्रवचन सुनाकर लाभान्वित भी करती हैं।

इस प्रकार संक्षेप में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में दीक्षित आर्यिकाओं के 28 कायोत्सर्ग का वर्णन किया गया है।

1.8 आर्यिकाओं के लिए न करने योग्य कार्य कौन से हैं—

आर्यिकाओं को मुनियों की वंदना करने के लिए अकेले नहीं जाना चाहिए। गणिनी आर्यिका के साथ अथवा दो-चार आर्यिकाएं मिलकर जाना चाहिए। अकेले बैठकर दिगम्बर मुनियों से वार्तालाप नहीं करना चाहिए तथा मुनियों की सेवा, वैयावृत्ति कदापि नहीं करना चाहिए।

मुख्यरूप से स्त्रीलिंग का छेद करने हेतु ही आर्यिका दीक्षा धारण की जाती है अतः इस पवित्र दीक्षा को प्राप्त करके सदैव जीवन को वैराग्यमयी बनाना चाहिए। गृहस्थियों की किन्हीं रागजनित बातों में उन्हें रुचि नहीं लेनी चाहिए क्योंकि गृहसंबंधी समस्त कार्य उनके लिए त्याज्य हो जाते हैं। बीमार होने पर स्वयं अपने हाथ से किसी प्रकार की औषधि भी

वे नहीं बनाती हैं। अपनी गणिनी गुरु से ही अपना दु:ख बालकवत् बताना चाहिए, तब वे स्वयं उसके योग्य औषधि श्रावकों के द्वारा बनवाकर आहार में दिलवाती हैं।

मुनियों के समान ही ये आर्यिकाएं श्रावक के घर में करपात्र में आहार ग्रहण करती हैं उसके पश्चात् श्रावक इनके कमण्डलु में गरम जल भर देते हैं। बिना गरम किया हुआ कच्चा जल वे नहीं छूती हैं। श्राविकाएँ या तो छने जल से इनकी साड़ी धोकर सुखा देती हैं अथवा ये स्वयं कमण्डलु के जल से साड़ी धोकर सुखा सकती हैं। आर्यिकाएं साबुन आदि का प्रयोग नहीं कर सकती हैं। वे दो, तीन या चार महीने में अपने सिर के बालों का लोच करती हैं। मुनियों की वसतिका में आर्यिकाओं का रहना, लेटना, बैठना आदि वर्जित है।

मासिक धर्म की अवस्था में आर्यिकाएं तीन दिन तक मौन से रहती हैं तथा जिनमंदिर से अलग वसतिका में रहकर मानसिकरूप से महामंत्र का एवं बारह भावनाओं का चिंतन करती हैं। सामायिक, प्रतिक्रमण आदि भी केवल मन में चिन्तवनरूप से करती हैं। ओष्ठ, जिह्वा आदि न हिलने पाए, ऐसा मंत्र-स्तोत्रादि का चिंतन भी चलता है। वे इस अवस्था में किसी का स्पर्श भी नहीं करती हैं।

आचारसार ग्रंथ में वर्णन आया है—

ऋतौ स्नात्वा तु तुर्येन्हि, शुद्धंत्यरसभुक्तयः।
कृत्वा त्रिरात्रमेकांतरं वा सज्जपसंयुताः।।90।।

अर्थात् रजस्वला अवस्था में तीन दिनों तक यदि उपवास की शक्ति नहीं है तो छहों रस का त्याग कर नीरस आहार करती हैं तथा चौथे दिन कोई श्राविका इन्हें गरम जल से स्नान करा देती है, तब वह आर्यिका शुद्ध होकर अपनी गणिनी के पास जाकर प्रायश्चित्त ग्रहण करती हैं।

यह तो पहले बताया ही जा चुका है कि आर्यिकाएं बैठकर करपात्र में भोजन ग्रहण करती हैं। आर्यिकाएं उपचार से महाव्रती होती हैं और वे पंचम गुणस्थान से ऊपर नहीं जा सकती हैं तथापि चतुर्विध संघ में मुनियों के बाद आर्यिका की पदवी मानी जाती है। ऐलक और क्षुल्लक दीक्षा में उनसे प्राचीन भी क्यों न हों, फिर भी वे आर्यिकाओं को "**वंदामि**" कहकर नमस्कार करते हैं और आर्यिकाएँ उन्हें "समाधिरस्तु" आशीर्वाद प्रदान करती हैं। गुणस्थान व्यवस्था तीनों की एक सदृश है, फिर भी कर्मनिर्जरा क्षुल्लक-ऐलक की अपेक्षा आर्यिका की अधिक होती है चूँकि वे एक साड़ी धारण करती हुई भी मुनियों के समान अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करती हैं।

1.9 आहार विधि—

चतुर्विध संघ की क्रम परम्परा में आहारचर्या के लिए आर्यिकाएँ मुनियों के पश्चात् जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करती हुई क्रमपूर्वक निकलती हैं। श्रावक-श्राविकाएँ अपने-अपने चौके के सामने उनका पड़गाहन करते हैं।

हे माताजी! वंदामि-वंदामि, अत्र तिष्ठ-तिष्ठ, आहार जल शुद्ध है। इतना बोलने पर जब एक-दो आदि आर्यिकाएँ वहाँ खड़ी हो जाती हैं, तब दातार उनकी प्रदक्षिणा लगाकर उन्हें चौके में ले जाते हैं और स्वच्छ पाटे पर बैठने के लिए निवेदन करते हैं कि माताजी! उच्चासन पर विराजिए। पुनः आसन ग्रहण कर लेने पर उनके चरण प्रक्षालन करके गंधोदक मस्तक पर चढ़ाते हैं और अष्टद्रव्य से पूजा करके नमस्कार करते हैं।

इसके पश्चात् थाली में भोजन परोसकर और जल, दूध आदि सामने लाकर दिखाती हैं। आर्यिका माताजी का जो कुछ त्याग होता है, वे उसे निकलवा देती हैं, तब दातार शुद्धि बोलकर आहार शुरू करवाते हैं।

यह नवधाभक्ति की प्रक्रिया है। जैसा कि आचार्यों ने कहा भी है—

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मणवयणकाय-सुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं।।

आहार के काल में श्रावकों के द्वारा यह नवधाभक्ति करनी आवश्यक होती है। जैसा कि चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज की संघ परम्परा में चला आ रहा है। यदि यह पूरी नवधाभक्ति चौके में नहीं होती है तो आर्यिकाएँ बिना आहार किए ही चौके से वापस आ जाती हैं। इस प्रकार से नवधाभक्ति होने के बाद, आहार शुरू करने से पूर्व, आर्यिका माताजी हाथ धोकर प्रत्याख्यान निष्ठापन क्रियापूर्वक सिद्धभक्ति करती हैं। जैसे—'नमोस्तु आहारप्रत्याख्यान-निष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं'' बोलकर 9 बार णमोकार मंत्र पढ़कर लघु सिद्धभक्ति और अंचलिका पढ़कर हाथ की अंजुलि बनाती हैं, जिसमें दातार सर्वप्रथम गरम प्रासुक जल देते हैं पुनः भोजन, दूध आदि क्रमपूर्वक देते हैं। यदि किसी रोग के निमित्त से औषधि आदि की आवश्यकता होती है तो श्रावक उसी समय शुद्ध प्रासुक दवा भी दे देते हैं। आहार पूरा होने के बाद हाथ धोकर, कुल्ला करके वहीं पर लघु सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेती हैं और कमण्डलु में जल भराकर वहाँ से आ जाती हैं। साथ में श्रावक-श्राविका उनके स्थान तक पहुँचाने के लिए उनके साथ भी आते हैं।

वे आर्यिका जी आहार से वापस आकर अपनी गणिनी के पास पुनः प्रत्याख्यान—अगले दिन आहार ग्रहण करने तक चतुराहार का त्याग कर देती हैं।

चौके में पहुँचकर प्रत्याख्यान निष्ठापन करने तथा आहार के बाद चौके में प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन एवं उसके पश्चात् गुरु के पास आकर प्रत्याख्यान ग्रहण करने की यह समस्त विधि आचारसार, अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथों में वर्णित है।

इस संदर्भ में यहाँ प्रश्न उठा है कि—

जब गुरु के पास प्रत्याख्यान आवश्यक है तो चौके में साधु प्रत्याख्यान क्यों ग्रहण कर लेते हैं?

इसका समाधान देते हुए कहा है कि यदि चौके से अपनी वसतिका में गुरु के पास आते हुए मार्ग में मरण भी हो जाये तो वह प्रत्याख्यानपूर्वक होगा, इसलिए चौके में भी प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है।

1.10 आहार के 46 दोष—

श्रावक और साधु दोनों के निमित्त से आहार में कुछ दोषों की संभावना होती है। उन दोषों को टालकर आहार करना आहारशुद्धि कहलाती है। उद्गम दोष, उत्पादन दोष, एषणा दोष, संयोजना दोष, प्रमाण दोष, इंगाल दोष, धूम दोष और कारण दोष इन आठ दोषों से रहित आहार शुद्धि होती है। दातार के निमित्त से हुए दोष उद्गम दोष हैं। साधु के द्वारा आहार में हुए दोष उत्पादन संज्ञक हैं। भोजन संबंधी दोष एषणा दोष हैं। संयोग से होने वाला संयोजना दोष है। प्रमाण से अधिक आहार लेना प्रमाण दोष है। लंपटतापूर्वक आहार लेना इंगाल दोष है। दातार की या भोजन की निंदा करके आहार लेना धूम दोष है और विरुद्ध कारणों से बना हुआ आहार लेना कारण दोष है।

इनमें से उद्गम के 16, उत्पादन के 16, एषणा के 10 तथा संयोजना, प्रमाण, इंगाल और धूम ये 46 दोष होते हैं, जिनका विशेष वर्णन चरणानुयोग के ग्रंथ मूलाचार आदि से जानना चाहिए।

इन सबसे अतिरिक्त एक अधःकर्म दोष है, जो महादोष कहलाता है। इसमें कूटना, पीसना, रसोई करना, पानी भरना और झाड़ू लगाना ऐसे पंचसूना नाम के आरंभ से षट्कायिक जीवों की विराधना होने से यह दोष गृहस्थाश्रित है। इसको करने वाली आर्यिका वास्तव में आर्यिका नहीं मानी जाती है। यह बात निश्चित है कि गणिनी आर्यिका के संघ में या चतुर्विध संघ में रहने वाली आर्यिकाओं में इस दोष की संभावना कथमपि नहीं रहती है। हाँ! एकाकी विचरण करने वाली आर्यिका या साधु में यह दोष कदाचित् संभव हो सकते हैं। इसीलिए कुंदकुंद स्वामी ने आज्ञा दी है—

''मा भूद मे सत्तु एगागी'' अर्थात् इस पंचमकाल में मेरा कोई शत्रु साधु भी एकाकी विचरण न करे क्योंकि एकलविहार में और भी कई दोष लगने का भय रहता है। स्त्रीपर्याय होने के नाते आर्यिकाओं को हमेशा समूह बनाकर ही रहना चाहिए ताकि समस्तचर्या का निर्बाध रूप से पालन हो सके।

1.11 आर्यिकाओं की 13 क्रियाएं कौन-कौन सी हैं?-

छह आवश्यक क्रियाएँ, पंचपरमगुरु की वंदना तथा असही-निसही ये तेरह क्रियाएँ आर्यिकाएँ प्रतिदिन करती हैं। इनमें से आवश्यक क्रियाओं का वर्णन तो पहले किया जा चुका है, ऐसे ही पृथक्-पृथक् या एक साथ पंचपरमेष्ठी की वंदना भी की जाती है। असही और निसही का मतलब यह है कि वसतिका से बाहर जाते समय आर्यिकाएं नौ बार 'असही' शब्द का उच्चारण करें तथा वसतिका में प्रवेश करते समय नौ बार 'निसही' शब्द का उच्चारण करें।

आर्यिकाएँ अपनी आवश्यक क्रियाओं का पालन करते हुए शेष समय निरन्तर शास्त्र स्वाध्याय, अध्ययन-अध्यापन में लगाती हैं। वे सूत्र ग्रंथों का भी अध्ययन कर सकती हैं। जैसा कि आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने मूलाचार ग्रंथ में स्पष्ट किया है—

'अस्वाध्याय काल में मुनि और आर्यिकाओं को सूत्रग्रंथों का अध्ययन नहीं करना चाहिए किन्तु साधारण अन्य ग्रंथ अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकते हैं।' इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि आर्यिकाएँ भी स्वाध्यायकाल में सिद्धांत ग्रंथों को पढ़ सकती हैं।

दूसरी बात यह है कि आर्यिकाएँ द्वादशांग श्रुत के अन्तर्गत ग्यारह अंगों को भी धारण कर सकती हैं, जैसा कि हरिवंशपुराण में कथन आया है—

द्वादशांगधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी।
एकादशांगभृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना।।

अर्थात् मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांग के पाठी होकर भगवान के गणधर हो गये और आर्यिका सुलोचना भी ग्यारह अंगों की धारक हो गईं।

वर्तमान में दिगम्बर सम्प्रदाय में ग्यारह अंग और चौदह पूर्व की उपलब्धि नहीं है, उनका अंश मात्र उपलब्ध है अतः उन्हीं का अध्ययन करना चाहिए।

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुसार साध्वियों के दो भेद हैं—आर्यिका और क्षुल्लिका। अभी तक संक्षेप में आर्यिका का स्वरूप बतलाया है, कुछ श्राविकाओं की आर्यिका दीक्षा के पूर्व क्षुल्लिका दीक्षा भी लेने की परम्परा रही है अतः उनकी क्रियाओं के बारे में भी संक्षेप में यहाँ वर्णन है—क्षुल्लिकाएँ ग्यारह प्रतिमा के व्रतों को धारण कर दो धोती और दो दुपट्टे का परिग्रह रखती हैं। इनकी समस्त चर्या क्षुल्लक के सदृश होती है। ये केशलोच करती हैं अथवा कैंची से दो, तीन या चार महीने में सिर के केश निकालती हैं। ये भी आर्यिकाओं के पास में रहती हैं, उनके पीछे आहार को निकलकर पड़गाहन विधि से श्रावकों के यहाँ पात्र में भोजन ग्रहण करती हैं। इस प्रकार से स्त्रियों में साध्वीरूप में आर्यिका और क्षुल्लिका ये दो भेद ही होते हैं। दोनों के पास मयूर पिच्छिका रहती है। पहचान के लिए क्षुल्लिका के पास चादर रहती है और पीतल या स्टील का कमण्डलु रहता है।

प्राचीन ग्रंथों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि पूर्व में अधिकतर आर्यिकाएँ ही आर्यिका दीक्षा प्रदान करती थीं। तीर्थंकरों के समवसरण में भी जो आर्यिका सबसे पहले दीक्षित होती थीं, वे ही गणिनी के भार को संभालती थीं। तीर्थंकर देव के अतिरिक्त किन्हीं आचार्यों द्वारा आर्यिका दीक्षा देने के उदाहरण प्रायः कम मिलते हैं। इन आर्यिकाओं की दीक्षा के लिए जैनेश्वरी दीक्षा शब्द भी आया है। इन्हें **महाव्रतपवित्रांगा** भी कहा है और **संयमिनी, संयतिका** संज्ञा भी दी है।

जब आर्यिकाओं के व्रत को उपचार से महाव्रत कहा है और सल्लेखनाकाल में उपचार से निर्ग्रंथता का आरोपण किया है इसीलिए वे मुनियों के सदृश वंदनीय होती हैं, ऐसा समझकर आगम की मर्यादा को पालते हुए आर्यिकाओं की नवधाभक्ति करके उन्हें आहारदान देना चाहिए और समयानुसार यथोचित भक्ति करना, उन्हें पिच्छी-कमण्डलु, शास्त्र आदि दान भी देना चाहिए।

आर्यिकाओं की उत्कृष्ट चर्या चतुर्थकाल में ब्राह्मी, चंदना आदि माताएँ पालन करती थीं तथा पंचमकाल के अंत तक भी ऐसी चर्या का पालन करने वाली आर्यिका होती रहेंगी। जब पंचमकाल के अन्त में वीरांगज नाम के मुनिराज, सर्वश्री नाम की आर्यिका, अग्निदत्त श्रावक और पंगुश्री श्राविका इस प्रकार चतुर्विध संघ होगा, तब कल्की द्वारा मुनिराज के आहार का प्रथम ग्रास टैक्स के रूप में मांगने पर अन्तराय करके चतुर्विध संघ सल्लेखना धारण कर लेगा, तभी धर्म, अग्नि और राजा तीनों का अन्त हो जायेगा। अतः भगवान महावीर के शासन में आज तक अक्षुण्ण जैनशासन चला आ रहा है। मुनि-आर्यिकाओं की परम्परा भी इसी प्रकार से पंचमकाल के अन्त तक चलती रहेगी, इसमें कोई संदेह नहीं है।

1.12 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-आर्यिकाओं के मूल गुण कितने होते हैं ?

(क) 20 ☐
(ख) 26 ☐
(ग) 28 ☐

प्रश्न 2-समिति के कितने भेद है ?

(क) 3 ☐
(ख) 6 ☐
(ग) 5 ☐

प्रश्न 3-साधु के आहार के कितने दोष बताए हैं ?

(क) 15 ☐
(ख) 30 ☐
(ग) 46 ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-पाँच महाव्रत के नाम बताते हुए सत्य महाव्रत का लक्षण लिखो ?

प्रश्न 2-पंचेन्द्रिय निरोध का लक्षण क्या है ?

प्रश्न 3-केशलोच मूलगुण का लक्षण लिखो ?

प्रश्न 4-मुनि-आर्यिकाओं के 6 आवश्यक के नाम बताते हुए प्रत्याख्यान आवश्यक का लक्षण लिखो ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-ब्रह्मचर्य व्रत के विषय में 'अनंतमती' कन्या का कथानक लिखिए ?

पाठ 2 – आर्यिकाओं की आगमोक्त विनय विधि

2.1 भारतदेश की पवित्र वसुन्धरा पर जैनशासन के अनुसार मुनि-आर्यिका, क्षुल्लक-क्षुल्लिका रूप चतुर्विध संघ परम्परा की व्यवस्था अनादिकाल से चली आ रही है। उनमें जहाँ दिगम्बर मुनियों को धर्मेश्वर के अंश कहकर सम्बोधित किया गया है, वहीं आर्यिका माताओं को "सद्धर्मकन्या" संज्ञा प्रदान की गई है। यथा—

तत्र प्रत्यक्षधर्माणो, धर्मेशांशो इवामलाः।
भासन्ते वरदस्याग्रे, वरदत्तादियोगिनः।।149।।

अर्थात् वहाँ (भगवान नेमिनाथ के समवसरण में) उत्कृष्ट वर को प्रदान करने वाले भगवान नेमिनाथ के आगे-समक्ष वरदत्त को आदि लेकर अनेक मुनि सुशोभित थे, जो धर्म के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाले एवं अत्यन्त निर्मल धर्मेश्वर के अंश जान पड़ते थे।।149।।

ह्रीदयाक्षान्तिशान्त्यादि, गुणालंकृतसंपदः।
समेत्योपविशन्त्यार्या, सद्धर्मतनया यथा।।151।। (हरिवंशपुराण, सर्ग 57, पृ. 656)

उसके बाद तीसरी सभा में लज्जा, दया, क्षमा, शान्ति आदि गुणरूपी सम्पत्ति से सुशोभित आर्यिकाएँ विराजमान थीं, जो सद्धर्मतनया अर्थात् समीचीन धर्म की पुत्रियों के समान जान पड़ती थीं।।151।।

मुनिराजों को सैद्धान्तिक व्यवस्थानुसार छठा-सातवाँ गुणस्थान माना जाता है और आर्यिकाओं को पंचमगुणस्थानवर्ती कहा गया है। इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि आर्यिकाएँ श्रावक-श्राविकाओं के समान देशव्रती श्राविका हैं। चरणानुयोग ग्रंथों में मुनियों को सकलसंयमी, महाव्रती कहा है और आर्यिकाओं को उपचार महाव्रती कहा है, जैसा कि आचारसार ग्रंथ में श्री आचार्य वीरनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है—

अर्थात् बुद्धिमान आचार्यों के द्वारा उन आर्यिकाओं की सज्जाति की ज्ञप्ति के लिए देशव्रतों के साथ उपचार से महाव्रतों का आरोपण किया जाता है।

इस प्रकार आचार्यश्री के उपर्युक्त कथन से यह पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं के ऊपर महाव्रतों का आरोपण किया जाता है।

आर्यिकाओं को महाव्रती मानना उनके किसी अभिमान पुष्टि के लिए नहीं समझना चाहिए अपितु जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा एवं प्राचीनतम गुरु परम्परा के संरक्षण की दृष्टि से ही यहाँ विभिन्न प्रमाण प्रस्तुत हैं—

2.2 कतिपय आगम प्रमाण—

जैसा कि पद्मपुराण में श्री रविषेणाचार्य ने कहा है—

महाव्रतपवित्रांगा, महासंवेगसंगता।
देवासुरसमायोगं, ययौ चोद्यानमुत्तमम्।।81।। (भाग 3, पर्व 106, पृ. 284)

अर्थात् महाव्रतों के द्वारा जिसका शरीर पवित्र हो चुका था तथा जो महासंवेग को प्राप्त थी, ऐसी सीता देव और असुरों के समागम से सहित उत्तम उद्यान में चली गई।।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिका महाव्रतों से पवित्र रहती हैं।

यही कारण है कि ऐलक के पास एक लंगोटी मात्र का परिग्रह होने पर भी एक साड़ी धारण करने वाली आर्यिकाएँ ऐलक से पूज्य होती हैं। जैसा कि सागारधर्मामृत में पं. आशाधर जी ने कहा है—

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतं।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति।।37।। (पृ. 518)

अर्थ— आश्चर्य है कि लंगोटी मात्र में ममत्व भाव रखने से उत्कृष्ट श्रावक उपचरित भी महाव्रत के योग्य नहीं है

और आर्यिका साड़ी में भी ममत्व भाव न रखने से उपचरित महाव्रत के योग्य होती है।

प्रवचनसार ग्रंथ में कहा है—

तम्हा तं पडिरूवं, लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं।
कुलरूववओजुत्ता, समणीओ तस्समाचारा।। (प्रवचनसार)

टीका— .....तत्प्रतिरूपं वस्त्रप्रावरणसहितं लिंगं चिन्हं तासां स्त्रीणां जिनवरैः सर्वज्ञैः निर्दिष्टं कथितम्।.....युक्ता भवन्ति। काः ? श्रामण्यार्यिकाः। पुनरपिं किं विशिष्टाः? तासां स्त्रीणां योग्यस्तद्योग्य आचारशास्त्रविहित समाचार आचरणं यासां तास्तत्समाचाराः इति।

अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने उन आर्यिकाओं का चिन्ह वस्त्र आच्छादन सहित कहा है.....आचारशास्त्र में उनके योग्य जो आचरण कहा गया है, उसको पालने वाली हों, ऐसी आर्यिका होनी चाहिए। इस गाथा में आचार्य कुंदकुंददेव ने आर्यिकाओं को समणीओ अर्थात् श्रमणी संज्ञा दी है। इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान जिनेन्द्र की आज्ञास्वरूप उपचार महाव्रत धारण करने वाली श्रमणी आर्यिका ही है।

सूत्रपाहुड़ में आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव ने जहाँ "णिच्चेल-पाणिपत्तं.....इत्यादि गाथा नं. 10 के द्वारा दिगम्बर मुनिमार्ग के अतिरिक्त शेष मुद्राओं को अमार्ग–उन्मार्ग कहा है, वहीं सूत्रपाहुड़ की गाथा नं. 7 में कहा है—

सूत्तत्थपयविणट्ठो, मिच्छाइट्ठी हु सो मुणेयव्वो।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स।।7।।

अर्थात् जो मनुष्य सूत्र के अर्थ और पद से रहित है उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए, वस्त्र सहित को क्रीड़ामात्र में भी पाणिपात्र—करपात्र में भोजन नहीं करना चाहिए अतः आर्यिकाओं को भी पाणिपात्र में आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए यह कथन पुष्ट होता है किन्तु गाथाओं का अर्थ ग्रंथ में पूर्वापर संबंध जोड़कर करना चाहिए अर्थात् सवस्त्र मुनि (श्वेताम्बर साधु की अपेक्षा कथन है) का यहाँ करपात्र में भोजन का निषेध है, आर्यिकाओं को करपात्र में आहार लेने का विधान है अथवा सचेल—किसी गृहस्थ को पाणिपात्र में कभी भोजन नहीं लेना चाहिए।

णिच्चेलपाणिपत्तं.....आदि गाथा नं. 10 की टीका में श्री श्रुतसागर सूरि ने स्पष्ट कहा है कि सेसा य अमग्गया सव्वे-शेषा मृगचर्म-वल्कल-कर्पासपट्टकूल-रोमवस्त्र-तट्ट-गोणीतृण-प्रावरणादिसर्वे, रक्तवस्त्रादि पीताम्बरादयश्च विश्वे अमार्गाः संसारपर्यटनहेतुत्वान्मोक्षमार्गा न भवन्तीति भव्यजनैर्ज्ञातव्यम्।"

इसका हिन्दी अनुवाद करते हुए पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने लिखा है—

"इसके सिवाय (निर्ग्रन्थ मुनिवेष के अतिरिक्त) मृगचर्म, वृक्षों के वल्कल, कपास, रेशम, रोम से बने वस्त्र, टाट तथा तृण आदि के आवरण को धारण करने वाले सभी साधु तथा लाल वस्त्र, पीले वस्त्र को धारण करने वाले सभी लोग अमार्ग हैं, संसार परिभ्रमण के हेतु होने से ये मोक्षमार्ग नहीं हैं, ऐसा भव्य जीवों को जानना चाहिए।"

यह उपर्युक्त कथन दिगम्बर जैन साधुओं के सिवाय अन्य साधुओं की अपेक्षा है किन्तु आर्यिकाओं अथवा ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं पर कदापि घटित नहीं होता है क्योंकि दिगम्बर मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक-क्षुल्लिका के वेष तो जिनशासन के सर्वमान्य अनादि और प्राकृतिक पद हैं उन्हें किसी व्यक्ति विशेष ने स्थापित नहीं किया है।

यहाँ ध्यान दीजिएगा कि क्या सूत्रपाहुड़ की गाथा आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक-क्षुल्लिका पर घटित करके आप इन्हें अमार्गी—जिनमार्ग से बहिर्भूत सिद्ध करना चाहेंगे ? क्योंकि आर्यिकाएं लज्जा-शील आदि गुणस्वरूप श्वेत साड़ी धारण करती हैं, ऐलक गेरुए या सफेद रंग की लंगोट पहनते हैं, क्षुल्लकगण गेरुए या सफेद रंग की लंगोट और दुपट्टा ये दो वस्त्र ग्रहण करते हैं तथा क्षुल्लिका सफेद धोती और दुपट्टा ये दो वस्त्र उपयोग करती हैं। यह जिनशासन कथित मार्ग के अनुसार प्रवृत्ति होती है अतः ये कभी अमार्ग—उन्मार्ग नहीं कहे जा सकते हैं। यहाँ यह भी विशेष ज्ञातव्य है कि

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने ये दर्शनपाहुड़, चारित्रपाहुड़, सूत्रपाहुड़, बोधपाहुड़ आदि रूप अष्टपाहुड़ों को अनादिनिधन दिगम्बर जिनशासन से निर्गत नूतन पन्थ (जैनाभास) के विरोध में लिखा है जिसे टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने जगह-जगह अपनी टीका में स्पष्ट किया है अतः उनके वाक्यों को अधूरे रूप में अथवा तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करके चतुर्विध संघ की मर्यादा और पवित्रता को भंग नहीं होने देना चाहिए।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने मूलाचार के सामाचार अधिकार में कहा है—

एसो अज्जाणं पि य, सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्ते, विभासिदव्वो जहा जोग्गं।।187।।

इसकी आचारवृत्ति टीका में श्री वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य ने लिखा है—

एसो—एषः। **अज्जाणं पि य**—आर्याणामपि च। **सामाचारो**—सामाचारः। **जहक्खिओ**—यथाख्यातो यथा प्रतिपादितः। **पुव्वं**—पूर्वस्मिन्। **सव्वम्मि**—सर्वस्मिन्। **अहोरत्ते**—रात्रौ दिवसे च। **विभासिदव्वा**—विभाषयितव्यः प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा। **जहाजोग्गं**—यथायोग्यं आत्मानुरूपो वृक्षमूलादिरहितः। सर्वस्मिन्नहोरात्रे एषोपि सामाचारो यथायोग्यमार्यिकाणां आर्यिकाभिर्वा प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा यथाख्यातः पूर्वस्मिन्निति।।187।।

अर्थात् पूर्व में मुनियों की सामाचार विधि का जैसा निर्देश किया है, आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण कालरूप दिन और रात्रि में यथायोग्य—अपने अनुरूप अर्थात् वृक्षमूल, आतापन आदि योगों से रहित वही सम्पूर्ण सामाचार विधि आचरित करनी चाहिए। इस मूलाचार का हिन्दी अनुवाद पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने किया है, उसके भावार्थ में उन्होंने स्पष्ट किया है—

इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं के लिए वे ही अट्ठाईस मूलगुण और वे ही प्रत्याख्यान, संस्तर ग्रहण आदि तथा वे ही औधिक, पदविभागिक समाचार माने गये हैं जो कि यहाँ तक चार अध्यायों में मुनियों के लिए वर्णित हैं। मात्र 'यथायोग्य' पद से टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें वृक्षमूल, आतापन, अभ्रावकाश और प्रतिमायोग आदि उत्तर योगों के करने का अधिकार नहीं है और यही कारण है कि आर्यिकाओं के लिए पृथक् दीक्षाविधि या पृथक् विधि-विधान का ग्रन्थ नहीं है।

अन्यत्र आचारसार के अध्याय २ में भी कहा है—

लज्जाविनयवैराग्य, सदाचारादिभूषिते।
आर्याव्रते समाचारः संयतेष्वि किन्त्विह।।81।।

अर्थ—लज्जा, विनय, वैराग्य, सदाचार आदि से भूषित आर्यिकाओं के समूह में समाचार विधि संयतों के समान ही है किन्तु आतापन योग आदि कुछ विधि आर्यिकाओं के नहीं है।

इसी प्रकार मूलाचार प्रदीप में श्री सकलकीर्ति आचार्य ने आर्यिकाओं की समाचार नीति का वर्णन किया है—

अयमेव समाचारो, यथाख्यातस्तपस्विनाम्।
तथैव संयतीनां च, यथायोग्यं विचक्षणैः।।2290।।
अहो-रात्रेऽखिलो मुक्त्यै, विज्ञेयो हितकारकः।
वृक्षमूलादि-सद्योग-रहितो जिनभाषितः।।2291।।

अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य सदृश आपने भी आर्यिकाओं को "**संयतिका**" शब्द से संबोधित करके उन्हें मुनियों के सदृश ही दिन-रात समाचार विधि अपनाने का निर्देश किया है।

इन आर्यिकाओं को आगमानुसार सिद्धांतग्रंथ भी पढ़ने और लिखने का पूर्ण अधिकार है यह बात श्री कुन्दकुन्ददेव के शब्दों में सप्रमाण देखिए—

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गन्थो कप्पदि पढिदुमसज्झाये।।97।। (मूलाचार)

टीकांश—तत्सूत्रं पठितुमस्वाध्याये न कल्प्यते न युज्यते विरतवर्गस्य संयतसमूहस्य, स्त्रीवर्गस्य चार्यिकावर्गस्य च। (पृ. 233)

अर्थ—अस्वाध्याय काल में मुनि और आर्यिकाओं को उपर्युक्त सूत्रग्रंथों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए किन्तु इनसे भिन्न ग्रन्थ अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकते हैं।

हरिवंशपुराण में तो आर्यिका सुलोचना को ग्यारह अंग तक श्रुतज्ञान भी प्राप्त करने का प्रमाण दिया है—

दुःसंसारस्वभावज्ञा, सपत्नीभिः सितम्बरा।
ब्राह्मीं च सुन्दरीं श्रित्वा, प्रवव्राज सुलोचना।।51।।
द्वादशांगधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी।
एकादशांगभृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना।।52।।

अर्थ—संसार के दुष्ट स्वभाव को जानने वाली सुलोचना ने अपनी सपत्नियों के साथ सफेद वस्त्र धारण कर लिए और ब्राह्मी तथा सुन्दरी के पास जाकर दीक्षा ले ली।

मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांग के पाठी होकर भगवान् के गणधर हो गये और आर्यिका सुलोचना भी ग्यारह अंगों की धारक हो गई।।51-52।।

आचार्य कुन्दकुन्द रचित बोधपाहुड़ की गाथा नं. 22 की टीका में भी लिखा है कि—

णाणं पुरिसस्स हवदि, लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं, लक्खंतो मोक्खमग्गस्स।।22।। (षट्प्राभृत, पृ. 144)

टीकांश—"अपि शब्दात् ब्राह्मी-सुन्दरी, राजमती एवं चन्दनादिवत एकादशांगानि लभन्ते। मृगलोचनापि स्त्रीलिंगं छित्वा स्वर्गसुखं भुक्त्वा राजकुलादिषूत्पन्ना मोक्षं तृतीयेऽपि भवे लभन्ते।"

अर्थात् "यहाँ गाथा में 'सुपुरिसोवि-सत्पुरुषोऽपि' के साथ जो अपि शब्द दिया है उससे यह सूचित होता है कि ब्राह्मी-सुन्दरी, राजीमती (राजुल) तथा चन्दना आदि के समान स्त्रियाँ भी ग्यारह अंग तक श्रुतज्ञान प्राप्त करती हैं और वे भी स्त्रीलिंग छेदकर स्वर्गसुख का उपभोग कर राजकुल आदि में उत्पन्न हो तृतीय भव में मोक्ष को प्राप्त होती हैं।"

ये तो कतिपय प्रमाण यहाँ दिये गये हैं जिनसे मुनि और आर्यिका की सारी चर्या एक समान मानी गई है इसीलिए उनका प्रतिक्रमण एक ही है, उनकी दीक्षाविधि एक सदृश है और उनका प्रायश्चित्त भी एक समान है।

2.3 प्रायश्चित्तचूलिका ग्रंथ में आर्यिकाओं का प्रायश्चित्त भी मुनियों के समान बताया है—

साधूनां यद्वदुद्दिष्ट-मेवमार्यागणस्य च।
दिनस्थानत्रिकालीनं, प्रायश्चित्तं समुच्यते।।114।।

अर्थात् जैसा प्रायश्चित्त साधुओं के लिए कहा है वैसा ही आर्यिकाओं के लिए भी कहा गया है। विशेष इतना है कि दिन, प्रतिमा, त्रिकालयोग, पर्यायछेद, मूलस्थान तथा परिहार ये प्रायश्चित्त आर्यिकाओं के लिए नहीं है।।

इससे आधा क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं का एवं उससे आधा प्रायश्चित्त ब्रह्मचारियों को दिया जाता है।

इसी प्रकार प्रवचनसार, जीवंधर चम्पू, पद्मपुराण आदि ग्रंथों में आर्यिकाओं को समणी (श्रमणी) शब्द से सम्बोधित किया है। इनकी वंदना विधि एवं आहारकाल में नवधाभक्ति जैसी वर्तमानकाल में (चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर परम्परानुसार) चल रही है वह आगमानुकूल है।

2.4 यहाँ प्रसंगोपात्त साधु-साध्वियों को की जाने वाली वन्दना विधि पर भी आगम प्रमाण प्रस्तुत हैं—

जैनेश्वरी दीक्षा को धारण करने वाले मोक्ष की ओर उन्मुख महापुरुष त्रिकाल वंदनीय होते हैं, यह आगम एवं व्यवहार दोनों प्रकार से स्थापित सत्य है। परस्पर साधु-साधु एवं श्रावकों के द्वारा भी दिगम्बर जैन मुनि/आर्यिकाओं की वंदना का विधान जैनागम में निर्दिष्ट है, जिसके अनुसार मुनि महाराज को नमोस्तु, आर्यिका माता को वंदामि, ऐलक-क्षुल्लक-क्षुल्लिका जी को इच्छामि कहने की स्वस्थ परम्परा आगम के परिप्रेक्ष्य में आज तक चली आ रही है।

मूलाचार ग्रंथ-पूर्वार्द्ध (भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित) के पृष्ठ 439 पर गाथा 599 में जो विशेष कथन किया गया है, वह दृष्टव्य है—

संयतमप्येवं स्थितमेतेषु स्थानेषु च न वंदेतेत्याह—

वाखित्तपराहुत्तं तु पमत्तं मा कदाइ वंदिज्जो।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि।।599।।

व्याक्षिप्तं ध्यानादिनाकुलचित्तं परावृत्तं पराङ्मुखं पृष्ठदेशतः स्थितं प्रमत्तं निद्राविकथादिरतं मा कदाचिद् वंदिज्ज नो वंदेत संयतमिति संबंधस्तथाऽहारं च कुर्वन्तं भोजनक्रियां कुर्वाणं नीहारं वा मूत्रपुरीषादिकं यदि करोति तदाऽपि नो कुर्वीत वंदनां साधुरिति।

अर्थात् जो व्याकुलचित्त हैं, पीठ फेर कर बैठे हुए हैं या प्रमाद सहित हैं उन मुनियों की उस समय वंदना न करे और यदि आहार कर रहे हैं अथवा नीहार कर रहे हैं उस समय भी वंदना न करे।।599।।

केन विधानेन स्थितो वंद्यत इत्याशंकायामाह—

आसणे आसणत्थं च उवसंत उवट्ठिदं।
अणु विण्णय मेधावी किदियम्मं पउंजदे।।600।।

आसने विविक्तभूप्रदेशे आसनस्थं पर्यंकादिना व्यवस्थितं अथवा आसने आसनस्थमव्याक्षिप्तमपराङ्मुखमुपशांतं स्वस्थचित्तं उपस्थितं वंदनां कुर्वीत इति स्थित अनुविज्ञाप्य वंदनां करोमीति संबोध्य मेधावी प्राज्ञोऽनेन विधानेन कृतिकर्म प्रारभेत प्रयुंजीत विदधीतेत्यर्थः।

अर्थात् किस विधान से स्थित हों तो वंदना करे ? सो ही बताते हैं—

जो आसन पर बैठे हुए हैं, शांतचित्त हैं एवं सन्मुख मुख किए हैं उनकी अनुज्ञा लेकर विद्वान् मुनि वंदना विधि का प्रयोग करें।

यहाँ गाथा में जो कृतिकर्म शब्द है उसका अर्थ जानना है—

दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेव च।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे।।603।।

अर्थात् दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति और तीन शुद्धि सहित कृतिकर्म का प्रयोग करें। तात्पर्य यह है कि एक बार के कायोत्सर्ग में यह विधि सम्पन्न की जाती है, इसी का नाम कृतिकर्म है। यह विधि देववंदना (सामायिक), प्रतिक्रमण और सभी क्रियाओं में भक्तिपाठ के प्रारंभ में की जाती है। इसके प्रयोग की सम्पूर्ण विधि मूलाचार में दृष्टव्य है।

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जब किन्हीं विशेष श्रुतज्ञानी आचार्य महाराज की वंदना की जाती है तब लघु सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति एवं आचार्यभक्ति पढ़कर कृतिकर्मपूर्वक वंदना की जाती है (सामान्य आचार्य की वंदना में सिद्धभक्ति एवं आचार्यभक्ति का पाठ किया जाता है)। यह कृतिकर्मपूर्वक वंदना (प्रतिदिन गुरु की तीन बार करने का विधान है) करने हेतु है, सामान्यतया नमोस्तु करने हेतु नहीं परन्तु विहार के समय अथवा चलते-फिरते समय आचार्य महाराज की वंदना करने हेतु कृतिकर्म करना संभव नहीं हो सकता, तब सामान्यरूप से विनय प्रदर्शित करते हुए अपने

स्थान से उठकर खड़े होकर नमोस्तु कहकर पंचांग नमस्कार किया जाता है।

आहार के समय जब नवधाभक्ति की जाती है तो उससे पूर्व पड़गाहन के अनंतर नमोस्तु कहकर ही मुनि महाराज को चौके के अंदर प्रवेश कराया जाता है, पुनः नवधाभक्ति के अंतर्गत नमोस्तु करके ही आहार प्रारंभ कराया जाता है, इन दोनों ही स्थितियों में कृतिकर्मपूर्वक वंदना नहीं की जाती है। पुनः जब कोई श्रावक आहार के मध्य में आहार देने हेतु चौके में आते हैं तो मन-वचन-काय की शुद्धि बोलकर नमोस्तु करके ही मुनिराज को आहार देते हैं, वहाँ भी कृतिकर्म नहीं किया जाता है।

उपरोक्त स्थितियों में कृतिकर्मपूर्वक वंदना यद्यपि नहीं की जाती है तथापि सामान्यतया नमोस्तु किया जाता है।

आचार्य रविषेण कृत पद्मपुराण (तृतीय भाग) के 92 वें पर्व के 24 वें श्लोक में देखें—

पद्भ्यामेव जिनागारं प्रविष्टाः श्रद्धयोद्धया।
अभ्युत्थाननमस्यादिविधिना द्युतिनार्चिताः।।24।।

उन आकाशगामी मुनियों (सप्तऋषियों) ने उत्तम श्रद्धा के साथ भूमि पर पैदल चलकर ही जिनमंदिर में प्रवेश किया तब महामुनि आचार्य श्री द्युति महाराज ने खड़े होकर नमस्कार करना आदि विधि से उनकी पूजा (वंदना) की।

कहने का अभिप्राय यह है कि सप्तऋषि महाराज आसन पर विराजमान होते, उससे पूर्व उनको देखते ही आचार्य श्री द्युति महाराज उठकर खड़े हुए एवं उनको नमोस्तु (नमस्कार) किया। सामान्यतया भी देखा जाता है कि जब साधु कहीं मंदिर आदि में प्रवेश करते हैं तो उस समय साधु और श्रावकगण उठकर खड़े होते हैं और घुटने टेककर उन्हें पंचांग नमस्कार करते हैं। यदि प्रत्येक बार जब साधु शांतचित्त होकर बैठें तब उसके बाद साधु या श्रावक उनको नमस्कार करें तो समयानुसार यह व्यवस्था घटित ही नहीं हो पाएगी। इसके अतिरिक्त यदि कोई आचार्य ज्वर आदि से पीड़ित हैं अथवा क्षपक-समाधिरत हैं या लेटे हैं, तब भी उसी अवस्था में उनको नमोस्तु किया जाता है। उनको बैठने का आग्रह करके पुनः उनके बैठने पर ही नमोस्तु करने की प्रक्रिया व्यवहारिकरूप से भी उचित नहीं है अतः आगम में वर्णित नमस्कार विधि में हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि कृतिकर्मपूर्वक वंदना तो तब की जाती है जब आचार्य/साधु शांतचित्त विराजमान हों।

पद्मपुराण (तृतीय भाग) 92 वें पर्व के 34 वें श्लोक में स्पष्ट कहा गया है—

साधुरूपं समालोक्य न मुञ्चत्यासनं तु यः।
दृष्ट्वाऽपमन्यते यश्च स मिथ्यादृष्टिरुच्यते।।34।।

अर्थात् जो सामने आते मुनि को देखकर अपना आसन नहीं छोड़ता है तथा उन्हें देखकर उनका अपमान करता है अर्थात् सम्मान, नमोस्तु आदि नहीं करता है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है अर्थात् साधु को देखने मात्र से अपना स्थान छोड़कर खड़े होना एवं नमोस्तु करना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। साधुजन आसन ग्रहण कर लें, तभी उन्हें नमोस्तु किया जाये, यह आगम से भी विरुद्ध ठहरता है अतः आगम के रहस्य को सही प्रकार से हृदयंगम करना एवं सही प्रकार से प्रस्तुत करना चाहिए।

2.5 आर्यिका माताओं को नमस्कार करने का शास्त्रीय प्रमाण-

आर्यिका माताजी की वंदना करना एवं वंदना हेतु 'वंदामि' शब्द का प्रयोग करना सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में व्याप्त है। यह शास्त्रीय आधार से है। श्री इंद्रनंदि आचार्य विरचित 'नीतिसार समुच्चय' में पृ. 53 पर 'मुनि आदि को नमस्कार की विधि' देखें—

निर्ग्रन्थानां नमोऽस्तु स्यादार्यिकाणाञ्च वंदना।
श्रावकस्योत्तमस्योच्चैरिच्छाकारोऽभिधीयते।।51।।

टीका — निर्ग्रन्थानां यतीनां। परस्परं नमोऽस्तु इतिवाक्ये-नाचरेत्। आर्यिकाणां साध्वीनाम् अन्योन्यम् वंदना स्यात् वन्देऽहमिति वाक्येन संवदेत्। उत्तमस्य श्रावकस्य वानप्रस्थस्य परस्परं उच्चैः स्पष्टम्। इच्छाकारोऽस्तु। इच्छामि इतिवाक्येन चाभिधीयते व्यवह्रियते नियम्यते, अहं भवन्तमिष्टं पूज्यं गुरुवदनुमेने।।51।।

अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनिराजों को नमस्कार करते समय 'नमोस्तु' कहना चाहिए। आर्यिकाओं को 'वंदना—वंदामि' कहना चाहिए और उत्तम श्रावक अर्थात् दशवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकों को 'इच्छामि' वा इच्छाकार कहना चाहिए।

आर्यिका माताजी की वंदना की बात शास्त्रोक्त ही है। अन्य ग्रंथों में भी देखें—

नमोऽस्तु गुरवे कुर्याद्वन्दनां ब्रह्मचारिणे।
इच्छाकारं सधर्मिभ्यो वंदामीत्यार्यिकादिषु।।86।।

अर्थात् गुरुओं को "नमोऽस्तु" ब्रह्मचारियों को "वंदना" साधर्मियों को "इच्छाकार" और आर्यिकाओं को "वंदामि" करें।।86।।

यहाँ साधर्मी शब्द से दशवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक-ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका का पद विवक्षित है उन्हें इच्छाकार या इच्छामि कहकर नमस्कार किया जाता है तथा क्रम की विवक्षा में ब्रह्मचारी, साधर्मी के बाद आर्यिकाओं को लिया है सो यह क्रम भी पद की अपेक्षा विवक्षित नहीं है क्योंकि मुनि के बाद आर्यिका, पुनः ऐलक-क्षुल्लक-क्षुल्लिका तथा दशम प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक, उसके बाद ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी का क्रम आता है।

इस प्रकार जैनशासन के चतुर्विध संघ (मुनि-आर्यिका-क्षुल्लक-क्षुल्लिका) की समाचार विधि एवं नमस्कार करने की विधि को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। आप सभी इस नमस्कार पद्धति को अपनाकर सन्तों के आशीर्वाद से अपने जीवन को मंगलमयी बनावें, यही शुभेच्छा है।

2.6 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-आचारसार ग्रंथ के रचयिता कौन है ?

(क) आचार्य जिनसेन ☐ (ख) आचार्य समन्तभद्र ☐ (ग) आचार्य वीरनन्दि ☐

प्रश्न 2-पद्मपुराण ग्रंथ किसने लिखा ?

(क) आचार्य अकलंक देव ☐ (ख) आचार्य रविषेण ☐ (ग) आचार्य पूज्यपाद ☐

प्रश्न 3-चारित्र के कितने भेद है ?

(क) चार ☐ (ख) दो ☐ (ग) पाँच ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-मुनि और आर्यिकाओं का कौन सा गुणस्थान माना है ?

प्रश्न 2-कृतिकर्म शब्द का क्या अर्थ है ?

प्रश्न 3-चतुर्विध संघ में कौन आते हैं ?

प्रश्न 4-दिगम्बर मुनि एवं आर्यिकाओं को कौन सी संज्ञा प्रदान की है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-मुनि-आर्यिका आदि को नमोऽस्तु-वंदामि आदि करने का क्या विधान है ?

पाठ 3–मुनि और आर्यिका की चर्या में अन्तर

3.1 साधु का लक्षण वीतरागता है, पूर्ण वीतरागता यथाख्यातचारित्र में होती है, उस परमोच्च भाव का ध्येय बनाकर भव्य जीव मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होते हैं। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः" सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है। जीवादि सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं अथवा निज आत्मा के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। संशयादि दोषों से रहित जीवादि तत्त्वों का सच्चा स्वरूप जानना सम्यग्ज्ञान है। कर्मबन्ध के कारणभूत क्रियाओं से विरक्त होना सम्यक्चारित्र है, जैसा कि कहा है–भावानां याथात्म्यप्रतिपत्तिविषयं श्रद्धानं .....सम्यग्दर्शनं, येन येन प्रकारेण जीवादिपदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानं, संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्। (सर्वार्थसिद्धि-सूत्र 1 की टीका का अंश)

कर्मबंध की कारणभूत क्रिया मुख्यतया पाँच हैं-

हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म एवं परिग्रह इन पंच पापरूप क्रियाओं से विरत होना चारित्र है। यह प्रतिषेधरूप कथन है। विधिरूप विवेचन आचारसूत्रों में पाया जाता है।

वदसमिदिंदियरोधो लोचावासयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च।।208।।
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि।।209।।

गाथार्थ–पंचव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रियों का निरोध, केशों का लोंच, छह आवश्यक, अचेल (वस्त्र त्याग), अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, स्थितभोजन, एकभक्त ये अट्ठाईस मूलगुण जिनेन्द्र भगवान ने श्रमणों के लिये प्रतिपादित किये हैं।

3.2 अट्ठाईस मूलगुणों का विवरण-

अहिंसा महाव्रत–अंतरंग में भाव प्राणों का रक्षण और अन्य त्रस स्थावर सम्पूर्ण षट् जीवनिकाय का मन- वचन-काय आदि नव कोटि से रक्षण करना।

सत्य महाव्रत–सत् प्रशस्त वचन बोलना, सर्व प्रकार की कर्कश, परुष, पैशून्य आदि भाषा का त्याग और जनपद सत्य आदि दस प्रकार की भाषा रूप व्यवहार होना।

अचौर्य महाव्रत–अदत्तरूप सम्पूर्ण वस्तुओं का त्याग और दत्त होने पर भी श्रामण्य के योग्य वस्तु का ग्रहण।

ब्रह्मचर्य महाव्रत–जगत् के यावन्मात्र स्त्रियों का त्याग, उनके हाव–भाव विलास विभ्रमादि को नहीं देखना, अपने ही ब्रह्मस्वरूप आत्मा में रमण करना, नवकोटि से पूर्ण ब्रह्मभाव को प्राप्त करना।

परिग्रहत्याग महाव्रत–अभ्यंतर चौदह और बहिरंग दश प्रकार के परिग्रह से निवृत्त होना।

ईर्यासमिति–गमनागमन करते समय प्रासुक मार्ग से अग्रिम साढ़े तीन हाथ भूमि देखकर चलना। आलम्बन शुद्धि, मार्गशुद्धि, उद्योत शुद्धि एवं उपयोग शुद्धिपूर्वक गमन।

भाषा समिति–हित मित एवं प्रिय वचनालाप।

एषणा समिति–आहार सम्बन्धी छियालीस दोष और बत्तीस अन्तराय टाल कर आहार लेना।

आदाननिक्षेपण समिति–पुस्तकादि पदार्थों को नेत्र द्वारा देखकर एवं पिच्छिका से प्रमार्जन कर लेना और रखना।

प्रतिष्ठापन समिति–मल, मूत्र, कफ आदि को प्रासुक स्थान पर विसर्जित करना।

स्पर्शनेन्द्रिय निरोध–अष्ट प्रकार के स्पर्शों में इष्टानिष्ट विकल्पों का त्याग।

रसनेन्द्रिय निरोध–पंच प्रकार के रसों में से अपने को अच्छे लगने वाले में राग का त्याग, बुरे लगने वाले में द्वेष का त्याग।

घ्राणेन्द्रिय निरोध–सुगन्ध और दुर्गन्ध में रति और अरति का त्याग।

चक्षुरिन्द्रिय निरोध–पंच प्रकार के वर्ण, स्त्रियों के मनोहररूप एवं अन्य विषयों को देखकर उनमें रागादि नहीं करना।

कर्णेन्द्रिय निरोध–षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद स्वरों में तथा अन्य शब्द भाषादि में रागादि नहीं करना।

केशलोंच–उत्कृष्टरूप से दो मास में, मध्यमरूप से तीन मास में, जघन्यरूप से चार मास में मस्तक, दाढ़ी, मूँछ के केशों का स्वहस्त या परहस्त से उखाड़ना।

समता आवश्यक–जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में राग द्वेष का अभाव, त्रिसंध्याओं में सामायिक, देववंदना करना।

स्तव–आवश्यक–चतुर्विंशति तीर्थंकरों की भावपूर्वक स्तुति करना। नमस्कार करना।

वंदना–आवश्यक–एक तीर्थंकर या सिद्ध और साधु की कृतिकर्म सहित वंदना स्तोत्रादि करना।

प्रतिक्रमण-आवश्यक–अहोरात्रि में होने वाले दोषों का शोधन करना।

प्रत्याख्यान–आवश्यक–आगामी काल में अयोग्य वस्तुओं का त्याग।

कायोत्सर्ग–आवश्यक–स्तव आदि क्रियाओं में शास्त्रोक्त विधि से श्वासोच्छ्वास की विधि से युक्त एवं जिनगुणचिंतन सहित नमस्कार मंत्र जपना।

अचेलक गुण–पंच प्रकार के वस्त्र एवं आभूषणों का त्याग निर्विकार यथाजातरूप नग्नता धारण करना।

अस्नान–जलस्नान, उबटन, सुगन्धि लेपन का यावज्जीवन त्याग।

क्षितिशयन–पृथ्वी पर शयन, बिछौना, पलंगादि का त्याग।

अदंतधावन–दातौन नहीं, अर्थात् मंजन का त्याग।

स्थिति भोजन–खड़े होकर आहार, भित्ति स्तंभ आदि का सहारा लिए बिना खड़े–खड़े स्वपाणिपात्र में आहार लेना।

एकभक्त–दिन में एक बार भोजन। सूर्योदय के अनंतर तीन घड़ी बाद से लेकर सूर्यास्त होने के तीन घड़ी (72 मिनट) पहले तक साधुओं के आहार का योग्य समय है उक्त काल में यथा–समय एक बार आहार लेना।

इस प्रकार ये जैन दिगम्बर साधुओं के अट्ठावीस मूलगुण हैं। उत्तरगुण चौरासी लाख हैं। जिनकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। परीषह सहन, उपसर्ग सहन, द्वादश तप इत्यादि उत्तरगुण हैं। इन उत्तरगुणों के पालन में विकल्प हैं अर्थात् शक्ति हो तो पालें, शक्ति न हो तो न पालें।

3.3 साधुओं की समाचार विधि दश प्रकार की है, जैसा कि कहा है–

इच्छा मिच्छाकारो तधाकारो य आसिका णिसिही।
आपुच्छा पडिपुच्छा छंदन सणिमंतणा य उपसंपा।।–मूलाचार

अर्थ — इच्छाकार–रत्नत्रय धर्म में हर्षपूर्वक प्रवृत्ति।

मिथ्याकार–अतिचार होने पर उनसे निवृत्त होना।

तथाकार–गुरु से सूत्रार्थ सुनकर उनको सत्य कहकर अनुराग होना।

आसिका–जिनमंदिरादि से निकलते समय पूछकर निकलना।

निषेधिका–जिनमंदिरादि में प्रवेश करते समय पूछकर प्रवेश।

आपृच्छा–संशय दूर करने के लिए विनयपूर्वक पूछना।

प्रतिपृच्छा–निषिद्ध अथवा अनिषिद्ध वस्तु के विषय में पुनः पूछना।

छंदन–जिनके पुस्तकादि लिए हैं उनके स्वभाव के अनुकूल प्रवृत्ति करना।

सनिमंत्रणा–दूसरे के पुस्तकादि को सत्कारपूर्वक वापिस देना।

उपसंपत्–गुरु चरणों में अपने को अर्पण करना।

प्रतिदिन के साधुओं के आचरण को पदविभागी समाचार कहते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त दश प्रकार का औधिक समाचार और प्रतिदिन सम्बन्धी पदविभागी समाचार का वर्णन एवं मूलगुण और उत्तरगुणों का वर्णन मूलाचार आदि ग्रंथों में पाया जाता है। इन सम्पूर्ण आचरणों को मुनि और आर्यिका समानरूप से आचरण करते हैं।

जैसा कि कुन्दकुन्द आचार्य देव कहते हैं–

एसो अज्जाणंपि य समाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं।।

अर्थ–यह जो कहा गया समाचार है वह आर्यिकाओं को भी आचरण करना चाहिये, दिन–रात्रि सम्बन्धी जो आचार एवं मूलगुण पूर्व में कहे हैं उनमें आर्यिकाओं को यथायोग्य प्रवृत्ति करनी चाहिये।

और भी कहा है– **एवं विधाणचरियं चारित्तं जे साधवो य अज्जाओ।**
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति।।

अर्थात् इस प्रकार कहे गये विधि विधान के अनुसार जो मुनि और आर्यिका व्रतरूप चारित्र पालन करते हैं वे जगत् पूज्य होते हैं। कीर्ति और सुख को प्राप्त कर क्रमशः सिद्ध हो जाते हैं। मुनि के समान आर्यिकाओं को दीक्षा देते समय महाव्रतों का आरोप किया जाता है। मुनि और आर्यिकाओं की चर्या में अन्तर यह है कि मुनि निर्वस्त्र निरावरण होते हैं और आर्यिका सवस्त्र सावरण होती हैं क्योंकि आर्यिकाओं को भगवत् कुंदकुंद आचार्य देव की आज्ञा है कि–

लिंगं इच्छीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ।।22।।

अर्थ–स्त्रियों के योग्य आचरण यह है कि वे एक बार निर्दोष एषणा समिति युक्त भोजन करें। एक वस्त्रधारिणी आर्यिका है वस्त्रयुक्त ही आहार ग्रहण करें इत्यादि। अतः एक साड़ी धारण करना ही इनका गुण है अन्यथा जिनाज्ञा भंग का दोष होगा। इसी प्रकार आर्यिका बैठकर भोजन करें ऐसी आचार्यों की आज्ञा है, अतः यह मुनि के समान खड़े होकर आहार न करके बैठकर एक ही स्थिर आसन से आहार करती हैं यह एक अन्तर है। सामान्यतया ये दो अन्तर सवस्त्रता और बैठकर आहार, मुनि और आर्यिकाओं में पाये जाते हैं।

आर्यिकाओं को प्रतिमायोग धारण करना, वृक्षमूल, आतापन एवं अभ्रावकाश योग करने का निषेध है, यह मुनि और आर्यिका में अन्तर है।

वर्तमान पंचम काल में मुनि और आर्यिका दोनों के एकाकी विहार का निषेध है, चतुर्थकाल में मुनि यदि उत्तम संहननधारी एवं श्रुतज्ञ होवे तो उन्हें एकाकी विहार की आज्ञा है अन्य मुनि को नहीं। कर्मभूमि की स्त्रियों को सर्वकाल में हीन संहनन होने से चतुर्थ काल में भी एकाकी विहार की आज्ञा नहीं है। चतुर्थकाल की अपेक्षा मुनि–आर्यिका में यह एक अन्तर है।

किसी का कहना है कि आर्यिकायें सिद्धान्त ग्रंथ अथवा सूत्र ग्रन्थ–गणधरादि रचित ग्रंथ नहीं पढ़ सकतीं। किन्तु यह कथन उचित नहीं है। श्री कुंदकुंददेव स्वरचित मूलाचार में सूत्र का लक्षण करने के अनन्तर लिखते हैं कि–

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए।।

अर्थ–उक्त सूत्रग्रंथ अस्वाध्याय काल में मुनि और आर्यिका न पढ़ें, अस्वाध्याय काल में तो सूत्रग्रंथ से अन्य जो आराधना आदि ग्रंथ हैं वे पढ़ने योग्य हैं। यदि आर्यिका को सूत्रग्रंथ पढ़ना निषिद्ध होता तो वह एकादशांग ज्ञानधारिणी कैसे हो सकती थी ?

जैसा कि कहा है–

दुःसंसारस्वभावज्ञा सपत्नीभिः सितांबरा।
ब्राह्मी च सुन्दरीं श्रित्वा प्रवव्राज सुलोचना।।51।।
द्वादशांगधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरी गणी।
एकादशांगभृज्जाता साऽर्यिकापि सुलोचना।।52।।

अर्थ–भरत चक्रेश्वर के प्रमुख सेनानी जयकुमार की पट्टमहिषी प्रिया सती सुलोचना ने जगत् एवं काय के स्वभाव को दुःखस्वरूप ज्ञात कर सपत्नियों के साथ पूज्या ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की आदिनाथ भगवान् के समवसरण में स्थित प्रमुख आर्यिकाओं के निकट दीक्षा धारण की। जयकुमार ने उसके पूर्व दीक्षा ग्रहण की थी। उनको शीघ्र ही द्वादशांग का ज्ञान हुआ और वे भगवान् आदि प्रभु के गणधर बने। साध्वी सुलोचना आर्यिका भी एकादशांग ज्ञानधारिणी बनीं।आर्यिकाओं को सम्पूर्ण द्वादशांग का ज्ञान तो नहीं होता, किन्तु ग्यारह अंग तक ज्ञान हो सकता है यह उपर्युक्त श्लोकार्थों से स्पष्ट है।

स्त्रीवेदोदयजन्य कुछ कमियाँ या दोष आर्यिकाओं में सम्भव हो सकता था।

उनके लिये आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि–

अण्णोण्णणुकूलाओ अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ।
गयरोसवेरमाया, सलज्जमज्जाद किरियाओ।।68।।

अर्थ–आर्यिकायें आपस में मिलकर रहें, एक–दूसरे के अनुकूल व्यवहार करें, एक–दूसरे की रक्षा में तत्पर रहें, स्त्रियों में स्वभावतः रोष शीघ्र आता है, वैर विरोध, माया का आधिक्य भी रहता है अतः कहा है कि आर्यिकायें वैर एवं माया को छोड़ दें। लज्जा एवं मर्यादा का संरक्षण भी उन्हें अवश्य करना होगा। आर्यिकाओं के निवास के लिये कहा है–

अगिहत्थ मिस्सणिलये असण्णिवाए विशुद्धसंचारे।
दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीलो वा सहत्थंति।।

अर्थ–आर्यिका गृहस्थ में मिश्रित स्थान पर न रहे, परस्त्री लंपट, दुष्ट तथा पशु आदि से रहित स्थान में रहे, जहाँ पर गुप्त संचार योग्य अर्थात् मल–मूत्रादि के उत्सर्ग का प्रदेश न हो ऐसे स्थानों में दो, तीन अथवा बहुत सी आर्यिकाओं के साथ निवास करें।

3.4 आर्यिकाओं का वेष–

अविकारवत्थवेसाजल्लमलविलित्त धत्तदेहाओ।
धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूव विसुद्ध चरियाओ।।

अर्थ–स्त्रियों में स्वभावतः शृंगार प्रवृत्ति अधिक है, अतः कहा है कि आर्यिकायें विकार रहित वस्त्र पहनें अर्थात् शुक्ल सादी साड़ी मात्र पहनें, सिले हुए वस्त्र (पेटीकोट, ब्लाउज आदि) न पहनें। शरीर के पसीना आदि मल से युक्त रहें अर्थात् शरीर में ममत्व भाव से रहित होवें। जिनधर्म, अपने माता–पिता आदि का कुल तथा दीक्षादायक गुरु का कुल, उनकी कीर्ति–प्रसिद्धि आदि के अनुसार प्रशस्त व्यवहार युक्त होवे।

3.5 आहारार्थ आर्यिकाओं का गमन–

तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ।
थेरेहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा।।

अर्थ–तीन या पाँच अथवा सात आर्यिकायें आहारार्थ श्रावक के वसति में जावें, मार्ग में परस्पर रक्षा करती हुई जावें, साथ ही वृद्धा आर्यिकाओं से अन्तरित–सहित होकर गमन करें। भाव यह है कि ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये अकेली

स्त्री असमर्थ होती है अतः आहार कार्य में भी आर्या एकाकी न जावें, जहाँ सर्वथा परिचित श्रावक हैं उनके गृह में अकेली आहार के लिये जाना निषिद्ध नहीं है।

3.6 उनके लिये निषिद्ध क्रियायें-

रोदणण्हावण भोयण पयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खण धोवण गेयं च णवि कुज्जा।।

अर्थ-स्त्रियों में स्वभावतः रोना, गाना, भोजन पकाना, अनेक तरह का कूटना, पीसना आदि आरम्भ क्रिया में प्रवृत्ति होती है, अतः कहा है कि वे आर्यिकाएँ रुदन न करें, बालकों का स्नानादि न करावें, कपड़ा न सीवें, रसोई न बनावें। मुनिजनों का पादमर्दन, पाद प्रक्षालन न करें तथा गीत, नृत्य न करें, बाजे आदि न बजावें।

3.7 उनके करने योग्य कार्य-

अज्झयणे परियट्टे सवणे तहाणुपेहाये।
तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुवओगजुत्ताओ।।

अर्थ-आर्यिकायें मुनिजनों के समान ही अपना समय अध्ययन अर्थात् नवीन ग्रंथों का वाचन, परिवर्तन, अधीत ग्रंथ का पुनः अनुशीलन, अपूर्व अथवा पूर्व शास्त्रों का श्रवण करती रहें, बारह भावनाओं का सतत चिंतवन करें। द्वादश तप, पंच प्रकार का विनय, बारह प्रकार के संयमों में अपना उपयोग लगावें। सदा मन, वचन और काय की प्रवृत्ति शुभ रक्खें। इस प्रकार यह आर्यिका की प्रवृत्ति बतायी गयी है। इन सभी आगम प्रमाणों-मूलाचार, आचारसार आदि ग्रंथों से यह निश्चय होता है कि मुनि और आर्यिकाओं की चर्या में विशेष अन्तर नहीं है।

3.8 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-कर्मबंध की कारणभूत क्रिया कितनी हैं ?

(क) आठ ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) तीन ☐

प्रश्न 2-मुनि और आर्यिका के मूलगुण कितने होते हैं ?

(क) पच्चीस ☐ (ख) छब्बीस ☐ (ग) अट्ठाईस ☐

प्रश्न 3-साधुओं की समाचार विधि कितने प्रकार की है ?

(क) पाँच ☐ (ख) आठ ☐ (ग) दस ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-साधुओं के मूलगुण कितने हैं ? उनके नाम लिखो ?

प्रश्न 2-ईर्यासमिति का लक्षण क्या है ?

प्रश्न 3-आर्यिकाओं का वेष कैसा होना चाहिए ?

प्रश्न 4-आर्यिकाओं के करने योग्य कार्य कौन से हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-अहिंसादि पाँच महाव्रतों का लक्षण लिखें ?

पाठ 4 – ऐतिहासिक आर्यिकाएँ

4.1 इस युग में चतुर्थ काल प्रारंभ होने के पहले ही भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान होने के बाद ही उनके ही पुत्र वृषभसेन, जो कि पुरिमताल नगर के राजा थे, वे प्रभु से मुनि दीक्षा लेकर भगवान के प्रथम गणधर हो गये तथा भगवान की ही पुत्री ब्राह्मी, जो कि भरत चक्री की छोटी बहन थी, वह भी विरक्त होकर गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्यिका हो गई और बाहुबली की छोटी बहन सुन्दरी भी आर्यिका हो गई। ये ब्राह्मी समस्त आर्याओं में गणिनी— स्वामिनी थीं। अन्यत्र भी कहा है— धैर्य से युक्त ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों कुमारियाँ अनेक स्त्रियों के साथ दीक्षा ले आर्यिकाओं की स्वामिनी बन गईं।

भरत के सेनापति जयकुमार की दीक्षा के बाद सुलोचना ने भी ब्राह्मी आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर ली। अन्यत्र भी कहा है—

दुष्ट संसार के स्वभाव को जानने वाली सुलोचना ने अपनी सपत्नियों के साथ श्वेत साड़ी धारणकर ब्राह्मी तथा सुन्दरी के पास दीक्षा धारण कर ली। मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांग के पाठी होकर भगवान के गणधर हो गये और सुलोचना आर्यिका भी ग्यारह अंगों की धारक हो गई।

आर्यिकाओं या गणिनी से दीक्षा लेने के विषय में और भी अनेकों प्रमाण हैं—

कुवेरमित्र की स्त्री धनवती ने स्वामिनी अमितमती के पास दीक्षा धारण कर ली और उन यशस्वती और गुणवती आर्यिकाओं की माता कुबेरसेना ने भी अपनी पुत्री के समीप दीक्षा ले ली।"

वनवास के प्रसंग में जब मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने यह सुना कि कलिंगाधिपति अतिवीर्य राजा भरत के राज्य पर चढ़ाई करने वाला है, तब अतिवीर्य को पराजित करने का उपाय सोचा—

दूसरे दिन डेरे से निकलकर राम ने आर्यिकाओं से सहित जिनमंदिर देखा, सो हाथ जोड़कर बड़ी भक्ति से उसमें प्रवेश किया। वहाँ जिनेन्द्र भगवान को तथा आर्यिकाओं को नमस्कार किया, वहाँ आर्यिकाओं की जो वरधर्मा नाम की गणिनी थीं उनके पास सीता को रखा तथा सीता के पास ही अपने सब शस्त्र छोड़े।

वेष बदलकर श्रीराम और लक्ष्मण दोनों ही अतिवीर्य की सभा में पहुँचकर उसे पकड़कर हाथी पर सवार हो अपने परिजन के साथ वापस जिनमंदिर में आ गये। वहाँ हाथी से उतरकर मंदिर में प्रवेश कर जिनेन्द्र भगवान की बड़ी भारी पूजा की। मंदिर में सर्वसंघ के साथ जो **वरधर्मा नाम की गणिनी ठहरी हुई थीं, रामचन्द्र ने सीता के साथ संतुष्ट होकर उनकी भी भक्तिपूर्वक पूजा की।**

इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि पूर्व काल में भी आर्यिकाएँ जिनमंदिर में रहती थीं और बलभद्र, नारायण आदि महापुरुष भी उनकी वंदना-पूजा किया करते थे।

"रावण के मरण के बाद मन्दोदरी शशिकान्ता आर्यिका के मनोहारी वचनों से प्रबोध को प्राप्त हो उत्कृष्ट संवेग और उत्तम गुणों को प्राप्त हुई गृहस्थ वेष-भूषा को छोड़कर श्वेत साड़ी से आवृत्त हुई आर्यिका हो गई। उस समय अड़तालीस हजार स्त्रियों ने संयम धारण किया था। इन्हीं में रावण की बहन, जो कि खरदूषण की पत्नी थी, उस चन्द्रनखा ने भी दीक्षा ले ली थी।

माता कैकेयी भरत की दीक्षा के बाद विरक्त हो एक सफेद साड़ी से युक्त होकर तीन सौ स्त्रियों के साथ "पृथिवीमती" आर्यिका के पास दीक्षित हो गई थीं।"

अग्निपरीक्षा के बाद श्री रामचन्द्र ने सीता को घर चलने के लिए कहा तब सीता ने कहा कि अब मैं जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूँगी" वहीं केशलोच करके पुनः शीघ्र ही पृथिवीमती आर्यिका के पास दीक्षित हो गईं।"

उनके बारे में लिखा है कि वह वस्त्रमात्र परिग्रहधारिणी, महाव्रतों से पवित्र अंग वाली महासंवेग को प्राप्त थीं।

हनुमान विरक्त होकर धर्मरत्न मुनिराज के समीप मुनि हो गये, तब उनके साथ सात सौ पचास विद्याधर राजाओं ने भी दीक्षा ले ली।

उसी समय शीलरूपी आभूषणों को धारण करने वाली राजस्त्रियों ने बंधुमती आर्यिका के पास दीक्षा ले ली।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र ने श्रीसुव्रत मुनिराज से दीक्षा धारण की थी, उस समय कुछ अधिक सोलह हजार साधु हुए और सत्ताईस हजार स्त्रियाँ "श्रीमती" नामक आर्यिका के पास आर्यिका हुईं।

सीता के आर्यिका जीवन का वर्णन करते हुए जैन रामायण में बताया है कि धूलि से मलिन वस्त्र से जिनका वक्षस्थल तथा शिर के बाल सदा आच्छादित रहते थे, जो स्नान के अभाव में पसीना से उत्पन्न मैलरूपी कंचुक को धारण कर रही थी, जो चार दिन, पक्ष आदि के उपवास करती थी, शीलव्रत और मूलगुणों के पालन में तत्पर-अध्यात्म के चिंतन में लीन रहती थी, विहार के समय उसे अपने और पराये लोग भी नहीं पहचान पाते थे, इस प्रकार बासठ वर्ष तक उत्कृष्ट तप करके तथा पैंतीस दिन की उत्तम सल्लेखना धारण करके वह आर्यिका सीता इस शरीर को छोड़कर आरण-अच्युत युगल के प्रतीन्द्र पद को प्राप्त हो गई अर्थात् स्त्रीलिंग को छोड़कर प्रतीन्द्र हो गई।

किसी समय कनकोदरी महादेवी पट्टरानी ने अभिमानवश सौत के प्रति क्रोध करने से गृहचैत्यालय की जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा को कुछ क्षणों के लिए बावड़ी में डाल दिया था, इसी बीच में संयमश्री नामक आर्यिका ने आहार के लिए उसके घर में प्रवेश किया। संसार में प्रसिद्ध महातपस्विनी संयमश्री ने जिनेन्द्र की प्रतिमा का अनादर देखकर दु:खी होकर आहार का त्याग कर दिया और कनकोदरी को उपदेश देना शुरू किया तथा कहा कि यदि मैं तुझे न सम्बोधन करूँ तो मुझे भी प्रमाद का बहुत बड़ा दोष होगा। तूने नरक-निगोदों में निवास कराने वाला ऐसा महापाप किया, अब उससे विरत हो।' इत्यादि उपदेश सुनकर कनकोदरी संसार के दु:खों से डर गयी और आर्यिकाश्री से सम्यक्त्व और श्रावक के व्रत ले लिये। प्रतिमाजी को पूर्व स्थान में विराजमान करके नाना प्रकार से उसकी पूजा करके प्रायश्चित्त आदि किया। कालांतर में वही अंजना हुई, तब उसी पाप के फल से उसे बाईस वर्ष तक पति का वियोग सहना पड़ा था।"

भगवान नेमिनाथ को केवलज्ञान होने के बाद समवसरण रचना हो गई। उस समय राजा वरदत्त ने प्रभु से दीक्षा लेकर गणधर पद प्राप्त किया और राजीमती भी छह हजार रानियों के साथ दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में प्रधान गणिनी हो गईं।

राजा चेटक की पुत्री चन्दना कुमारी एक स्वच्छ वस्त्र धारणकर (भगवान महावीर के समवसरण में) आर्यिकाओं में प्रमुख हो गईं।

रानी चेलना राजा श्रेणिक की मृत्यु के बाद भगवान के समवसरण में चन्दना गणिनी के पास जाकर दीक्षित हो गईं, जो कि चन्दना की बड़ी बहन थीं।

जीवन्धर कुमार ने अपने मामा और नन्दाढ्य आदि जनों के साथ भगवान के समवसरण में दीक्षा ले ली और उनकी आठों रानियों ने भी महादेवी विजया के साथ चन्दना आर्यिका के पास उत्तम संयम धारण कर लिया।

आर्यिकाओं के संघ की एक नवदीक्षित आर्यिका ने पाँच यारों के साथ लताकुंज में एक वेश्या को प्रवेश करते हुए देखा, एक क्षण के लिए मन में यह भाव आ गया कि ऐसा सुख हमें भी प्राप्त हो, तत्पश्चात् गणिनी के पास जाकर आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण कर लिया और सल्लेखना से मरण किया फिर भी जन्मान्तर में द्रौपदी की अवस्था में स्वयंवर मंडप में उसने मात्र अर्जुन के गले में माला डाली थी किन्तु हवा से माला का धागा टूट जाने से पाँचों पांडवों पर फूल गिर गये, उस समय लोगों ने चर्चा कर दी कि द्रौपदी ने पाँच पति चुने हैं। ऐसा झूठा अपवाद उसे उतने मात्र भावों से हुआ।"

गुणरूपी आभूषण को धारण करने वाली कुन्ती, सुभद्रा तथा द्रौपदी ने भी राजीमती गणिनी के पास उत्कृष्ट दीक्षा ले ली। अन्त में तीनों के जीव सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए हैं। आगे वहाँ से च्युत होकर नि:संदेह मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

कुन्ती, द्रौपदी तथा सुभद्रा आदि जो स्त्रियाँ थीं, सब राजीमती आर्यिका के समीप तप में लीन हो गईं।

इन सब उदाहरणों से यह देखना है कि पूर्व में आर्यिकाएँ ही आर्यिका दीक्षा देती थीं। सबसे प्रथम तीर्थंकर देव के समवसरण में जो आर्यिका दीक्षित होती थीं, वे ही गणिनी के भार को संभालती थीं। तीर्थंकर देव के अतिरिक्त किन्हीं आचार्य द्वारा आर्यिका दीक्षा के उदाहरण आगम में प्रायः कम मिलते हैं तथा इन आर्यिकाओं की दीक्षा के लिए जैनेश्वरी दीक्षा शब्द भी आया है। इन्हें "महाव्रतपवित्रांगा" भी कहा है और इन्हें "संयमिनी" संज्ञा भी दी है। श्रमणी, साध्वी आदि भी नाम कहे हैं। ये आर्यिकाएँ इन्द्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि महापुरुषों द्वारा भी वंदनीय रही हैं।

जब आर्यिकाओं के व्रत को उपचार से महाव्रत कहा है और सल्लेखना काल में उपचार से निर्ग्रन्थता का आरोपण किया है, तब वे मुनियों के समान भी वंदनीय क्यों नहीं होंगी ? अवश्य होंगी। ऐसा समझकर आगम की मर्यादा को पालते हुए आर्यिकाओं की नवधाभक्ति करके उन्हें आहारदान देना चाहिए और समयानुसार यथोचित भक्ति करना, उन्हें पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र, वस्त्र (सफेद साड़ी) आदि दान भी देना चाहिए।

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि आर्यिकाओं की 'नवधाभक्ति-पूजा आदि नहीं करना चाहिए, उन्हें सोचना चाहिए कि जब स्वयं श्री कुन्दकुन्द देव ने कह दिया कि इनकी सब चर्या मुनि के समान है केवल वृक्षमूलयोग आदि को छोड़कर तथा रामचन्द्र जैसे महापुरुषों ने भी आर्यिकाओं की पूजा की, पुनः शंका ही क्या रहती है ? अतः आर्यिकाओं को अट्ठाईस मूलगुणधारिणी, उपचार-महाव्रतसहित मानकर उनकी नवधाभक्ति आदि में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

4.2 प्राचीन आर्यिकाएँ-

4.2.1 गणिनी आर्यिका ब्राह्मी-सुन्दरी-

आदि ब्रह्मा तीर्थंकर ऋषभदेव के दो रानियाँ थीं — यशस्वती और सुनन्दा। बड़ी रानी यशस्वती ने भरत, वृषभसेन आदि सौ पुत्रों को जन्म दिया, पश्चात् एक कन्या को जन्म दिया जिसका नाम ब्राह्मी रक्खा गया। सुनन्दा के कामदेव बाहुबली पुत्र हुए और एक कन्या हुई जिसका नाम सुन्दरी रक्खा गया। ये दोनों कन्यायें अपनी बालक्रीड़ा से सभी के मन को हरण करती रहती थीं। क्रम-क्रम से इन कन्याओं ने किशोरावस्था को प्राप्त कर लिया।

एक समय तीर्थंकर ऋषभदेव सिंहासन पर सुख से बैठे हुए थे। ये दोनों पुत्रियाँ मांगलिक वेषभूषा में पिता के निकट पहुँचीं। विनय के साथ उन्हें प्रणाम किया। तब तीर्थंकर ऋषभदेव ने शुभ आशीर्वाद देकर उन दोनों पुत्रियों को उठाकर प्रेम से अपनी गोद में बिठा लिया। उनके मस्तक पर हाथ फेरा, हँसकर बोले-

"आओ बेटी! तुम समझती होंगी कि हम आज देवों के साथ अमरवन को जायेंगे परन्तु अब तुम नहीं जा सकती क्योंकि देवलोग पहले ही चले गये।" इत्यादि प्रकार से कुछ क्षण हास्य-विनोद के बाद प्रभु ने कहा-

"पुत्रियों! तुम दोनों शील और विनय आदि गुणों के कारण इस किशोरावस्था में भी वद्धा के समान हो। तुम दोनों का यह शरीर, यह अवस्था और यह अनुपम शील यदि विद्या से विभूषित कर दिया जाए तो तुम दोनों का यह जन्म सफल हो सकता है। इसलिए हे पुत्रियों! तुम विद्या ग्रहण करने में प्रयत्न करो क्योंकि तुम्हारे विद्या ग्रहण करने की यही उम्र है।"

तीर्थंकर ऋषभदेव ने ऐसा कहकर तथा बार-बार आशीर्वाद देकर अपने चित्त में स्थित श्रुतदेवता को आदरपूर्वक सुवर्ण के विस्तृत पट्टे पर स्थापित किया पुनः **'सिद्धं नमः'** मंगलाचरण करके अपनी दाहिनी तरफ बैठी हुई ब्राह्मी को दाहिने हाथ से "अ आ इ ई" आदि वर्णमाला लिखकर लिपि लिखने का उपदेश दिया और बाईं तरफ बैठी सुन्दरी पुत्री को बायें हाथ से 1, 2 ,3 आदि अंक लिखकर गणित विद्या को सिखाया। इस प्रकार ब्राह्मी पुत्री ने आदिब्रह्मा पिता के मुख से स्वर-व्यंजन युक्त विद्या सीखी, इसी कारण आज वर्णमालालिपि की ब्राह्मीलिपि कहते हैं तथा सुन्दरी ने गणित

शास्त्र को अच्छी तरह से सीखा था। वाङ्मय के बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है। व्याकरण शास्त्र, छन्द शास्त्र और अलंकार शास्त्र इन तीनों के समूह को वाङ्मय कहते हैं।

उन दोनों पुत्रियों ने सरस्वती देवी के समान अपने पिता के मुख से संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित शब्द तथा अर्थपूर्ण समस्त वाङ्मय का अध्ययन किया था। उस समय स्वयंभू ऋषभदेव का बनाया हुआ एक बड़ा भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध हुआ था। उसमें सौ से भी अधिक अध्याय थे और वह समुद्र के समान अत्यन्त गम्भीर था। प्रभु ने अनेक अध्यायों में छन्दशास्त्र का उपदेश दिया था और उसके उक्ता, अत्युक्ता आदि छब्बीस भेद भी दिखलाये थे। अनेक विद्याओं के अधिपति भगवान ने प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एकद्वित्रिलघुक्रिया, संख्या और अध्वयोग, छन्दशास्त्र ने इन छह प्रत्ययों का भी निरूपण किया था। प्रभु ने अलंकार संग्रह ग्रंथ में उपमा, रूपक, यमक आदि अलंकारों का कथन किया था। उनके शब्दालंकार और अर्थालंकार रूप दो भागों का विस्तार के साथ वर्णन और माधुर्य, ओज आदि दश प्राण (गुणों) का भी निरूपण किया था।

अनंतर ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियों की पदज्ञान-व्याकरणज्ञानरूपी दीपिका से प्रकाशित हुई समस्त विद्यायें और कलायें अपने आप ही परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो गई थीं। इस प्रकार गुरु अथवा पिता के अनुग्रह से समस्त विद्याओं को प्राप्त कर वे दोनों इतनी अधिक ज्ञानवती हो गई थीं कि साक्षात् सरस्वती भी उनमें अवतार ले सकती थी।

जगद्गुरु ऋषभदेव ने इसी प्रकार अपने एक सौ पुत्रों को भी सर्वविद्या और कलाओं में पारंगत कर दिया था। इसके बाद आदिप्रभु ऋषभदेव असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन 6 कर्मों द्वारा प्रजा को आजीविका के उपाय बतलाकर प्रजापति, ब्रह्मा, विधाता, स्रष्टा आदि नामों से पुकारे गये थे।

एक समय नीलांजना के नृत्य को देखते हुए प्रभु को वैराग्य प्राप्त हो गया और स्वयंबुद्ध हुए प्रभु लौकांतिक देवों के द्वारा स्तुति को प्राप्त करके स्वयं "**ॐ नमः सिद्धेभ्यः**" मंत्रोच्चारण- पूर्वक मुनि बन गये। छह महीने का योग धारण कर लिया। उसके बाद जब चर्या के लिए निकले, तब किसी को भी आहार विधि का ज्ञान न होने से प्रभु को छह महीने तक आहार नहीं मिला। अनंतर हस्तिनापुर में राजा श्रेयांसकुमार को जातिस्मरण द्वारा आहार विधि का ज्ञान हो जाने से यहाँ उन्होंने वैशाख सुदी तीज के दिन प्रभु को इक्षुरस का आहार दिया था। दीक्षा के अनंतर एक हजार वर्ष तक तपश्चरण करने के बाद तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव को पुरिमतालपुर के बाहर उद्यान में केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। उसी समय देवों ने समवसरण की रचना कर दी।

पुरिमताल नगर के स्वामी वृषभसेन समवसरण के प्रभु का दर्शन करके दैगम्बरी दीक्षा लेकर भगवान के प्रथम गणधर हो गये। उसी क्षण सात ऋद्धियों से विभूषित और मनःपर्ययज्ञान से सहित हो गये। उसी समय सोमप्रभ, श्रेयांस आदि राजा भी दीक्षा लेकर भगवान के गणधर हुए थे।

ब्राह्मी की दीक्षा–भरत की छोटी बहन ब्राह्मी गुरुदेव की कृपा आर्यिका दीक्षा लेकर वहाँ समवसरण में सभी आर्यिकाओं में प्रधान गणिनी स्वामिनी हो गईं। बाहुबली की बहन सुन्दरी ने भी उसी समय आर्यिका दीक्षा धारण कर ली। हरिवंशपुराण में सुन्दरी आर्यिका को भी ब्राह्मी के साथ गणिनीरूप में माना है। उस काल में अनेक राजाओं ने तथा राजकन्याओं ने दीक्षा ली थी। भगवान के साथ जो चार हजार राजा दीक्षित हो भ्रष्ट हो गये थे उनमें मरीचिकुमार को छोड़कर शेष सभी ने समवसरण में दीक्षा ले ली थी।

उसी काल में भरत को एक साथ तीन समाचार मिले–पिता को केवलज्ञान की प्राप्ति, आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति और महल में पुत्ररत्न की प्राप्ति। भरत ने पहले समवसरण में पहुँचकर भगवान ऋषभदेव की पूजा की, अनंतर चक्ररत्न की पूजा कर पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। बाद में दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर दिया।

भगवान ऋषभदेव के समवसरण में चौरासी गणधर थे। चौरासी हजार मुनि, ब्राह्मी आदि तीन लाख, पचास हजार

आर्यिकायें थीं। दृढ़व्रत आदि तीन लाख श्रावक और सुव्रता आदि पाँच लाख श्राविकायें थीं।

इस प्रकार भगवान के समवसरण में जितनी भी आर्यिकायें थीं, सबने गणिनी ब्राह्मी आर्यिका से ही दीक्षा ली थी। जैसा कि सुलोचना के बारे में भी आया है। जयकुमार के दीक्षा लेने के बाद सुलोचना ने भी ब्राह्मी आर्यिका से दीक्षा ले ली।

आज जो किंवदन्ती चली आ रही है कि ब्राह्मी-सुंदरी ने पिता से पूछा– "पिताजी! इस जगत में आपसे बड़ा भी कोई है क्या?" तब पिता ऋषभदेव ने कहा–हाँ बेटी, जिसके साथ हम तुम्हारा विवाह करेंगे उसे हमें नमस्कार करना पड़ेगा, उसके पैर छूना पड़ेगा। इतना सुनकर दोनों पुत्रियों ने यह निर्णय किया कि हमें ब्याह नहीं करना है, हम ब्रह्मचर्यव्रत ले लेंगे।

यह किंवदन्ती बिल्कुल गलत है। किसी भी दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ में यह बात नहीं आई है। तीर्थंकरों का स्वयं का विवाह होता है तो भी वे अपने स्वसुर को नमस्कार नहीं करते यहाँ तक कि वे अपने माता-पिता को भी नमस्कार नहीं करते थे। तीर्थंकर शांतिनाथ चक्रवर्ती थे। उनके 96000 रानियों की पुत्रियाँ भी होंगी, सभी कुमारिकायें ही नहीं रहीं होंगी। विवाह के बाद जमाई के चरण छूना जरूरी नहीं है। भरत चक्रवर्ती आदि सम्राट भी अपनी कन्या को विवाहते थे किन्तु वे जमाई आदि किसी के पैर नहीं छूते थे प्रत्युत सब लोग उन्हीं के चरण छूते थे। अतः यह किंवदन्ती गलत है। ब्राह्मी-सुन्दरी ने स्वयं के वैराग्य से विवाह नहीं किया था।

दूसरी किंवदन्ती यह है कि जब बाहुबली ध्यान में खड़े थे, उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ, तब ब्राह्मी सुन्दरी ने जाकर सम्बोधन किया–भैया! गज से उतरो। यह भी गलत है क्योंकि भगवान को केवलज्ञान होते ही ब्राह्मी सुन्दरी ने दीक्षा ले ली थी। तभी भरत को चक्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। बाद में भरत ने 60 हजार वर्ष तक दिग्विजय किया है। इसके बाद भरत-बाहुबली का युद्ध होकर बाहुबली ने दीक्षा ली है। वहाँ भी भरत के नमस्कार करते ही बाहुबली को केवलज्ञान प्रगट हुआ, ऐसी बात है, न कि ब्राह्मी-सुन्दरी के सम्बोधन की। अतः प्रत्येक व्यक्ति को भगवान ऋषभदेव, भरत-बाहुबली एवं ब्राह्मी-सुन्दरी से संबंधित जानकारियों के लिए आदिपुराण का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

4.2.2 आर्यिका सुलोचना-

इसी भरत क्षेत्र में काशी नाम का देश है। उसमें एक वाराणसी नाम की नगरी है। तीर्थंकर ऋषभदेव के द्वारा राज्य को प्राप्त राजा अकम्पन उस नगरी के स्वामी थे। इनके सुप्रभा नाम की देवी थी। नाथवंश के अग्रणी राजा और रानी सुप्रभा ने हेमांगद आदि हजार पुत्रों को जन्म दिया तथा सुलोचना और लक्ष्मीमती इन दो पुत्रियों को जन्म दिया। इन पुत्र-पुत्रियों से घिरे हुए राजा अकम्पन गृहस्थाश्रम के सर्वोत्तम सुखों का अनुभव कर रहे थे। धीरे-धीरे पुत्री सुलोचना ने किशोरावस्था को प्राप्त कर सर्व विद्या और कलाओं में निपुणता प्राप्त कर ली।

उस सुलोचना ने जिनेन्द्रदेव की अनेक प्रकार की रत्नमयी बहुत सी प्रतिमाएँ बनवाई थीं और उनके सब उपकरण भी सुवर्ण के बनवाये थे। उनकी प्रतिष्ठा कराके महाभिषेक किया था। अनंतर वह प्रतिदिन उन प्रतिमाओं की महापूजा करती। अर्थपूर्ण स्तुतियों से अर्हंतदेव की भक्तिपूर्वक स्तुति करती, पात्रदान देती, महामुनियों का बार-बार चिंतवन करते हुए सम्यग्दर्शन की शुद्धता प्राप्त कर ली थी। एक बार फाल्गुन की आष्टान्हिका में उसने विधिवत् प्रतिमाओं का अभिषेक, पूजन करके अष्टान्हिक की महापूजा की और उपवास किया था। पूजा के बाद पूजा के शेषाक्षत देने के लिए वह सिंहासन पर स्थित पिता अकम्पन के पास गई। राजा ने भी उठकर और हाथ जोड़कर उसके दिये हुए शेषाक्षत लेकर अपने मस्तक पर रखे तथा कन्या से बोले—

"हे पुत्रि! तू उपवास से खिन्न हो रही है, अब घर जा! यह तेरे पारणा का समय है।"

स्वयंवर विधि—पुनः उस पुत्री को युवावस्था में देखकर राजा ने अपने मंत्रियों को बुलाकर उसके विवाह के

लिए मंत्रणा की। अनेक परामर्श के बाद उसमें से एक सुमति नाम के मंत्री ने कहा-

"राजन्! प्राचीन पुराणों में स्वयंवर की उत्तम विधि सुनी जाती है। यदि इस समय सर्वप्रथम अकम्पन महाराज के द्वारा उस विधि को प्रारंभ किया जाए तो भगवान ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत के समान इनकी प्रसिद्धि भी युग के अंत तक हो जाये। उस स्वयंवर में यह कन्या जिसे भी स्वीकार करेगी, वही इसका स्वामी होगा। ऐसा करने से किसी भी राजा से अपने विरोध की बात नहीं होगी।"

यह बात राजा को अच्छी लगी। तब उन्होंने घर आकर यह बात रानी सुप्रभा से, बड़े पुत्र हेमांगद से, कुल परम्परा से आगत वृद्ध पुरुषों से तथा अपने सगोत्री बंधुओं से भी कही। सबसे पूर्वापर विचार किया। जब सभी ने इसकी सराहना की, तब राजा ने सुलोचना के स्वयंवर की घोषणा कर दी। एक विचित्रांगद नाम का देव, जो कि पूर्वभव में राजा अकंपन का भाई था, वह सुलोचना के प्रेम से वहाँ आ गया और राजा से स्वीकृति लेकर उसने बहुत ही सुन्दर स्वयंवर मण्डप तैयार किया।

उस समय सभी ने यह कहा था कि—

"इस संसार में कन्यारत्न के सिवाय और कोई उत्तम रत्न नहीं है। समुद्र अपने रत्नाकरपने का खोटा अहंकार व्यर्थ ही धारण करता है क्योंकि जिनके यह कन्यारूपी रत्न है, उन्हीं राजा अकंपन और रानी सुप्रभा के यह रत्नाकरपना सुशोभित होता है।"

राजा अकंपन ने स्वयं जिनेन्द्रदेव की महापूजा की और दीन, अनाथजनों को दान दिया। रानी सुप्रभा ने सुलोचना को मंगलस्नान कराकर नित्य मनोहर चैत्यालय में ले जाकर अर्हन्तदेव की महापूजा कराई। अनंतर देवनिर्मित रथ में बैठकर कन्या स्वयंवर मण्डप में आ गई। उसे कंचुकी ने सभी राजाओं का परिचय कराया। अंत में सुलोचना ने हस्तिनापुर के राजा जयकुमार के गले में वरमाला पहना दी।

इसी भरत क्षेत्र के कुरुजांगल देश में हस्तिनापुर नगरी है। ऋषभदेव को आहार देने वाले राजा सोमप्रभ और उनके भाई श्रेयांसकुमार इसी पृथ्वी तल पर प्रसिद्ध ही हैं। सोमप्रभ की रानी लक्ष्मीमती के बड़े पुत्र का नाम जयकुमार था। इनका परिचय इतने से ही समझ लीजिए कि ये जयकुमार चक्रवर्ती भरत के सेनापति थे। चक्रवर्ती के दिग्विजय की सफलता में इनका बहुत बड़ा योगदान रहा है। ये सेनापति रत्न नाम से चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में एक रत्न थे।

सम्राट् भरत के बड़े पुत्र अर्ककीर्ति भी स्वयंवर मण्डप में थे। उनके दुर्मषण नाम के एक सेवक ने आकर अर्ककीर्ति को यद्वा-तद्वा समझाकर युद्ध के लिए भड़का दिया। राजा अकंपन ने बहुत कुछ उपाय से शांति चाही किन्तु वहाँ घोर युद्ध छिड़ गया। तब सुलोचना ने मंदिर में शांतिपूजा का अनुष्ठान कर कायोत्सर्ग धारण कर लिया था, भयंकर युद्ध में जयकुमार ने अर्ककीर्ति को पकड़ लिया और महाराज को अर्ककीर्ति को समझाने में नियुक्त कर उन्हें उनके स्थान पर भेज दिया और स्वयं अपने परिकर सहित भगवान के मंदिर में जाकर बहुत बड़ी शांतिपूजा की। सुलोचना ने युद्ध की समाप्ति तक चतुराहार त्याग कर कायोत्सर्ग धारण कर लिया था। पिता ने उसकी प्रशंसा कर उसका कायोत्सर्ग समाप्त कराया। अनन्तर बड़े ही उत्सव के साथ इनका विवाह सम्पन्न हुआ।

पुनः राजा अकंपन ने अर्ककीर्ति से क्षमायाचना कर अपनी छोटी पुत्री लक्ष्मीमती उसके लिए समर्पित कर दी। बाद में जयकुमार और अर्ककीर्ति का भी आपस में प्रेम करा दिया।

उपसर्ग से रक्षा— कुछ दिनों बाद जयकुमार सुलोचना के साथ हस्तिनापुर आ रहे थे। मार्ग में गंगा नदी के किनारे डेरे में हेमांगद और सुलोचना आदि को ठहराकर स्वयं अयोध्या जाकर भरत को प्रणाम किया। भरत ने भी समयोचित वार्तालाप से जयकुमार को प्रसन्न कर अनेक वस्त्र, आभूषणों से उसका सम्मान कर विदा किया। जयकुमार हाथी पर बैठकर गंगा नदी में तैरते हुए वापस अपने डेरे में आ रहे थे कि जहाँ पर सरयू नदी गंगा से मिलती है, वहाँ पर एक मगर

ने जयकुमार के हाथी का पैर पकड़ लिया और उसे डुबोने लगा। इधर तट पर खड़े हुए हेमांगद आदि भाइयों ने तथा सुलोचना ने जयकुमार पर संकट आया देखकर णमोकार मंत्र का स्मरण किया।

सुलोचना उपसर्ग समाप्ति तक चतुराहार त्याग कर अपनी सखियों के साथ णमोकारमंत्र का जप करते हुए गंगा नदी में घुसने लगी। इतने में ही गंगा देवी का आसन कंपायमान होते ही वह वहाँ आ गई और उपसर्ग दूरकर जयकुमार के हाथी को किनारे तट पर ले आई। वह नदी के तट पर उसी क्षण एक भवन बनाकर सुलोचना को सिंहासन पर बैठाकर उसकी पूजा करके बोली—

"हे सति! सुलोचने! आपके नमस्कार मंत्र के प्रसाद से ही मैं गंगा की अधिष्ठात्री देवी हुई हूँ। मुझे आप विंध्यश्री जानो.....।"

इस बात को सुनकर जयकुमार ने इसका रहस्य पूछा। तब सुलोचना ने बताया—

"विंध्यपुरी नगरी में विंध्यकेतु राजा की प्रियंगुश्री रानी से विंध्यश्री नाम की एक पुत्री हुई थी। उस राजा का मुझ पर प्रेम विशेष होने से उसने अपनी पुत्री मेरे पास छोड़ दी। यह मेरे पास सर्व गुणों को सीखते हुए मेरी सहेली थी। यह एक दिन उपवन में क्रीड़ा कर रही थी कि उसे एक सर्प ने काट खाया। तब मैंने इसे णमोकार मंत्र सुनाते हुए सल्लेखना ग्रहण करा दी। जिसके प्रभाव से यह गंगादेवी हो गई है और मेरा प्रत्युपकार करने के लिए आई है।"

अनंतर गंगादेवी इन दोनों का सम्मान कर अपने स्थान पर चली गई। जयकुमार, रानी सुलोचना और उनके परिकर सहित अपनी हस्तिनापुर नगरी में आ गये। माता-पिता, पुत्र-पुत्रवधू से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। जयकुमार ने अनेक रानियों के मध्य सुलोचना को पट्ट बांधकर पट्टरानी बनाया। बहुत काल तक सुखपूर्वक राज्य सुखों का अनुभव करते हुए जयकुमार और सुलोचना का काल क्षण के समान व्यतीत हो गया।

एक समय जयकुमार सुलोचना के साथ कैलाशपर्वत पर घूम रहे थे। उस समय स्वर्ग में इन्द्र अपनी सभा में इन दोनों के शील की प्रशंसा कर रहा था। यह सुनकर ईर्ष्यावश एक रविप्रभ देव ने जयकुमार के शील की परीक्षा के लिए एक कांचना नाम की देवी को भेज दिया। इधर सुलोचना जयकुमार से कुछ दूर हटकर फूल तोड़ रही थी। कांचना देवी ने विद्याधरी का रूप रखकर अनेक प्रकार से जयकुमार को रिझाना चाहा किन्तु जयकुमार ने कहा—मुझे परस्त्री का त्याग है इसलिए तू मेरी बहन के समान है। तब देवी राक्षसी वेष बनाकर जयकुमार को उठाकर भागने लगी। उधर सुलोचना ने दूर से देखते ही उस राक्षसी को जोरों से फटकारा जिससे वह देवी उसके शील के प्रभाव से डरकर अदृश्य हो गई। अहो! शीलव्रती स्त्री से जब देवता भी डर जाते हैं तब औरों की तो बात ही क्या है! कांचना देवी ने उन दोनों के शील को स्वयं देखकर जाकर अपने स्वामी से बताया और बहुत प्रशंसा की।

जयकुमार, सुलोचना की दीक्षा—एक बार जयकुमार अपने अनेक भाइयों और रानियों के साथ भगवान ऋषभदेव के समवसरण में पहुँचे। वहाँ दर्शन, पूजन के बाद उपदेश सुना। अनन्तर विरक्त होकर अपने अनेक भाइयों और चक्रवर्ती के अनेक पुत्रों के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। तत्क्षण ही जयकुमार को मनःपर्ययज्ञान और ऋद्धियाँ प्रगट हो गईं और वे भगवान के इकहत्तरवें (71वें) गणधर हो गये।

पति के वियोग से दुःख को प्राप्त हुई सुलोचना को चक्रवर्ती की पट्टरानी सुभद्रा ने समझाया तब उसने भी विरक्त हो ब्राह्मी आर्यिका के पास आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेकर सुलोचना ने तपश्चरण के साथ ही ज्ञान की भी विशेष आराधना की जिससे उन्हें ग्यारह अंगों का ज्ञान हो गया।

हरिवंशपुराण में कहा है—

"दुष्ट संसार के स्वभाव को जानने वाली सुलोचना ने अपनी सपत्नियों के साथ सफेद साड़ी पहनकर ब्राह्मी और सुन्दरी के पास जाकर आर्यिका दीक्षा ले ली। मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांग के पाठी होकर भगवान के गणधर हो

गये और आर्यिका सुलोचना भी ग्यारह अंगों की धारक हो गईं।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाएँ भी ग्यारह अंग तक पढ़ सकती हैं तथा भगवान के समवसरण में ब्राह्मी गणिनी के समान ही सुन्दरी भी अपनी बहन के साथ गणिनी स्थान को प्राप्त थीं।

इस प्रकार सुलोचना ने जिनेन्द्रदेव की भक्ति और शील में अपना नाम अमर किया वैसे ही आर्यिका बनकर ग्यारह अंगों को पढ़कर आर्यिकाओं में भी अपना नाम उज्ज्वल किया है। संकटहरण विनती में भक्त लोग पढ़ा करते हैं—

हाथी पे चढ़ी जाती थी सुलोचना सती।
गंगा में ग्राह ने गही गजराज की गती।
उस वक्त में पुकार किया था तुम्हें सती।
भय टार के उबार लिया हे कृपापती।।

4.2.3 शीलशिरोमणि आर्यिका सीता-

सीता का जन्म—मिथिलापुरी में राजा जनक राज्य करते थे। उनकी रानी विदेहा पातिव्रत्य आदि गुणों से परिपूर्ण परमसुन्दरी थी। एक समय वह गर्भवती हुई। पुनः नव महीने बाद उसने पुत्र और पुत्री ऐसे युगल संतान को जन्म दिया। पुत्र के जन्म लेते ही उसके पूर्वभव के वैरी महाकाल नामक असुरकुमार देव ने उस बालक का अपहरण कर लिया। वह उसे मारना चाहता था किन्तु उसके हृदय में कुछ दया आ गई जिससे उसने उस बालक के कान में कुण्डल पहनाकर उसे पर्णलघ्वी विद्या के बल से आकाश से नीचे छोड़ दिया। इधर चन्द्रगति विद्याधर रात्रि के समय अपने उद्यान में स्थित था सो उसने आकाश से गिरते हुए एक बालक को देखा और बीच में अधर ही झेल लिया। उस बालक को ले जाकर अपनी रानी पुष्पवती को दे दिया। रानी के कोई पुत्र नहीं था अतः वह इस पुत्र को पाकर बहुत ही प्रसन्न हुई। वहाँ पर उसका जन्म महोत्सव मनाया गया।

इधर रानी विदेहा पुत्र के अपहरण से बहुत ही दुःखी हुई किन्तु राजा जनक आदि परिजनों के समझाने पर शांत हो पुत्री का लालन-पालन करने लगी। इस कन्या का नाम सीता रक्खा गया। धीरे-धीरे वह किशोरावस्था को प्राप्त हुई। सीता जनक के अंतःपुर में सात सौ कन्याओं के मध्य में स्थित हो अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं से सबके मन को प्रसन्न करती थी। क्रम से वृद्धि को प्राप्त होते-होते यह सीता विवाह के योग्य हो गई।

सीता स्वयंवर—एक समय राजा जनक की राजधानी पर म्लेच्छों ने हमला कर दिया। सहायता के लिये राजा ने अपने मित्र अयोध्या के राजा दशरथ को सूचना भेजी। राजा दशरथ के पुत्र राम और लक्ष्मण मिथिलापुरी आ गये और शत्रुसेना को नष्ट कर राजा जनक और उनके भाई कनक दोनों का राज्य निष्कंटक कर दिया। इस उपकार से प्रसन्न होकर राजा जनक ने मंत्रियों से परामर्श कर राम को सीता देने का निश्चय किया। राम-लक्ष्मण विजय दुन्दुभि के साथ अपने अयोध्या नगर को वापस आ गये।

जब नारद ने सुना कि राजा जनक ने अपनी परमसुन्दरी सीता पुत्री राम के लिए देना निश्चिय किया है तब वह सीता के सौन्दर्य को देखने के लिए उसके महल में आ गये। सीता अकस्मात् नारद के प्रतिबिम्ब को दर्पण में देखकर एकदम व्याकुल हो गई और हाय मातः! यह कौन है? ऐसा कहकर वह वहाँ से अन्दर भागी। तब द्वार की रक्षक स्त्रियों ने नारद को रोक दिया। नारद अपमानित होकर वहाँ से चला आया और सीता से बदला चुकाने को सोचने लगा। उसने उसका एक सुन्दर चित्र बनाकर विजयार्ध पर्वत पर रथनूपुर के उद्यान में रख दिया। उसे देखकर भामण्डल मोहित हो गया। तब नारद ने उसे सीता का पूरा पता बता दिया। राजा चंद्रगति को जब मालूम हुआ कि भामण्डल जनक की पुत्री सीता को चाहता है तब उसने युक्ति से जनक को वहीं बुला लिया और अपने पुत्र के लिए सीता की याचना की।

जनक ने सारी बात बताते हुए स्पष्ट कह दिया कि मैंने सीता कन्या को राम के लिये देना निश्चित कर लिया है और

राम की बहुत प्रशंसा की। तब राजा चन्द्रगति ने कहा–

"हे राजन्! सुनो, हमारे यहाँ एक वज्रावर्त नाम का धनुष है और दूसरा सागरावर्त। देवगण इन दोनों की रक्षा करते हैं। यदि राम वज्रावर्त धनुष को चढ़ाने में समर्थ हैं तब तो वे अधिक शक्तिमान हैं ऐसा मैं समझूँगा और तभी वे सीता को प्राप्त कर सकेंगे अन्यथा हम लोग सीता को जबरदस्ती लाकर भामण्डल के लिए दे देंगे।"

राजा जनक ने विद्याधरों की यह शर्त स्वीकार कर ली। ये लोग दोनों धनुष लेकर यहाँ मिथिला नगरी आ गये। सीता के स्वयंवर की घोषणा हुई। राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न भी वहाँ आ गये। उस स्वयंवर में कोई भी राजपुत्र उस धनुष के निकट भी आने में समर्थ नहीं हो सका, किन्तु महापुरुष राम ने उस वज्रावर्त धनुष को चढ़ाकर सीता की वरमाला प्राप्त कर ली। लक्ष्मण ने सागरावर्त धनुष चढ़ाकर चन्द्रवर्धन विद्याधर की अठारह कन्यायें प्राप्त कर लीं तथा जनक के भाई राजा कनक ने अपनी पुत्री लोकसुन्दरी दशरथ के पुत्र भरत के लिये समर्पित की। वहाँ मिथिलानगरी में इन दशरथ के पुत्रों के विवाह सम्पन्न हुए। अनंतर राम, लक्ष्मण, भरत आदि अपनी-अपनी रानियों के साथ अयोध्या नगरी वापस आ गये।

कुछ दिनों बाद भामण्डल को जातिस्मरण होने से यह मालूम हो गया कि सीता मेरी सगी बहन है तब उसे पश्चात्ताप हुआ पुनः वह अयोध्या में आकर बहन से मिलकर बहुत ही प्रसन्न हुआ।

राम का वनवास—एक समय राजा दशरथ विरक्त हो दीक्षा लेना चाहते थे। तब अपने बड़े पुत्र रामचन्द्र के राज्याभिषेक की तैयारी कराने लगे। इसी बीच रानी कैकेयी ने आकर अपना धरोहर 'वर' माँगा। राजा ने देने की स्वीकृति दे दी। तब कैकेयी ने कहा–

"हे नाथ! मेरे पुत्र भरत के लिये राज्य प्रदान कीजिये।"

राजा दशरथ ने उसकी बात मान ली और राम को बुलाकर सारी स्थिति से अवगत करा दिया। राम ने पिता को सान्त्वना देकर भरत को भी समझाया तथा सोचने लगे—

"सूर्य के समान जब तक मैं इस अयोध्या के समीप भी रहूँगा, तब तक भरत की आज्ञा नहीं चल सकेगी।"

यद्यपि भरत पिता के साथ दीक्षा लेना चाहता था किन्तु लाचारी में उसे राज्य सँभालना पड़ा। पिता दशरथ दिगम्बर दीक्षा लेकर आत्म-साधना में निरत हो गए। श्री रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता के साथ अयोध्या से निकल पड़े। भरत, माता कैकेयी और सारी प्रजा के अनुनय, विनय को न गिनकर श्रीराम आगे चले गये। ये तीनों बहुत काल तक पैदल ही पृथ्वी पर वन-वन में विचरण करते हुए अनेक सुख-दुःख मिश्रित प्रसंगों में भी सदा प्रसन्न रहते थे। इस वनवास के प्रसंग में रामचंद्र ने पता नहीं कितनों का उपकार किया था।

एक समय रामचन्द्र ने वन में चारणऋद्धि मुनियों को आहारदान दिया था। उस समय एक गृद्ध (गीध) पक्षी वहाँ मुनियों को देखकर जातिस्मरण को प्राप्त हो गया। अतः वह मुनियों के चरणोदक में गिर पड़ा और उसे पीने लगा। तब उसका सारा शरीर सुन्दर वर्ण का हो गया। आहार के बाद मुनि ने उसे उपदेश देकर सम्यक्त्व और अणुव्रत ग्रहण करा दिये तब सीता ने उसे अपने पास ही रख लिया और उसको 'जटायु' इस नाम से पुकारने लगीं।

सीता हरण—रावण की बहन चन्द्रनखा का पुत्र शंबूक वंशस्थल पर्वत पर बाँस की झाड़ी में बैठकर सूर्यखड्ग सिद्ध कर रहा था। उसकी माता प्रतिदिन विद्या के बल से वहाँ आकर उसे भोजन दे जाया करती थी। बारह वर्ष के बाद वह खड्ग सिद्ध हो गया और वह बाँस के ऊपर लटक रहा था। शंबूक ने उसे लेने में प्रमाद किया। सोचा, अभी ले लूँगा। इधर राम, लक्ष्मण, सीता उसी वन में जाकर ठहर गये। लक्ष्मण अकेले घूमते हुए वहाँ पहुँचे। उन्होंने वह खड्ग हाथ में ले लिया। तभी विद्या देवता ने आकर उन्हें प्रमाण किया। लक्ष्मण ने खड्ग की तीक्ष्णता परखने के लिए उसी बाँस के बीड़े को काट डाला। उसमें शंबूक बैठा था। उसका शिर धड़ से अलग हो गया। इधर लक्ष्मण को यह पता नहीं चला। वे

अपने स्थान पर आकर भाई के पास बैठ गए।

चन्द्रनखा ने आकर जब पुत्र का सिर देखा, वह मूर्च्छित हो गई। सचेत होकर विलाप करते हुए खूब रोई। अनंतर उसी वन में शत्रु को खोजते हुए घूमने लगी। उसने राम, लक्ष्मण को देखा तो इनके सौन्दर्य पर मोहित हो कन्या का रूप लेकर वहाँ आकर राम से अपने वरण के लिए प्रार्थना करने लगी। राम, लक्ष्मण ने उसकी ऐसी चेष्टा से उसके प्रति उपेक्षा कर दी। तब वह क्रोध से पागल जैसी हुई आकाशमार्ग से अपने स्थान पर जाकर अपने पति खरदूषण से बोली–

हे नाथ! उस वन में मेरे पुत्र को मारकर खड्ग लेकर दो पुरुष बैठे हुए हैं जो कि मेरा शील भंग करना चाहते थे।"

इत्यादि बात सुनकर खरदूषण अपनी सेना के साथ आकाशमार्ग से आकर युद्ध के लिये तैयार हो गया।

इस युद्ध के प्रसंग में लक्ष्मण खरदूषण की सेना के साथ युद्ध कर रहे थे। रामचंद्र, सीता सहित अपने स्थान पर बैठे थे। बहनोई की सहायता के लिए रावण अपने पुष्पक विमान में बैठकर वहाँ आ गया। दूर से उसने राम के साथ सीता को देखा। उसके ऊपर मोहित हुआ उसे हरण करने का उपाय सोचने लगा। उसने अवलोकिनी विद्या के द्वारा सीता का परिचय प्राप्त कर लिया। मायाचारी से सिंहनाद करके "राम!!राम!!" ऐसा उच्चारण किया। राम ने समझा, लक्ष्मण संकट में हैं, सीता को पुष्पमालाओं से ढककर जटायु पक्षी को उसकी रक्षा में नियुक्त कर लक्ष्मण के पास पहुँचे। इसी बीच रावण ने सीता का हरण कर लिया। जब जटायु ने रावण का सामना किया तब रावण ने उस बेचारे पक्षी को घायल कर वहीं डाल दिया और स्वयं सीता को पुष्पक विमान में बिठाकर आकाशमार्ग से लंका आ गया। मार्ग में सीता ने बहुत ही विलाप किया, तब एक विद्याधर ने उसको छुड़ाना चाहा। रावण ने उसकी भी विद्यायें नष्ट कर उसे भूमि पर गिरा दिया।

इधर लक्ष्मण ने राम को देखते ही कहा—

"भाई! आप यहाँ कैसे! जल्दी वापस जाइये।"

रामचंद्र ने वापस आकर देखा, जटायु पड़ा सिसक रहा है। उसे महामंत्र सुनाया। वह मरकर स्वर्ग चला गया। पुनः वे सीता को न पाकर बहुत ही दुःखी हुए। खरदूषण के युद्ध में लक्ष्मण विजयी हुए। तब आकर राम से मिले और सीता को ढूँढ़ने लगे। सीता का अपहरण हुआ जानकर श्रीराम शोक में विह्वल हो गये।

पुनः विद्याधरों की सहायता से रावण द्वारा सीता का अपहरण जानकर श्रीरामचंद्र ने हनुमान को सीता के पास भेजा। हनुमान ने वहाँ जाकर सीता को रामचंद्र का समाचार दिया। तब सीता ने ग्यारह उपवास के बाद पारणा की। अनंतर सुग्रीव आदि विद्याधरों की सहायता से राम, लक्ष्मण ने लंका को घेर लिया।भयंकर युद्ध हुआ। अंत में रावण ने अपना चक्र लक्ष्मण पर चला दिया। वह चक्ररत्न लक्ष्मण की प्रदक्षिणा देकर उसके पास ठहर गया और लक्ष्मण ने उसी चक्र से रावण का वध कर दिया। इसके बाद राम सीता से मिले। तब देवों ने सीता के शील की प्रशंसा करते हुए उस पर पुष्पवृष्टि की। वहाँ का राज्य विभीषण को सौंपकर त्रिखण्ड के अधिपति राम–लक्ष्मण छह वर्ष तक वहीं रहे पुनः माता की याद कर अयोध्या आ गये। तब भरत ने दैगम्बरी दीक्षा ले ली।

सीता की अग्नि परीक्षा—रामचन्द्र आठवें बलभद्र और लक्ष्मण आठवें नारायण प्रसिद्ध हुए। श्रीराम ने अपनी आठ हजार रानियों में सीता को पट्टरानी बनाया।

एक बार सीता ने स्वप्न में देखा "मेरे मुख में दो अष्टापद प्रविष्ट हुए हैं और मैं पुष्पक विमान से गिर गई हूँ।" उसने इसका फल श्रीराम से पूछा। रामचंद्र ने कहा–"तुम युगल पुत्रों को जन्म दोगी।" तथा दूसरे स्वप्न का फल अनिष्ट जानकर उसकी शांति के लिए जिनमंदिर में पूजन, अनुष्ठान कराया गया। एक समय राम की सभा में कुछ प्रमुख पुरुषों ने कहा कि–

"प्रभो! इस समय प्रजा मर्यादा रहित होती जा रही है। दुष्ट लोग बलात् दूसरे की स्त्री का हरण कर लेते हैं। प्रायः लोग कह रहे हैं कि राजा दशरथ के पुत्र राम ज्ञानी होकर भी रावण के द्वारा हृत सीता को वापस ले आये हैं।"

इस बात को सुनकर रामचंद्र एक क्षण विषाद को प्राप्त हुए पुनः प्रजा को आश्वासन देकर भेज दिया और स्वयं यह निर्णय लिया कि सीता को वन में भेज दिया जाए। लक्ष्मण के बहुत कुछ अनुनय-विनय करने पर भी रामचंद्र नहीं माने और कृतांतवक्त्र सेनापति को बुलाकर समझाकर उसके साथ सीता को तीर्थवंदना के बहाने घोर जंगल में छुड़वा दिया। वहाँ सेनापति से वन में छोड़ आने का समाचार सुनकर सीता बहुत ही दुःखी हुई फिर भी उसने कहा—

"सेनापति! तुम जाकर श्री रामचंद्र से कहना कि जैसे लोकापवाद के डर से मुझे छोड़ दिया है ऐसे ही जिनधर्म को नहीं छोड़ देना।"

और सेनापति को विदा कर दिया। उस समय सीता गर्भवती थीं और वन में घोर विलाप कर रही थीं। वहाँ जंगल में रुदन सुनकर पुण्डरीकपुर का राजा वज्रजंघ उनके पास आया और सीता को अपनी बहन के समान समझकर बहुत सान्त्वना देकर पुण्डरीकपुर लिवा ले गया। वहाँ सीता ने युगल पुत्रों को जन्म दिया। जिनका नाम अनंगलवण और मदनांकुश रखा गया। इन पुत्रों को सिद्धार्थ नाम के क्षुल्लक ने पढ़ाया। एक बार नारद ने आकर इन दोनों के सामने राम का वैभव बताया तथा सीता के वन में छोड़ने की बात कही। तब ये दोनों बालक सीता के बहुत कुछ मना करने पर भी राम से युद्ध करने के लिए चल पड़े। वहाँ पर दोनों पक्ष में किसी की हार- जीत न देखकर नारद ने रामचंद्र से कहा कि–

" ये दोनों आपके पुत्र हैं, सीता से जन्मे हैं।"

अनंतर पिता-पुत्र मिलन के बाद सुग्रीव, हनुमान आदि राम की आज्ञा लेकर सीता को अयोध्या ले आये। राम ने सीता की शुद्धि के लिए अग्नि परीक्षा लेना चाहा। तब विशाल अग्निकुण्ड निर्मित हुआ। सीता ने कहा–

"हे अग्निदेवता! यदि मैंने स्वप्न में भी परपुरुष को नहीं चाहा हो तो तू जल हो जा अन्यथा मुझे जला दे।"

इतना कहकर वह अग्नि में कूद पड़ी। शील के प्रभाव से तत्क्षण ही अग्नि जल हो गई और देवों ने सीता को कमलासन पर बैठा दिया। तब रामचंद्र ने सीता से क्षमायाचना की और घर चलने के लिए कहा–सीता उस क्षण विरक्त हो बोलीं–

"हे बलदेव! मैंने आपके प्रसाद से बहुत कुछ सुख भोगे हैं। फिर भी अब मैं सर्व दुःखों का क्षय करने की इच्छा से जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूँगी।"

ऐसा कहकर उसने अपने केश उखाड़कर रामचंद्र को दे दिये। रामचंद्र उसी क्षण मूर्च्छित हो गये।

सीता की दीक्षा—इधर जब तक रामचंद्र सचेत हों तब तक सीता ने जाकर 'पृथ्वीमती' आर्यिका के पास आर्यिका दीक्षा ले ली। जब रामचंद्र होश में आये, सीता के वियोग से विक्षिप्त हो उन्हें लिवाने के लिए उद्यान में आये, वहाँ सर्वभूषण केवली के समवसरण में पहुँचकर दर्शन करके धर्मोपदेश सुना। अनंतर श्रीरामचंद्र, लक्ष्मण के साथ यथाक्रम से साधुओं को नमस्कार कर विनीतभाव से आर्यिका सीता के पास पहुँचे। भक्ति से युक्त हो नमस्कार कर बोले–

" हे भगवति! तुम धन्य हो, उत्तम शीलरूपी सुमेरु को धारण कर रही हो।"

इत्यादि प्रशंसा कर पुनः कहने लगे–

"हे सुनये! मेरे द्वारा जो भी अच्छा या बुरा कार्य हुआ है, वह सब आप क्षमा कीजिये।"

इस प्रकार क्षमायाचना कर पुनः पुनः उनकी प्रशंसा करते हुए राम तथा लक्ष्मण लवण और अंकुश को साथ लेकर अपने स्थान पर वापस आ गये।

सीता की कठोर तपश्चर्या—जिस सीता का सौन्दर्य देवांगनाओं से भी बढ़कर था, वह तपश्चर्या से सूखकर ऐसी हो गई जैसे जली हुई माधवी की लता ही हो। जिसकी साड़ी पृथ्वी की धूलि से मलिन थी तथा स्नान के अभाव से पसीना से उत्पन्न मल में जिसका शरीर भी धूसरित हो रहा था, जो चार दिन, एक पक्ष तथा ऋतुकाल आदि के शास्त्रोक्त विधि से पारणा करती थी, शीलव्रत और मूलगुणों के पालन में तत्पर, रागद्वेष से रहित और अध्यात्म के चिन्तन में निरत

रहती थी, अत्यन्त शांत थी। अपने मन को अपने अधीन कर रखा था, अन्य मनुष्यों के लिए दु:सह, अत्यन्त कठिन तप किया करती थी, उसके शरीर का माँस सूख गया था मात्र हाड़ और आँतों का पंजर ही दिख रहा था, उस समय वह आर्यिका लकड़ी आदि से बनी प्रतिमा के समान जान पड़ती थी, उसके कपोल भीतर घुस गये थे, ऐसी सीता आर्यिका चार हाथ आगे जमीन देखकर ईर्यापथ से चलती थी। शरीर की रक्षा के लिए कभी-कभी आगम के अनुसार निर्दोष आहार ग्रहण करती थी। तपश्चर्या से उसका रूप ऐसा बदल गया था कि विहार के समय उसे अपने और पराये लोग भी नहीं पहचान पाते थे। ऐसी उस सीता को देखकर लोग सदा उसी की कथा करते रहते थे। जो लोग उसे एक बार देखकर पुन: देखते थे वे उसे "यह वही है" इस प्रकार नहीं पहचान पाते थे। इस महासती आर्यिका सीता ने अपने शरीर को तपरूपी अग्नि से सुखा डाला था। इस प्रकार महाश्रमणी पद पर अधिष्ठित सीता ने बासठ वर्ष तक उत्कृष्ट तप किया, अनंतर सल्लेखना धारण कर ली। तेंतीस दिन के बाद इस उत्तम सल्लेखना से शरीर को छोड़कर अच्युत (16वें) स्वर्ग में प्रतीन्द्र पद को प्राप्त कर लिया। सम्यग्दर्शन और संयम के माहात्म्य से स्त्रीलिंग से छूटकर देवेन्द्र की विभूति का वरण कर लिया। यह सीता का जीव अच्युत स्वर्ग के सुखों का अनुभव कर भविष्य में इसी भरतक्षेत्र में चक्ररथ नाम का चक्रवर्ती होगा। अनंतर तपोबल से अहमिन्द्र पद को प्राप्त करेगा। पुन: जब रावण तीर्थंकर होगा तब यह अहमिन्द्र उनका प्रथम गणधर होकर उसी भव से निर्वाण प्राप्त कर लेगा। ऐसी शील शिरोमणि महासती आर्यिका सीता को नमस्कार होवे।

4.2.4 गणिनी आर्यिका राजीमती-

22वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के गर्भ में आने के छह माह पूर्व ही कुबेर ने शौरीपुर के राजा समुद्रविजय की रानी शिवादेवी के आँगन में रत्नों की वर्षा करना शुरू कर दिया। कार्तिक शुक्ला षष्ठी के दिन अहमिन्द्र का जीव जयन्त विमान से च्युत होकर शिवादेवी के गर्भ में आ गया। उसी समय इंद्रों ने यहाँ आकर भगवान का गर्भ महोत्सव मनाया। नव महीने बाद श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन पुत्र का जन्म होते ही देवों ने आकर उसे सुमेरु पर ले जाकर 1008 कलशों से जन्म अभिषेक करके जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया। पुन: सौधर्म इन्द्र ने नेमिनाथ यह नामकरण करके जिनशिशु को लाकर माता-पिता को सौंप दिया। नेमिनाथ की आयु एक हजार वर्ष की थी और शरीर की ऊँचाई दश धनुष (10×4=40 हाथ) थी। क्रम से ये तीर्थंकर युवावस्था को प्राप्त हो गये।

एक बार श्रीकृष्ण, नेमिकुमार आदि वन में क्रीड़ा को गये थे। साथ में श्रीकृष्ण की रानियाँ भी थीं। वहाँ जल क्रीड़ा में नेमिकुमार ने अपने गीले वस्त्र निचोड़ने के लिए सत्यभामा को कह दिया। तब उसने चिढ़कर कहा—क्या आप श्रीकृष्ण हैं कि जिन्होंने नागशय्या पर चढ़कर शांर्ग नाम का दिव्य धनुष चढ़ा दिया और दिगदिगंत व्यापी शंख फूँका था। क्या आपमें वह साहस है कि जिससे आप मुझे अपना वस्त्र धोने की बात कहते हैं। नेमिकुमार ने कहा—"मैं यह कार्य अच्छी तरह कर दूँगा।" वे तत्क्षण ही आयुधशाला में गये। वहाँ नागराज के महामणियों से सुशोभित नागशय्या पर अपनी ही शय्या के समान चढ़ गये और शांर्ग—धनुष को चढ़ा दिया तथा योजन व्यापी महाशब्द करने वाला शंख फूँक दिया।

श्रीकृष्ण को इस बात का पता चलते ही आश्चर्यचकित हुए। पुन: उन्होंने विचार किया कि "श्री नेमिकुमार का चित्त बहुत समय बाद राग से युक्त हुआ अत: इनका विवाह करना चाहिये।" इसके बाद विमर्श कर वे स्वयं राजा उग्रसेन के घर पहुँचे और बोले—"आपकी पुत्री राजीमती तीन लोक के नाथ तीर्थंकर नेमिकुमार की प्रिया हो।" उग्रसेन ने कहा—"हे देव! तीन खंडों में उत्पन्न हुए रत्नों के आप ही स्वामी हैं। आपकी आज्ञा मुझे सहर्ष स्वीकार है।"

राजा समुद्रविजय श्रीकृष्ण आदि बारात लेकर (जूनागढ़) आ गये। इसी मध्य "ये नेमिकुमार कुछ ही वैराग्य का कारण पाकर दीक्षा ले सकते हैं।" ऐसा सोचकर उनके साथ एक षड्यंत्र किया गया और बहुत से मृग आदि पशु इकट्ठे कराकर, एक बाड़े में बंद करा कर द्वारपाल को समझा दिया गया।

जब नेमिकुमार उधर से निकले, तब बाड़े में बंद चिल्लाते हुए पशुओं को देखकर पूछा—"इन्हें क्यों बंद किया गया है ?"

द्वारपाल ने कहा—"प्रभो! आपके विवाहोत्सव में इनका व्यय (वध) करने के लिए इन्हें इकट्ठा किया गया है।" उसी क्षण अपने अवधिज्ञान से षड्यंत्र की सारी चेष्टा जानकर तथा पूर्वभवों का भी स्मरण कर नेमिनाथ विरक्त हो गये। तत्काल ही लौकांतिक देव आकर स्तुति करने लगे। पुनः इंद्रों ने आकर भगवान की पालकी उठायी और प्रभु दीक्षा के लिये वन में पहुँच गये। वह वन सहस्राम्र नाम से प्रसिद्ध था जो कि आज सिरसा वन कहलाता है। वहाँ पर श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन दीक्षा ले ली। तेला के बाद उनका प्रथम आहार राजा वरदत्त के यहाँ हुआ था। उस समय राजा के घर में साढ़े बारह करोड़ रत्नों की वर्षा हुई थी। अनंतर छप्पन दिन बाद भगवान को आसोज वदी एकम् के दिन केवलज्ञान प्रगट हो गया।

हरिवंशपुराण में लिखा है कि—नेमिनाथ के दीक्षा लेने के बाद राजीमती बहुत ही दुःखी हुई और वियोग के शोक से रोती रहती थी। भगवान को केवलज्ञान होने के बाद समवसरण में राजा वरदत्त ने दीक्षा ले ली और भगवान के प्रथम गणधर हो गये। उसी समय छह हजार महिलाओं के साथ दीक्षा लेकर राजीमती आर्यिकाओं के समूह की गणिनी बन गई।"

आज जो किंवदन्ती है कि राजीमती ने गिरनार पर्वत पर आकर नेमिनाथ से वार्तालाप किया। अनेक बारहमासा और भजन गाये जाते हैं। वे सब कल्पित हैं क्योंकि जब तीर्थंकर दीक्षा ले लेते हैं। वे केवलज्ञान होने तक मौन ही रहते हैं पुनः वार्तालाप व संबोधन का सवाल ही नहीं उठता है। भगवान को केवलज्ञान होने के बाद ही राजमती ने आर्यिका दीक्षा लेकर गणिनी पद प्राप्त किया था। "राजीमती का नव भव से नेमिनाथ के साथ संबंध चला आ रहा था।" यह प्रकरण भी हरिवंश पुराण, उत्तर पुराण में नहीं है अन्यत्र कहीं ग्रंथों में हो सकता है। 'नेमिनिर्वाण' काव्य में नेमिनाथ के पूर्वभवों का वर्णन इस प्रकार है—

"इस भरतक्षेत्र में विन्ध्याचल पर्वत पर एक **भील** रहता था। एक दिन वह शिकार के लिए निकला। कुछ दूर पर दो मुनिराज थे। उनके ऊपर बाण चलाने को तैयार हुआ। उसी क्षण उसकी भार्या ने आगे आकर कहा—हे प्रियतम! आप मेरे ऊपर बाण छोड़ो किन्तु इन्हें न मारो। ये दो मुनिराज मान्य हैं, मारने योग्य नहीं हैं। मैं एक बार नगर में सामान खरीदने गई थी वहाँ मैंने देखा कि राजा भी इन्हें प्रणाम कर रहा था। इतना सुनकर भील ने धनुष बाण एक तरफ रख दिया। पत्नी के साथ गुरु के दर्शन करके उनका उपदेश सुना। पुनः उसने शिकार खेलना और माँस खाना छोड़ दिया। इस व्रत के प्रभाव से वह वृषदत्त की पत्नी से **इभ्यकेतु नाम का पुत्र** हुआ। उसे स्वयंवर में राजा जितशत्रु की पुत्री कमलप्रभा ने वरण किया था। इस कमलप्रभा के एक सुकेतु नाम का पुत्र हुआ। उसे राज्य देकर इभ्यकेतु दीक्षा लेकर अंत में मरणकर **माहेन्द्र स्वर्ग में देव** हो गया। पुनः जम्बूद्वीप के सिंहपुर नगर में राजा जिनदास के यहाँ वह देव **अपराजित नाम का पुत्र** हो गया। इसने भी कालान्तर में तपश्चरण कर **अच्युत स्वर्ग में इंद्रपद** को प्राप्त कर लिया। पुनः कुरुजांगल देश की हस्तिनापुर नगरी के श्रीचंद राजा का सुप्रतिष्ठ नाम का पुत्र हो गया। इस सुप्रतिष्ठ ने भी दीक्षा लेकर तीर्थंकर प्रकृति का बँध कर लिया तथा अनेक व्रतों का अनुष्ठान कर जयंत विमान में **अहमिन्द्र** हो गया। वहाँ से आकर ये अहमिन्द्र का जीव यदुवंशी राजा समुद्रविजय की रानी शिवादेवी के पुत्र **नेमिनाथ** हुए हैं।

जिस भीलनी ने इन्हें मुनिवध से रोका था वह ही राजीमती हुई हैं ऐसी प्रसिद्धि है। जो भी हो यह कथन इस काव्य में नहीं है।

पांडव पुराण में भी श्री नेमिनाथ के दशभव के नाम आए हैं-1. विन्ध्य पर्वत पर भिल्ल, 2. इभ्यकेतु सेठ, 3. देव, 4. चिंतागतिविद्याधर, 5. देव, 6. अपराजित राजा, 7. अच्युत स्वर्ग के इंद्र, 8. सुप्रतिष्ठ राजा, 9. जयन्त अनुत्तर में अहमिन्द्र, 10.तीर्थंकर नेमिनाथ। इस पुराण में भी राजीमती के भवों का वर्णन नहीं है।

भगवान नेमिनाथ के समवसरण में अट्ठारह हजार मुनि, चालीस हजार आर्यिकायें, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकायें थीं। उस काल में कुन्ती, सुभद्रा, द्रौपदी आदि ने गणिनी राजीमती से ही दीक्षा ली थी।

अंत में नेमिनाथ ने आषाढ़ शुक्ला सप्तमी के दिन गिरनार पर्वत से निर्वाण को प्राप्त किया है। राजीमती, कुन्ती, सुभद्रा, द्रौपदी ये चारों आर्यिकाओं ने धर्मध्यान से सल्लेखना करके स्त्रीवेद का नाश कर सोलहवें स्वर्ग में देवपद प्राप्त कर लिया। वहाँ की 22 सागरोपम आयु को पूर्ण कर पुरुष होकर तपश्चरण करके निर्वाण प्राप्त करेंगी।

4.2.5 सती द्रौपदी-

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र सम्बन्धी अङ्गदेश में एक चम्पापुरी नाम की नगरी है। उसी नगरी में एक सोमदेव ब्राह्मण रहता था, उसकी भार्या का नाम सोमिला था। उन दोनों के सोमदत्त, सोमिल और सोमभूति ये तीन पुत्र थे जो कि वेदवेदांगों में पारगामी थे। सोमिला के भ्राता अग्निभूति की अग्निला स्त्री से तीन कन्यायें हुई थीं जिनका नाम धनश्री, मित्रश्री और नागश्री था। अग्निभूति ने अपनी तीनों कन्याओं का क्रम से तीनों भानजों के साथ विवाह कर दिया।

किसी एक समय सोमदेव ब्राह्मण ने विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। अनंतर एक दिन आहार के समय धर्मरुचि नाम के महातपस्वी मुनिराज को अपने घर की तरफ आते देखकर सोमदत्त ने अपने छोटे भाई की पत्नी से कहा कि हे नाग श्री! तू इन मुनिराज का पड़गाहन कर इन्हें विधिवत् आहार करा दे। नागश्री ने मन में सोचा कि "यह सदा सभी कार्य के लिये मुझे ही भेजा करता है। यह सोचकर वह बहुत ही क्रुद्ध हुई और उसी क्रुद्धावस्था में उन तपस्वी मुनिराज को विष मिला हुआ आहार दे दिया। मुनिराज ने संन्यास धारण कर आराधना पूर्वक मरण किया। जिससे वे सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हो गये। जब सोमदत्त आदि तीनों भाइयों को नागश्री के द्वारा किये हुए इस अकृत्य का पता चला तब उन्होंने वरुणार्य नाम के महामुनि के पास जाकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। इस प्रकार ये पाँचों ही जीव आराधनाओं की आराधना करते हुए अंत में मरण कर आरण और अच्युत स्वर्ग में सामानिक देव हो गये। इधर नागश्री भी पाप के फल से कुत्सित परिणामों से मरण कर पाँचवें नरक में चली गई। वहाँ पर असंख्य दुःखों को भोगकर निकली तो स्वयंप्रभ द्वीप में दृष्टिविष नाम का सर्प हो गई। फिर मर कर दूसरे नरक में गई वहाँ पर तीन सागर तक दुःख भोगती रही। वहाँ से निकलकर दो सागर तक त्रस-स्थावर योनियों में परिभ्रमण करती रही।

इस प्रकार संसार सागर में भ्रमण करते-करते जब उसके पाप का उदय कुछ मंद हुआ तब चंपापुर नगर में चाँडाली हो गई। किसी एक दिन इसने समाधिगुप्त मुनिराज को देखकर उन्हें नमस्कार किया। मुनिराज ने करुणा से उसे उपदेश दिया जिससे उसने मधु और माँस का त्याग कर दिया। इस त्याग के निमित्त से वह उस पर्याय से छूटकर वहीं के सुबन्धु सेठ की धनदेवी स्त्री से पुत्री हुई। उसका नाम सुकुमारी रक्खा गया। यहाँ पर भी उसके पाप का उदय शेष रहने से उसके शरीर से बहुत दुर्गन्ध आती थी। जब वह युवावस्था में आई तब माता-पिता को उसके विवाह की चिंता हो गई। इसी नगर में एक धनदत्त सेठ रहता था उसकी अशोकदत्ता स्त्री से दो पुत्र हुए थे। बड़े का नाम जिनदेव और छोटे का नाम जिनदत्त था। सुबन्धु के आग्रह से धनदत्त अपने पुत्र जिनदेव के साथ सुकुमारी का विवाह करना चाहता था किन्तु जिनदेव को इस बात का पता चलते ही वह वहाँ से चला गया और सुव्रतमुनि के पास उसने मुनि दीक्षा ले ली। माता-पिता के आग्रह से जिनदत्त ने उस दुर्गंधित सुकुमारी के साथ विवाह तो कर लिया किन्तु उसकी दुर्गंधि से घृणा करता हुआ वह स्वप्न में भी उसके निकट नहीं गया। इस प्रकार पति के विरक्त होने से सुकुमारी सदा ही अपने पूर्वकर्मों की निन्दा किया करती थी।

एक दिन इस सुकुमारी ने उपवास किया था। उसी दिन उसके यहाँ आहार के लिए आर्यिकाओं के साथ सुव्रता नाम की आर्यिका आई थीं। सुकुमारी ने उनकी वंदना कर प्रधान आर्यिका से पूछा कि हे माताजी! इन दो आर्यिकाओं ने किस प्रकार से दीक्षा ली है। तब प्रधान आर्यिका ने कहा कि-"ये दोनों पूर्वजन्म में सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र की विमला और

सुप्रभा नाम की प्रिय देवियाँ थीं। किसी दिन ये दोनों सौधर्म इन्द्र के साथ नंदीश्वर-द्वीप में जिनेन्द्र देव की पूजा करने गई हुई थीं। वहाँ इनका चित्त विरक्त हो गया तब इन दोनों ने आपस में यह संकल्प किया कि "हम दोनों इस पर्याय के बाद मनुष्य पर्याय पाकर तप करेंगी।" आयु के अंत में वहाँ से च्युत होकर ये दोनों साकेत नगर के स्वामी श्रीषेण राजा की श्रीकान्ता रानी से हरिषेणा और श्रीषेणा नाम की पुत्रियाँ हो गईं।

यौवन अवस्था में इन्हें देखकर राजा श्रीषेण ने इन दोनों के लिए स्वयंवर मण्डप बनवाया और उसमें अनेक राजपुत्र आकर बैठे गये। ये दोनों कन्यायें अपने हाथ में माला लेकर स्वयंवर मण्डप में आई ही थीं कि इन्हें अपने पूर्वभव की प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया। उसी समय इन दोनों ने अपने पिता को पूर्व भव की बात बताकर तथा समस्त सुख वैभव का त्याग कर, आकर आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली है।

यह कारण सुनकर सुकुमारी बहुत ही विरक्त हुई। उसने सोचा-देखो, इन दोनों सुकोमलगात्री राजपुत्रियों ने तो सब सुख छोड़कर दीक्षा ले ली है और मुझे तो यहाँ सुख उपलब्ध भी नहीं है। शरीर में दुर्गंधि आने से कोई पास भी नहीं बैठता। इत्यादि प्रकार से चिन्तन करके उसने अपने कुटुम्बी जनों से आज्ञा लेकर उन्हीं आर्यिका के पास दीक्षा ले ली। किसी एक दिन वन में वसंतसेना नाम की वेश्या आई हुई थी। बहुत से व्यभिचारी मनुष्य उस वेश्या को घेरकर उससे प्रार्थना कर रहे थे। सुकुमारी आर्यिका ने यह देखा तो उसके मन में ऐसा भाव आया कि मुझे भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो। पश्चात् अपनी गणिनी के पास जाकर आलोचना करके प्रायश्चित ग्रहण कर लिया। कालांतर में आयु पूरी कर अच्युत स्वर्ग में जो इसके नागश्री भव के पति ब्राह्मण सोमभूति देव हुए थे उनकी देवी हो गई।

उन तीनों ब्राह्मणों के जीव स्वर्ग से चयकर क्रम से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन हो गये। तथा धनश्री, मित्रश्री के जीव नकुल और सहदेव हो गये। सुकुमारी का जीव देवी पर्याय से च्युत होकर कांपिल्य नगर के राजा द्रुपद की रानी दृढ़रथा के द्रौपदी नाम की पुत्री हुई। यही द्रौपदी अर्जुन की रानी हुई है। पूर्व जन्म में जो इसने वसंतसेना वैश्या जैसा सौभाग्य प्राप्त करने का भाव कर लिया था उसी से द्रौपदी पर्याय में पंचभर्तारी का असत्य आरोप लगा है। वास्तव में द्रौपदी सती थी। युधिष्ठिर और भीम उसके जेठ थे और नकुल, सहदेव देवर थे। फिर भी पूर्वकृत कर्म के उदय से उसे अकारण ही अवर्णवाद-निन्दा को सहना पड़ा है। अंत में द्रौपदी ने भगवान नेमिनाथ के समवसरण में गणिनी राजीमती आर्यिका से दीक्षा लेकर स्त्री पर्याय छेदकर अच्युत स्वर्ग में देवपद को प्राप्त कर लिया है।

4.2.6 महासती मैना सुन्दरी-

इसी भरतक्षेत्र के आर्यखंड में उज्जयिनी नाम की नगरी है। उसमें राजा पुहुपाल शासन करते थे। उनकी रानी निपुणसुन्दरी के सुरसुन्दरी और मैनासुन्दरी दो कन्यायें थीं। बड़ी पुत्री शैवगुरु के पास पढ़ी तथा मैनासुन्दरी ने आर्यिका के पास सभी विद्याओं और शास्त्रों का अच्छा अध्ययन कर लिया था। एक दिन पिता ने कहा-बेटी! तू अपनी इच्छा से अपने लिए वर का निर्णय बता दे। मैना ने इस पर मना कर दिया और कहा मेरे भाग्य से जैसा होगा ठीक है। पिता ने भाग्य के नाम से चिढ़कर मैना का कोढ़ी पति के साथ विवाह कर दिया। यद्यपि रानी और मंत्रियों ने अत्यधिक मना किया था फिर भी राजा ने नहीं सुना।

चम्पापुर के राजा अरिदमन की रानी कुंदप्रभा के एक पुत्र हुआ। जिसका नाम श्रीपाल था। पिता के दीक्षित होने के बाद ये राज्य संचालन कर रहे थे। अकस्मात् भयंकर कुष्ठ रोग से ग्रसित होने से प्रजा को उनकी बदबू सहन नहीं हुई तब श्रीपाल ने अपने चाचा वीरदमन को राज्य सम्भलाकर आप अपने 700 योद्धाओं के साथ देश से निकलकर वनों में विचरने लगे।

राजा पुहुपाल ने इनके साथ ही पुत्री का विवाह कर दिया। मैनासुन्दरी पतिव्रत आदि गुणों से युक्त पतिसेवा करने लगी। एक दिन उसने मंदिर में जाकर निर्ग्रंथ मुनि से पति के रोग निवारण के लिए पूछा। मुनिराज ने कहा-

"हे भद्रे! तुम कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ की आष्टान्हिका में आठ-आठ दिन व्रत करके सिद्धचक्र की आराधना करो। मैनासुन्दरी ने गुरु से व्रत लेकर प्रथम ही कार्तिक के महीने में व्रत किया। मंदिर में जाकर जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा का अभिषेक करके विधिवत् सिद्धचक्र पूजा की, अनंतर गंधोदक लाकर अपने पति के सर्वांग में लगाया। साथ में रहने वाले 700 योद्धाओं के ऊपर भी छिड़का। केवल आठ ही दिनों में श्रीपाल का कुष्ठरोग नष्ट हो गया और साथ ही 700 योद्धा भी रोगमुक्त हो गये। मैनासुन्दरी की जिनभक्ति के प्रभाव को देखकर सभी बहुत ही प्रभावित हुए।

श्रीपाल की माता कुंदप्रभा को जब दिव्यज्ञानी मुनिराज से पता चला कि श्रीपाल मैनासुन्दरी पत्नी के प्रभाव से स्वस्थ होकर उज्जयिनी नगरी के बगीचे में महल में रह रहे हैं, तब माता वहाँ आ गईं और पुत्र को स्वस्थ देखकर प्रसन्न हुईं।

आकस्मिक एक दिन मैनासुन्दरी की माता निपुणसुंदरी मंदिर में अपनी पुत्री को अत्यन्त सुन्दर पुरुष के साथ बैठे देखकर रोने लगी। उसने सोचा-"ओह! मेरी पुत्री ने रुग्णपति को छोड़कर किसी अन्य ही राजकुमार के साथ सम्बन्ध कर लिया है।" मैना माता के भावों को समझ गई तब उसने सारी बातें माता को बता दीं। माता सुनकर प्रसन्न हुईं और पुत्री की बहुत ही सराहना की।

कुछ दिनों बाद श्रीपाल मैनासुन्दरी को अपनी माँ के पास छोड़कर विदेश चले गये। वहाँ अनेक सुख-दुःखों का अनुभव किया। 12 वर्ष बाद आठ हजार रानियों को तथा बहुत बड़ी सेना को लेकर वापस आ गये।

अनंतर अपने चम्पापुर जाकर चाचा वीरदमन से युद्ध कर अपना राज्य वापस ले लिया और आठ हजार रानियों के मध्य में मैनासुन्दरी को पट्टरानी बना दिया और कुछ दिनों बाद मैनासुन्दरी के क्रम से तीन पुत्र हुए जिनके नाम महापाल, देवरथ और महारथ रक्खे गये। अन्य तीन रयनमंजूषा, गुणमाला आदि रानियों के भी पुत्र हुए। राजा श्रीपाल के सभी 12 हजार पुत्र थे और वे सभी धर्मकार्यों में दत्तचित्त रहते थे।

एक बार चम्पापुर में केवली भगवान का समवसरण आया। राजा ने सपरिवार जाकर वंदना पूजा की। अनंतर अपने पूर्वभव पूछे, केवली भगवान् ने कहा—

इसी भरत क्षेत्र के रत्नसंचयपुर में श्रीकण्ठ नाम का राजा रहता था। वह विद्याधर था। उसकी रानी श्रीमती बहुत ही धर्मात्मा थी। एक दिन दोनों ने मुनिराज के पास श्रावक के व्रत ग्रहण किये। घर आकर राजा ने व्रतों को छोड़ दिया और जैन धर्म की निंदा करने लगे। एक दिन वे 700 वीरों के साथ वन-क्रीड़ा के लिए गये थे। वहाँ गुफा में ध्यानमग्न एक महान योगी मुनिराज को देखा।

"यह कोढ़ी है, कोढ़ी है" ऐसा कहकर उन्होंने अपने किंकरों से उन्हें समुद्र में गिरवा दिया। समुद्र में भी मुनि को ध्यान मग्न देखकर राजा ने दया बुद्धि से बाहर निकलवा दिया और अपने स्थान वापस आ गये। किसी एक दिन पुनः अत्यन्त कृशकाय दिगम्बर मुनि को देखकर राजा ने कहा-

"अरे निर्लज्ज दिगम्बर! नग्न घूमते हुए तुझे शर्म नहीं आती। ..... तेरा मस्तक काट डालना चाहिए।"

इतना कहकर मारने के लिए राजा ने तलवार उठाई कि तत्क्षण ही उनके हृदय में दया का स्रोत उमड़ आया। तब वे तलवार को म्यान में रखकर वापस घर आ गये। ऐसे परम तपस्वी मुनिराज पर उपसर्ग करने से राजा को महान पाप का बंध हो गया। एक दिन स्वयं राजा ने अपनी रानी श्रीमती से ये सारी बातें बता दीं। रानी बहुत चिंतित हुई, चिन्ता से संतप्त मन उसने भोजन भी छोड़ दिया। जब राजा को पता चला कि रानी इस कारण दुःखी हैं कि मैंने श्रावक के व्रत ग्रहण कर, छोड़ दिये और मुनि पर उपसर्ग किया है। तब राजा ने पश्चात्ताप कर रानी की तुष्टि के लिए मंदिर में जाकर मुनिराज से अपने पापों की शांति का उपाय पूछा। मुनिराज ने राजा को सम्यक्त्व का उपदेश देकर मिथ्यात्व का त्याग करा दिया। पुनः श्रावक के व्रत देकर सिद्धचक्र विधान करने को कहा। राजा ने रानी के साथ विधिवत् आठ वर्ष तक आष्टान्हिक पर्व में सिद्धचक्र की आराधना की। अनंतर उद्यापन करके संन्यास विधि से मरण कर स्वर्ग में देवपद प्राप्त किया। रानी

भी स्वर्ग में देवांगना हुई।

इस भव में राजा श्रीकण्ठ का जीव ही तुम श्रीपाल हुए हो रानी श्रीमती का जीव यह मैनासुन्दरी हुआ है। तुमने जो मुनि को कोढ़ी कहा था, सो कोढ़ी हुए हो। जो मुनि को समुद्र में डलवाया था सो धवलदत्त सेठ ने तुम्हें समुद्र में गिरा दिया था। इत्यादि भवों को सुनकर धर्म के प्रति अत्यधिक श्रद्धावान हो गया।

एक दिन विद्युत्पात देखकर राजा श्रीपाल को वैराग्य हो गया। तब उसने अपने बड़े पुत्र को राज्य देकर वन में जाकर महामुनि के पास दीक्षा धारण कर ली। उस समय उसके 700 योद्धा पुरुषों ने भी दीक्षा ले ली। माता कुंदप्रभा और मैनासुन्दरी ने भी दीक्षा ले ली। साथ ही 8000 रानियों ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली। निर्दोष चर्या का पालन करते हुए मुनि श्रीपाल ने घोर तपश्चरण करके केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर लिया।

आर्यिका मैनासुन्दरी ने भी घोर तपश्चरण के द्वारा कर्मों को कृश कर दिया तथा सम्यक्त्व के प्रभाव से स्त्रीलिंग को छेदकर सोलहवें स्वर्ग में देवपद प्राप्त कर लिया। आगे वह देव मनुष्यभव प्राप्त कर दीक्षा लेकर मोक्षपद प्राप्त करेगा। मैनासुन्दरी की पतिसेवा और सिद्धचक्र आराधना आज भी भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्धि को प्राप्त है।

4.2.7 आर्यिका अनंतमती-

भरतक्षेत्र के अंगदेश की चम्पापुरी के राजा वसुवर्धन की रानी का नाम लक्ष्मीमती था। यहीं पर एक सेठ प्रियदत्त थे। उनकी पत्नी अंगवती थी। अंगवती के सुंदर कन्या हुई। उसका नाम अनंतमती रक्खा गया। यह पुत्री सर्वगुणों की खान थी। जब वह 8-9 वर्ष की थी, आष्टान्हिक पर्व में सेठ प्रियदत्त अपनी रानी और पुत्री के साथ जिनमंदिर गये। भगवान के दर्शन करके मुनिराज के पास जाकर आठ दिन के लिए पत्नी के साथ ब्रह्मचर्यव्रत ले लिया। पुत्री ने भी व्रत लेना चाहा तब पिता ने उसे भी दिला दिया।

जब वह विवाह योग्य हुई तब पिता ने उसके विवाह की चर्चा की। तब अनंतमती ने कहा–पिताजी मैंने तो आपसे आज्ञा लेकर ब्रह्मचर्य व्रत लिया था। पिता ने कहा–बेटी! वह तो विनोद में दिलाया गया था और फिर आठ दिन की बात थी। अनंतमती ने कहा–उस समय आठ दिन की मेरे लिए बात नहीं थी। जो भी हो, अनंतमती दृढ़ थी अतः माता-पिता ने विवाह की बात खतम कर दी।

एक दिन अनंतमती अपने बगीचे में झूला झूल रही थी। उसी समय एक विद्याधर उसे हरण कर ले गया। पुनः अपनी पत्नी के डर से उसे वन में छोड़ दिया। वन में अनंतमती अकेली रो रही थी। इसी बीच वहाँ एक भीलों का राजा आया। उसने अपने महल में ले जाकर पत्नी बनाना चाहा तब कन्या की दृढ़ता के प्रभाव से वन देवी ने उसकी रक्षा की। तब उस भील ने उस कन्या को एक पुष्पक नाम के सेठ के हाथों सौंप दी। सेठ ने भी उसे अपने अधीन करना चाहा किन्तु अनंतमती के शील की दृढ़ता से वह डर गया। अनंतर उसने एक वेश्या के पास उसे छोड़ दिया। कामसेना वेश्या ने भी अनंतमती को वेश्या बनाना चाहा किन्तु असफल रही। तब उसने उसे सिंहराज नाम के राजा को सौंप दिया। सिंहराज ने भी अनंतमती से बलात्कार करना चाहा तब वनदेवी ने आकर उसकी रक्षा की। तब सिंहराज ने उसे जंगल में छुड़वा दिया। वहाँ पर निर्जन वन में अनंतमती मंत्र का स्मरण करते हुए आगे बढ़ी और चलती ही गई। कई एक दिनों में वह अयोध्या पहुँच गई। वहाँ पद्मश्री आर्यिका के दर्शन किये और उनसे अपना सारा हाल सुना दिया।

आर्यिका पद्मश्री अनंतमती की छोटी उम्र में उसने इतने कष्ट झेले हैं देखकर बहुत ही दुःखी हुईं और करुणा से हृदय आर्द्र हो गया। उन्होंने अनंतमती को अपने पास रखा, सान्त्वना दी तथा संसार की स्थिति का उपदेश देते हुए उसके वैराग्य को और भी दृढ़ कर दिया। वह अनंतमती तब से उन आर्यिका के पास ही रहती थी और सतत धर्मध्यान में अपना समय बिता रही थी।

अनंतमती के पिता प्रियदत्त पुत्री के हरण हो जाने के बाद सर्वत्र खोज कराकर थक चुके थे और उसके वियोग के

दु:ख से बहुत ही व्याकुल रहते थे। वे मन की शांति देने हेतु तीर्थयात्रा को निकले हुए थे। अयोध्या में आ गये और अपने साले जिनदत्त के यहाँ ठहर गये। उनसे अपनी पुत्री के हरे जाने का समाचार सुनाया जिससे ये लोग भी दु:खी हुए।

दूसरे दिन जिनदत्त की भार्या ने घर में चौका बनाया था। उसने आर्यिका पद्मश्री के पास में स्थित बालिका को अपने घर बुला लिया। उसे भोजन का निमंत्रण दे दिया तथा घर के आँगन में चौक पूरने को कहा। कन्या ने रत्नचूर्ण की रांगोली से बहुत ही सुंदर चौक बनाया। कुछ देर बाद सेठ प्रियदत्त उस चौक की सुंदरता को देखकर अपनी पुत्री को याद कर रो पड़ा और पूछने लगा–यह चौक किसने पूरा है उसे मुझे दिखा दो। कन्या को देखते ही उसने उसे अपने हृदय से लगा लिया। पिता पुत्री के इस मिलन को देखकर सभी को आश्चर्य हुआ और महान हर्ष भी।

अनंतर पिता ने पुत्री से घर चलने को कहा किन्तु अनंतमती पूर्ण विरक्त हो चुकी थी। अत: उसने पिता से प्रार्थना की कि आप मुझे अब दीक्षा दिला दीजिए। बहुत कुछ समझाने के पश्चात् भी अनंतमती ने घर जाने से इंकार कर दिया और वहीं आर्यिका पद्मश्री से दीक्षा लेकर आर्यिका बन गईं। इन्होंने दीक्षित अवस्था में महीने-महीने के उपवास करके बहुत ही तपश्चरण किया है। उसकी इतनी छोटी उम्र, ऐसा कोमल शरीर और ऐसा महान तप देखकर लोग आश्चर्यचकित हो जाते थे।

देखो, अनंतमती कन्या ने अबोध अवस्था में विनोद से दिलाये गये ब्रह्मचर्यव्रत को भी महान समझा, उसका संकट काल में भी निर्वाह किया और युवावस्था में ही आर्यिका बनकर घोर तपश्चरण किया है। अनंतर अंत में सल्लेखना विधि से मरणकर स्त्रीपर्याय को छेदकर बारहवें स्वर्ग में देव हो गई हैं।

4.2.8 गणिनी आर्यिका चन्दना-

वैशाली नगरी के राजा चेटक की रानी सुभद्रा के दश पुत्र और सात पुत्रियाँ थीं। धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सिंहभद्र, सुकुंभोज, अकंपन, पतंगक, प्रभंजन और प्रभास ये पुत्रों के नाम थे और प्रियकारिणी (त्रिशला), मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलना, ज्येष्ठा और चंदना ये कन्याओं के नाम थे। बड़ी पुत्री प्रियकारिणी विदेह देश के कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धार्थ की रानी हईं। इन्होंने ही भगवान महावीर को जन्म दिया था। अन्य कन्यायें भी राजपुत्रों से ब्याही गयी थीं।

चेलना का विवाह राजगृही के राजा श्रेणिक के साथ हुआ था। ज्येष्ठा ने यशस्वती आर्यिका के पास दीक्षा ले ली थी। तब चंदना ने उन्हीं यशस्वती आर्यिका से सम्यग्दर्शन और श्रावक के व्रत ले लिए थे। यह चंदना युवावस्था को प्राप्त हुई। तभी एक दिन अपने बगीचे में क्रीड़ा कर रही थी। अकस्मात् विजयार्ध पर्वत का एक मनोवेग नाम का विद्याधर राजा अपनी रानी के साथ आकाशमार्ग से जाता हुआ उधर से निकला। उसने चंदना को देखा तब उसने अपनी रानी को घर भेजकर चंदना का अपहरण कर लिया। उसी समय मनोवेगा रानी ने राजा के मनोभाव को जानकर उसका पीछा किया और तर्जना की। वह मनोवेग विद्याधर रानी से डरकर उस कन्या को पर्णलघ्वी विद्या के बल से विमान से नीचे गिरा दिया। कन्या चंदना भूतरमण वन में ऐरावती नदी के किनारे गिर गई।

पंच नमस्कार मंत्र का जाप करते हुए चंदना ने वन में रात्रि बड़े कष्ट से बिताई। प्रात:काल वहाँ एक कालक नाम का भील आया। चंदना ने उसे अपने बहुमूल्य आभूषण दे दिए और धर्मोपदेश भी दिया जिससे वह बहुत ही संतुष्ट हुआ। तब उस भील ने चंदना को ले जाकर अपने भीलों के राजा सिंह को दे दी। सिंह भील कन्या से काम संबंधी वार्तालाप करने लगा। चंदना की दृढ़ता को देख उस भील की माता ने उसे समझाकर चंदना की रक्षा की।

अनंतर भील ने चंदना को कौशाम्बी नगरी के एक मित्रवीर को सौंप दिया। इसने अपने स्वामी सेठ वृषभसेन के पास चंदना को ले जाकर दिया और बदले में बहुत सा धन ले आया। सेठ ने चंदना को उत्तम कुलीन कन्या समझकर उसे अपनी पुत्री के समान रक्खा था। एक दिन चंदना सेठ के लिए जल पिला रही थी। उस समय उसके केशों का कलाप छूट गया था और जल से भीगा हुआ पृथ्वी पर लटक रहा था। उसे वह यत्न से एक हाथ से सँभाल रही थी। सेठ की स्त्री भद्रा ने जब चंदना का वह रूप देखा तो शंका से भर गई। उसने मन में समझा कि मेरे पति का इसके साथ संपर्क

है। ऐसा मानकर वह बहुत ही कुपित हुई।

उस दुष्टा ने चंदना को सांकल से बाँध दिया तथा उसे खाने के लिए मिट्टी के शकोरे में काँजी से मिला हुआ कोदों का भात दिया करती थी। ताड़न, मारण आदि के द्वारा वह उसे निरंतर कष्ट पहुँचाने लगी थी। परन्तु चंदना निरंतर आत्मनिंदा करती रहती थी। उसने यह सब समाचार वहीं कौशाम्बी की महारानी अपनी बड़ी बहन मृगावती को भी नहीं कहलाया।

किसी एक दिन तीर्थंकर महावीर स्वामी मुनि अवस्था में वहाँ आहार के लिए आ गए। उसी समय चंदना भगवान के सामने जाने के लिए खड़ी हुई। तत्क्षण ही उसके सांकल के बंधन टूट गये। उसके मुँड़े हुए सिर पर बड़े-बड़े केश दिखने लगे और उसमें मालती पुष्प की मालायें लग गईं। उसके वस्त्र आभूषण सुंदर हो गये। उसके शील के माहात्म्य से मिट्टी का सकोरा सुवर्ण पात्र बन गया और कोदों का भात शाली चावलों का भात बन गया। उस समय बुद्धिमती चंदना ने बहुत ही भक्तिभाव से भगवान का पड़गाहन किया और नवधाभक्ति करके विधिवत् भगवान को खीर का आहार दिया। उसी समय देवगण आ गए, आकाश से पंचाश्चर्य वृष्टि होने लगी। जय-जयकार की ध्वनि से सारा नगर गूँज उठा। वहाँ बेशुमार भीड़ इकट्ठी हो गई। रानी मृगावती अपने पुत्र उदयन के साथ वहाँ आ गई। अपनी बहन चंदना को पहचान कर उसे अपनी छाती से चिपका लिया पुनः स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरकर सारा समाचार पूछा। चंदना ने भी अपहरण से लेकर आज तक का सब हाल सुना दिया। सुनकर मृगावती बहुत ही दुःखी हुईं पुनः चंदना को अपने घर ले आई।

यह देख भद्रा सेठानी और वृषभसेन सेठ दोनों ही भय से घबराए और मृगावती की शरण में आ गए। दयालु रानी ने उन दोनों से चंदना के चरणकमलों में प्रणाम कराया और क्षमा याचना कराई। चंदना ने भी दोनों को क्षमा कर दिया। तब वे बहुत ही प्रसन्न हुए और अनेक प्रकार से चंदना की प्रसंशा करते हुए चले गए। वैशाली में यह समाचार पहुँचते ही उसके वियोग से दुःखी माता-पिता, भाई-भावज आदि सभी लोग वहाँ आ गये और चंदना से मिलकर बहुत ही संतुष्ट हुए।

भगवान महावीर को वैशाख सुदी दशमी के दिन केवलज्ञान प्रगट हो गया। इंद्र ने समवसरण की रचना कर दी। किन्तु गणधर के अभाव में भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी। श्रावण वदी एकम् को 66 दिन बाद सौधर्म इंद्र गौतमगोत्रीय इंद्रभूति ब्राह्मण को वहाँ लाए। उन्होंने भगवान के दर्शन से प्रभावित हो जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और भगवान के प्रथम गणधर हो गए। चंदना ने भी तभी आकर भगवान के पास आर्यिका दीक्षा ले ली और सर्व आर्यिकाओं में गणिनी हो गई।

भगवान के समवसरण में 11 गणधर, चौदह हजार मुनि, छत्तीस हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकायें थीं। उस समय सभी आर्यिकाओं ने चंदना से ही दीक्षा ली थी। यहाँ तक कि उनकी बड़ी बहन चेलना ने भी उन्हीं चंदना से ही दीक्षा ली थी। आज-कल जो चंदनबाला के नाटक में सेनापति द्वारा पिता को मारना, माता को मारना और चंदना को कष्ट देना आदि लिखा है सो गलत है और जो चंदना के बारे में लिखा है कि वह सेठ के पैर धो रही थी। सेठ जी उसके केशों को हाथ से उठा रहे थे, यह भी गलत है। चंदना का विद्याधर द्वारा अपहरण हुआ तब उसके माता-पिता आदि दुःखी हुए हैं एवं वह सेठ के यहाँ रहती हुई सेठ को जल पिला रही थी। उत्तरपुराण में यह बात स्पष्ट है अतः उत्तरपुराण का स्वाध्याय करके सही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

4.2.9 आर्यिका विजया-

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हेमांगद नाम का देश है। इस में राजपुरी नाम की राजधानी थी। उसमें सत्यंधर राजा राज्य करते थे। पट्टरानी का नाम विजया था। राजा सत्यंधर को विजया रानी के प्रति अत्यधिक स्नेह होने से उन्होंने अपने मंत्रियों के मना करने पर भी मंत्री काष्ठांगार को अपना राज्यभार संभला दिया और आप महल में रहने लगे। एक बार रात्रि के पिछले भाग में रानी ने तीन स्वप्न देखे, उसने पति से कहा- हे आर्यपुत्र! मैंने पहले स्वप्न में अशोक वृक्ष देखा है पुनः देखा वज्र के गिरने से वह वृक्ष गिर गया और उसी के निकट एक दूसरा अशोक वृक्ष

निकल आया तथा उस वृक्ष के अग्रभाग पर स्वर्ण मुकुट है और उसमें आठ मालायें लटक रही हैं। राजा ने कहा— अशोक वृक्ष और उसमें आठ मालाओं से तुम पुत्र को प्राप्त करोगी, उसके आठ रानियां होंगी और प्रथम वृक्ष का पतन मेरे अमंगल को सूचित कर रहा है। इतना सुनकर रानी शोक से मूर्च्छित हो गई। राजा ने अनेक प्रकार से समझाकर रानी को सान्त्वना दी। कुछ दिनों बाद रानी ने गर्भ धारण किया। राजा ने एक मयूर यंत्र बनवाया और रानी को उसमें बिठाकर मनोहर वनों में क्रीड़ा किया करते थे।

इसी मध्य काष्ठांगार ने राज्य को हड़पने के भाव से राजा पर चढ़ाई कर दी। तब राजा सत्यंधर ने जैसे-तैसे विजया रानी को समझाकर मयूरयंत्र में बिठाकर उड़ा दिया और आप युद्ध के लिए निकला। युद्ध करते हुए राजा ने अपना मरण देख वहीं पर परिग्रह का त्याग कर सल्लेखना धारण कर ली जिससे स्वर्ग में देव हो गया। मयूर यंत्र ने रानी को नगर के निकट श्मशान में गिरा दिया था। राजा के मरते क्षण ही रानी ने श्मशान में ही पुत्ररत्न को जन्म दिया।

रानी पुत्र को गोद में लेकर विलाप कर रही थी कि उसी समय वहाँ एक देवी ने आकर रानी को सांत्वना देकर पुत्र को वहीं रखकर छिप जाने को कहा और समझाया—हे मात! एक वैश्यपति इसे पालन करेगा। उसी क्षण राजपुरी नगरी का ही सेठ गंधोत्कट अपने मृतक पुत्र को वहाँ छोड़कर निमित्तज्ञानी के कहे अनुसार वहाँ पुत्र को खोज रहा था। उसने इसे उठा लिया। इधर रानी ने "जीव" ऐसा आशीर्वाद दिया। गंधोत्कट ने घर लाकर "जीवन्धर" ऐसा नामकरण कर दिया और पुत्र जन्म का उत्सव मनाया। कुछ दिन बाद गंधोत्कट की पत्नी सुनंदा ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नंदाढ्य नाम रखा गया।

उधर वह देवी विजया को पास के तपोवन में ले गई, वहाँ वह अपने प्रच्छन्न वेष में रहने लगी।

एक बार एक तापसी को भस्मक व्याधि थी। जीवंधर ने उसे अपने हाथ से एक ग्रास दे दिया जिससे उसकी क्षुधाव्याधि शांत हो गई। इससे उस तापसी आर्यनन्दी ने उस बालक को ले जाकर सभी शास्त्रों में और विद्याओं में निष्णात बना दिया एवं "तुम राजा सत्यंधर के पुत्र हो" यह बता दिया। किसी समय जीवंधर ने कुत्ते को मरणासन्न स्थिति में णमोकार मन्त्र सुनाया था जिससे वह सुदर्शन नाम का यक्षेन्द्र हो गया था। उसने आकर जीवंधर को नमस्कार कर कृतज्ञता ज्ञापन किया और किसी भी संकट आदि के समय स्मरण करने को कहकर चला गया।

इधर जीवंधर ने सोलह वर्ष तक अनेक सुख-दुःखों का अनुभव किया और इनका आठ कन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। अनंतर तपोवन में माता विजया से मिलकर उन्हें राजपुरी ले आये। अपने मामा गोविन्द महाराज के साथ मिलकर काष्ठांगार से युद्ध करके उसे मार कर विजयी हुए। उसी समय वहाँ घोषणा कर दी गई कि ये जीवंधर कुमार राजा सत्यंधर के पुत्र हैं। तभी वहाँ पर बड़े ही महोत्सव के साथ जीवंधर का राज्याभिषेक हुआ।

जब विजयारानी ने पुत्र को पिता के पद पर प्रतिष्ठित हुआ देख लिया तब वे बहुत ही सन्तुष्ट हुईं। लालन-पालन करने वाले पिता गंधोत्कट और माता सुनन्दा भी यहीं जीवन्धर के पास रहते थे। अब विजया को पूर्ण वैराग्य हो चुका था। उसने पुत्र जीवंधर से अनुमति लेकर सुनन्दा के साथ गणिनी आर्यिका के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। दोनों माताओं के दीक्षा ले लेने से जीवंधर बहुत दुःखी हुए। वहाँ पहुँच कर दोनों आर्यिका माताओं का दर्शन किया, पुनः विषाद करने लगे। तब गणिनी आर्यिका ने इन्हें बहुत कुछ धर्मोपदेश दिया और समझाया। जिससे कुछ-कुछ सांत्वना को प्राप्त होकर उन्होंने दोनों आर्यिकाओं के बार-बार चरण स्पर्श किए, पुनः यह प्रार्थना की कि "हे मातः, आपको इसी नगरी में रहना चाहिए अन्यत्र विहार करने का स्मरण भी नहीं करना चाहिए।"

इस बात का अत्यधिक आग्रह करके वे वहीं पर बैठे रहे। जब दोनों आर्यिकाओं ने तथास्तु कहकर जीवंधर कुमार की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली, तभी वे वहाँ से वापस चलकर अपने घर आये।

अनंतर तीस वर्ष तक राज्य सुख का अनुभव कर जीवंधरस्वामी ने भी अपने पुत्र को राज्य देकर भगवान महावीर के समवसरण में दीक्षा ले ली। उनकी आठों रानियों ने भी आर्यिका दीक्षा ले ली। घोर तपश्चरण के द्वारा घातिया कर्मों का नाश करके जीवंधरस्वामी ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। अन्त में सर्व कर्मों को नष्ट कर मोक्ष पद को प्राप्त हो गए। महारानी विजया, सुनन्दा आदि आर्यिकाओं ने भी स्त्रीपर्याय को छेदकर स्वर्ग में देवपद प्राप्त कर लिया है।

4.3 चौबीस तीर्थंकरों के समवसरण में प्रमुख गणिनी व आर्यिकाओं की संख्या- महापुराण (उत्तरपुराण) से

	तीर्थंकर नाम	प्रमुख गणिनी	आर्यिकाएँ
1.	श्री ऋषभदेव	ब्राह्मी	3 लाख 50 हजार
2.	श्री अजितनाथ	प्रकुब्जा	3 लाख 20 हजार
3.	श्री संभवनाथ	धर्मार्या	3 लाख 20 हजार
4.	श्री अभिनंदननाथ	मेरुषेणा	3 लाख 30 हजार
5.	श्री सुमतिनाथ	अनन्तमती	3 लाख 30 हजार
6.	श्री पद्मप्रभु	रात्रिषेणा	4 लाख 20 हजार
7.	श्री सुपार्श्वनाथ	मीनार्या	3 लाख 30 हजार
8.	श्री चन्द्रप्रभु	वरुणा	3 लाख 80 हजार
9.	श्री पुष्पदंतनाथ	घोषार्या	3 लाख 80 हजार
10.	श्री शीतलनाथ	धरणा	1 लाख 80 हजार
11.	श्री श्रेयांसनाथ	धारणा	1 लाख 20 हजार
12.	श्री वासुपूज्य	सेना	1 लाख 6000
13.	श्री विमलनाथ	पद्मा	1 लाख 3000
14.	श्री अनंतनाथ	सर्वश्री	1 लाख 8000
15.	श्री धर्मनाथ	सुव्रता	62 हजार 400
16.	श्री शांतिनाथ	हरिषेणा	60 हजार 300
17.	श्री कुंथुनाथ	भाविता	60 हजार 350
18.	श्री अरहनाथ	यक्षिला	60 हजार
19.	श्री मल्लिनाथ	बन्धुषेणा	55 हजार
20.	श्री मुनिसुव्रतनाथ	पुष्पदंता	50 हजार
21.	श्री नमिनाथ	मंगिनी	45 हजार
22.	श्री नेमिनाथ	राजीमती	40 हजार
23.	श्री पार्श्वनाथ	सुलोचना	36 हजार
24.	महावीर स्वामी	चन्दना	36 हजार

4.4 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-भगवान ऋषभदेव के प्रथम गणधर का नाम क्या था ?

(क) भरत ☐
(ख) बाहुबली ☐
(ग) वृषभसेन ☐

प्रश्न 2-भगवान श्री चन्द्रप्रभ की प्रमुख गणिनी आर्यिका का क्या नाम था ?

(क) अनंतमती ☐
(ख) सर्वश्री ☐
(ग) वरुणा ☐

प्रश्न 3-भगवान महावीर के समवसरण में कितने गणधर थे ?

(क) पाँच ☐
(ख) ग्यारह ☐
(ग) दस ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-भगवान ऋषभदेव के समवसरण में कितने गणधर, मुनि एवं आर्यिकाएँ थीं ?

प्रश्न 2-सीता जी ने आर्यिका दीक्षा किससे ली थी ?

प्रश्न 3-राजीमती ने दीक्षा कहाँ ली और सल्लेखनापूर्वक स्त्री पर्याय का छेदकर कौन से पद को प्राप्त किया ?

प्रश्न 4-भगवान महावीर के समवसरण में प्रमुख गणिनी कौन थी और समवसरण में मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका की संख्या कितनी थी ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-गणिनी आर्यिका ब्राह्मी-सुन्दरी के जीवन पर प्रकाश डालें ?

द्वितीय पत्र

भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैन आचरण की भूमिका

-संदर्भ ग्रंथ-

1. आचार्य श्री शिवसागर स्मृति ग्रंथ -प्रकाशक-पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, सागर
2. आचार्य श्री धर्मसागर अभिवंदन ग्रंथ -प्रकाशक-दिगम्बर जैन नवयुवक मंडल, कलकत्ता
3. वात्सल्य रत्नाकर (खण्ड-3) -प्रकाशक-भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, सम्मेदशिखर
4. ज्ञानामृत (भाग-1) -गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
5. ज्ञानामृत (भाग-4) -गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
6. जैन भारती -गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
7. जैन मुनि दीक्षा विधि -गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
8. दिगम्बर मुनि -गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
9. चारित्रचन्द्रिका -आर्यिका श्री चंदनामती माताजी
10. आर्यिका श्री रत्नमती अभिनंदन ग्रंथ -प्रकाशक-भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, डीमापुर
11. सम्यग्ज्ञान (नवम्बर-2011) -प्रकाशक-दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर
12. युवा दृष्टि पत्रिका (मई 2010) मासिक -प्रकाशक-अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद, युवालोक, लाडनूँ
13. समीचीन सार्वधर्म सोपान -नाथूराम जी
14. अनेकांत पत्रिका (अप्रैल-जून 2011) त्रैमासिक -डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर
15. www.encyclopediaofjainism.com

प्रश्नावली (Questions Bank)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न 1- जो स्त्री, पुत्र, धन आदि के मोह से ग्रसित हैं, वे क्या कहलाते हैं ?

(क) सागार गृहस्थ ☐ (ख) अनगार गृहस्थ ☐ (ग) कोई नहीं ☐

प्रश्न 2- श्रावक के कितने भेद हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) छह ☐ (ग) नव ☐

प्रश्न 3- पूजा कितने प्रकार से मानी गई है ?

(क) दो ☐ (ख) चार ☐ (ग) पाँच ☐

प्रश्न 4- श्रावक शब्द कितने अक्षरों के संयोग से बना है ?

(क) छह ☐ (ख) तीन ☐ (ग) बारह ☐

प्रश्न 5- पाक्षिक श्रावक का सर्वप्रथम गुण कौन सा है ?

(क) न्योपात्तधनोपार्जन ☐ (ख) प्रशस्त वचन ☐ (ग) आजीविकोपार्जन ☐

प्रश्न 6- स्वदारसंतोष व्रत की कितनी भावनाएँ हैं ?

(क) दस ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) आठ ☐

प्रश्न 7- गृहस्थों के अष्टमूलगुण कितने हैं ?

(क) आठ ☐ (ख) तीन ☐ (ग) अट्ठावीस ☐

प्रश्न 8- ये अष्टमूलगुण कितने प्रकार से माने गये हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) छः ☐ (ग) पाँच ☐

प्रश्न 9- जैन दर्शनानुसार पानी की एक बूंद में कितने जीव माने हैं ?

(क) करोड़ों ☐ (ख) असंख्यात ☐ (ग) हजारों ☐

प्रश्न 10- गृहस्थों के षट् आवश्यक कर्म कितने हैं ?

(क) 9 ☐ (ख) 3 ☐ (ग) 6 ☐

प्रश्न 11- दान कितने प्रकार का है ?

(क) 4 ☐ (ख) 7 ☐ (ग) 12 ☐

प्रश्न 12- कौन से आचार्य ने दान और पूजा को प्रमुख कहा है ?

(क) कुन्दकुन्दाचार्य ☐ (ख) अमितगति आचार्य ☐ (ग) जिनसेनाचार्य ☐

प्रश्न 13- जैन आचार, आहार एवं जीवन शैली का संबंध किससे है ?

(क) व्रतों से ☐ (ख) सूखपूर्वक रहने से ☐ (ग) साधु सेवा से ☐

प्रश्न 14- भारतीय संस्कृति की प्रमुख पहचान क्या है ?

(क) पशु पालन ☐ (ख) माता-पिता की सेवा ☐ (ग) शास्त्र स्वाध्याय ☐

प्रश्न 15- गेहूँ के आटे में कितने प्रतिशत शक्ति की मात्रा है ?

(क) 87 प्रतिशत ☐ (ख) 86 प्रतिशत ☐ (ग) 91 प्रतिशत ☐

प्रश्न 16- जैसा खान-पान होता है, उसी के अनुसार.....

(क) वायुमण्डल हो जाता है। ☐ (ख) मति हो जाती है। ☐ (ग) वाणी हो जाती है। ☐

प्रश्न 17- श्रावक धर्म का यथाविधि पालन करने हेतु जो तीन बातें परिवार में अपनाना आवश्यक है, उसमें से दूसरी बात कौन सी है ?

(क) सत्साहित्य (स्वाध्याय) ☐

(ख) सत्संग (साधुसंगति) ☐

(ग) सत्संगति (गुणी और सदाचारी लोगों की संगति) ☐

प्रश्न 18- आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में मद्य, मांस, मधु के साथ-साथ किनके पालन का उपदेश दिया है ?

(क) श्रावक के 12 व्रत ☐ (ख) अहिंसादि पाँच अणुव्रत ☐ (ग) रत्नत्रय ☐

प्रश्न 19- परिवर्तन की अवस्थाओं में से दूसरी अवस्था.....

(क) प्रसुप्त ☐ (ख) जागृत ☐ (ग) समुत्थित ☐

प्रश्न 20- धर्मरूप प्रासाद के चार स्तंभों में से अंतिम स्तंभ-

(क) करुणा ☐ (ख) माध्यस्थ भावना ☐ (ग) प्रमोद ☐

प्रश्न 21- वस्तु का स्वभाव क्या है ?

(क) क्षमा ☐ (ख) दया ☐ (ग) धर्म ☐

प्रश्न 22- तीसरी प्रतिमाधारी को अधिक से अधिक कितने घड़ी तक सामायिक का निर्देश किया गया है ?

(क) 2 घड़ी ☐ (ख) 4 घड़ी ☐ (ग) 6 घड़ी ☐

प्रश्न 23- सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचारों में से दूसरे अतिचार का नाम-

(क) मन में संकल्प-विकल्प करना ☐

(ख) सामायिक का अनादर करना ☐

(ग) काय का हलन-चलन करना ☐

प्रश्न 24- बालक के जन्म का सूतक चार पीढ़ी तक कितने दिन का है ?

(क) 10 दिन तक का ☐ (ख) 6 दिन तक का ☐ (ग) 12 दिन तक का ☐

प्रश्न 25- जीवन विज्ञान प्रणाली में विद्यार्थी विकास के मुख्यतः कितने आयाम बताये गये हैं ?

(क) दो ☐ (ख) चार ☐ (ग) आठ ☐

प्रश्न 26- छात्र जीवन में पहला गुण "....." का होना चाहिए ?

(क) शिक्षा ☐ (ख) अनुशासन ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 27-एक आँख वाले.....ने साहस शौर्य के बलबूते पर महान कीर्ति के उत्तुंग शिखर को छू लिया।

(क) राजा रणजीत सिंह ☐ (ख) तैमूर ☐ (ग) ये दोनों ☐

प्रश्न 28-उपवास का सामान्य अर्थ होता है ?

(क) भोजन ग्रहण ☐ (ख) भोजन त्याग ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 29-हमारे शरीर में प्रमुख अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ कितनी होती हैं ?

(क) 9 ☐ (ख) 108 ☐ (ग) 8 ☐

प्रश्न 30-योगसाधना के अंग कितने हैं ?

(क) 12 ☐ (ख) 20 ☐ (ग) 8 ☐

प्रश्न 31-"छहढाला" ग्रंथ के रचयिता कौन हैं ?

(क) पं. दौलतराम जी ☐

(ख) आ. उमास्वामी जी ☐

(ग) आ. श्री जिनसेन स्वामी ☐

प्रश्न 32-गर्भान्वय क्रिया कितने प्रकार की है ?

(क) आठ ☐ (ख) त्रेपन ☐ (ग) पच्चीस ☐

प्रश्न 33-चौल संस्कार क्रिया कब की जाती है ?

(क) पाँचवें महीने में ☐ (ख) चौथे वर्ष में ☐ (ग) पाँच वर्ष होने पर ☐

प्रश्न 34-अनर्थदण्ड व्रत कितने प्रकार का है ?

(क) बारह ☐ (ख) ग्यारह ☐ (ग) पाँच ☐

प्रश्न 35-श्रावक की प्रतिमाओं में से पहली प्रतिमा—

(क) दर्शन प्रतिमा ☐ (ख) सामायिक प्रतिमा ☐ (ग) ब्रह्मचर्य प्रतिमा ☐

प्रश्न 36-हिंसा कितने प्रकार की होती है ?

(क) एक ☐ (ख) दो ☐ (ग) चार ☐

प्रश्न 37-सप्तपरमस्थानों में से पाँचवां परमस्थान कौन सा है ?

(क) पारिव्राज्य ☐ (ख) अरहंतपद ☐ (ग) साम्राज्यपद ☐

प्रश्न 38-पिता के वंश की शुद्धि को कुल कहते हैं और माता के वंश की शुद्धि.....कहलाती है ?

(क) जाति ☐ (ख) सज्जाति ☐ (ग) विशुद्धि ☐

प्रश्न 39-भगवान ऋषभदेव ने कितने वर्णों की स्थापना की ?

(क) चार ☐ (ख) दो ☐ (ग) तीन ☐

प्रश्न 40-मुनियों के प्रधान आचरण को क्या कहते हैं ?

(क) आवश्यक क्रिया ☐ (ख) प्रतिक्रमण ☐ (ग) मूलगुण ☐

प्रश्न 41- निर्जंतुक मार्ग से सूर्योदय के प्रकाश में चार हाथ आगे जमीन देखकर एकाग्रचित्तपूर्वक धर्मकार्य हेतु गमन करना.....है।

(क) एषणा समिति ☐ (ख) ईर्यासमिति ☐ (ग) उत्सर्ग समिति ☐

प्रश्न 42- मुनि की षट् आवश्यक क्रियाओं में तीसरी आवश्यक क्रिया कौन सी है ?

(क) समता ☐ (ख) वंदना ☐ (ग) प्रत्याख्यान ☐

प्रश्न 43- निज आत्मस्वरूप में चित्त का स्थिर हो जाना इसका नाम.....है ?

(क) परिकर्म ☐ (ख) योग ☐ (ग) कृतिकर्म ☐

प्रश्न 44- स्वाध्याय के कितने काल हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) दो ☐ (ग) चार ☐

प्रश्न 45- जाने हुए तत्त्वों का बार-बार चिंतन करना कौन सा स्वाध्याय कहलाता है ?

(क) पृच्छना ☐ (ख) अनुप्रेक्षा ☐ (ग) आम्नाय ☐

प्रश्न 46- जो द्रव्य से पुरुषवेदी हैं और भाव से स्त्रीवेदी हैं उनके कौन सा सम्यक्त्व होता है ?

(क) क्षयोपशम सम्यक्त्व ☐ (ख) उपशम सम्यक्त्व ☐ (ग) क्षायिक सम्यक्त्व ☐

प्रश्न 47- कर्मभूमि की महिलाओं में.....ही होते हैं।

(क) तीन हीन संहनन ☐ (ख) तीन उत्तम संहनन ☐ (ग) छहों संहनन ☐

प्रश्न 48- सम्यग्दृष्टि महाव्रती कहाँ तक जा सकते हैं ?

(क) नव ग्रैवेयक तक ☐ (ख) नव अनुदिश तक ☐ (ग) सर्वार्थसिद्धि तक ☐

प्रश्न 49- आर्यिकाओं के मूल गुण कितने होते हैं ?

(क) 20 ☐ (ख) 26 ☐ (ग) 28 ☐

प्रश्न 50- समिति के कितने भेद है ?

(क) 3 ☐ (ख) 6 ☐ (ग) 5 ☐

प्रश्न 51- साधु के आहार के कितने दोष बताए हैं ?

(क) 15 ☐ (ख) 30 ☐ (ग) 46 ☐

प्रश्न 52- आचारसार ग्रंथ के रचयिता कौन है ?

(क) आचार्य जिनसेन ☐ (ख) आचार्य समन्तभद्र ☐ (ग) आचार्य वीरनन्दि ☐

प्रश्न 53- पद्मपुराण ग्रंथ किसने लिखा ?

(क) आचार्य अकलंक देव ☐ (ख) आचार्य रविषेण ☐ (ग) आचार्य पूज्यपाद ☐

प्रश्न 54- चारित्र के कितने भेद है ?

(क) चार ☐ (ख) दो ☐ (ग) पाँच ☐

प्रश्न 55- कर्मबंध की कारणभूत क्रिया कितनी हैं ?

(क) आठ ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) तीन ☐

प्रश्न 56-मुनि और आर्यिका के मूलगुण कितने होते हैं ?

(क) पच्चीस ☐ (ख) छब्बीस ☐ (ग) अट्ठाईस ☐

प्रश्न 57-साधुओं की समाचार विधि कितने प्रकार की है ?

(क) पाँच ☐ (ख) आठ ☐ (ग) दस ☐

प्रश्न 58-भगवान ऋषभदेव के प्रथम गणधर का नाम क्या था ?

(क) भरत ☐ (ख) बाहुबली ☐ (ग) वृषभसेन ☐

प्रश्न 59-भगवान श्री चन्द्रप्रभ की प्रमुख गणिनी आर्यिका का क्या नाम था ?

(क) अनंतमती ☐ (ख) सर्वश्री ☐ (ग) वरुणा ☐

प्रश्न 60-भगवान महावीर के समवसरण में कितने गणधर थे ?

(क) पाँच ☐ (ख) ग्यारह ☐ (ग) दस ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1- चार संज्ञा कौन सी है ?

प्रश्न 2- भद्र का क्या लक्षण है ?

प्रश्न 3- श्रावक के चार आश्रम कौन से हैं और ये कहाँ से निकले हैं ?

प्रश्न 4- सल्लेखना व्रत किसे कहते हैं ?

प्रश्न 5- अनर्थदण्डविरतिव्रत के पाँच अतिचार कौन से हैं ? अर्थ सहित लिखिए ?

प्रश्न 6- पाक्षिक श्रावक का स्वरूप बताइए ?

प्रश्न 7- पंच उदम्बर फल कौन-कौन से हैं, नाम लिखिए ?

प्रश्न 8- 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार'' ग्रंथ के अनुसार मूलगुण के नाम लिखिए ?

प्रश्न 9- मूलगुण किसे कहते हैं ? उदाहरण देकर समझाइए ?

प्रश्न 10-आवश्यक शब्द का सामान्य अर्थ क्या है ?

प्रश्न 11-आचार्यों ने अपेक्षा भेद से श्रावक के आवश्यक कर्तव्य कितनी प्रकार से कहे हैं, किसी एक ग्रंथ के अनुसार नाम लिखिए ?

प्रश्न 12-संयम किसे कहते हैं ?

प्रश्न 13-भारत की जीवन शैली के दो प्रमुख प्रेरक तत्त्व कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 14-शाकाहार में मौजूद आवश्यक तत्त्व कौन-कौन से हैं, नाम बताते हुए किन्हीं चार के बारे में बताइए ?

प्रश्न 15-शाकाहार एवं मांसाहार की परिभाषा बताइए ?

प्रश्न 16-मनुस्मृति में मांसाहार त्याग के बारे में किस पर्व में क्या कहा गया है ?

प्रश्न 17-रात्रिभोजन त्याग के विषय में वैज्ञानिक तथ्य क्या है ?

प्रश्न 18-पाँच प्रकार के अभक्ष्य कौन-कौन से हैं ? वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 19-तीनों ही ऋतुओं में पिसे हुए अनाज की मर्यादा कितने दिन की है ?

प्रश्न 20- जैनागम में रसोई के लिए चार प्रमुख शर्तें कौन सी हैं ?

प्रश्न 21- परिवर्तन की कितनी और कौन-कौन सी अवस्थाएं हैं ?

प्रश्न 22- आचार्य श्री भद्रबाहु के अनुसार सम्यक् आजीविका का लक्षण क्या है ?

प्रश्न 23- जैन शास्त्रानुसार अनेकान्त की परिभाषा क्या है ?

प्रश्न 24- सज्जातित्व किसे कहते हैं ?

प्रश्न 25- सामायिक शिक्षाव्रत और सामायिक प्रतिमा में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 26- सामायिक के समय कितने प्रकार की शुद्धि आवश्यक है, नामोल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 27- नवधाभक्ति किसे कहते हैं ? परिभाषा एवं क्रमानुसार नाम बताइए ?

प्रश्न 28- दाता की शुद्धता का विचार कितने प्रकार से किया जाता है, लक्षण सहित बताइए ?

प्रश्न 29- प्रतिभावान बनने के 10 कैप्सूल कौन से हैं ? नाम बताइए ?

प्रश्न 30- हमें भोजन में क्या खाना चाहिए ?

प्रश्न 31- छात्र जीवन के पहले गुण 'अनुशासन' का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 32- मेधावी छात्र के लक्षणों को लिखिए ?

प्रश्न 33- 'प्रोषधोपवास'' की क्या क्रिया है ?

प्रश्न 34- योग साधना के कितने अंग हैं ? नाम लिखिए ?

प्रश्न 35- उपवास के दिन हमें क्या-क्या कार्य करना चाहिए ?

प्रश्न 36- अष्टमी-चतुर्दशी पर्वों का क्या महत्व है ?

प्रश्न 37- प्राणियों में सबसे श्रेष्ठतम योनि कौन सी है ? और क्यों ?

प्रश्न 38- क्रियाएँ (संस्कार) कितने प्रकार की बताई गयी हैं ? नाम बताओ ?

प्रश्न 39- आदर्श जैनाचरण कितनी प्रक्रियाओं में विभाजित है ? संक्षेप में समझाइए ?

प्रश्न 40- अज्ञानता के कारण अनंत काल तक यह जीव कहाँ रहा ? उसके बाद कहाँ-कहाँ गया ?

प्रश्न 41- श्रावक की कितनी प्रतिमा हैं ? नाम लिखिए ?

प्रश्न 42- अणुव्रत कितने होते हैं ? नाम बताइए ?

प्रश्न 43- सामायिक प्रतिमा का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 44- परिग्रह त्याग प्रतिमा का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 45- मुनियों के कितने भेद हैं, नामोल्लेख करते हुए एक का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 46- उपकरण वकुश और शरीर वकुश मुनि में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 47- स्नातक मुनि की परिभाषा बताइए ?

प्रश्न 48- जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनि का संक्षिप्त लक्षण वर्णित कीजिए ?

प्रश्न 49- करण और चरण में क्या अन्तर है ? परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 50- दिगम्बर मुनि के बाह्य चिन्ह कितने और कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 51- उपसंपत् के भेद कितने और कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 52- औघिक समाचार के दस भेद बताते हुए उनमें से किसी चार का निरूपण कीजिए ?

प्रश्न 53-शुद्धि कितने प्रकार की होती है, नाम बताते हुए भावशुद्धि का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 54-भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव ने अकाल में पढ़ने योग (अस्वाध्याय काल में) ग्रंथ कौन-कौन से बताए हैं ?

प्रश्न 55-देववंदना में कृतिकर्म के कितने भेद होते हैं, नाम बताइए ?

प्रश्न 56-साधु के लिए स्वाध्याय करने के कौन-कौन से आसन बताए हैं ?

प्रश्न 57-सम्यग्दृष्टि भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच तथा मिथ्यादृष्टि भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच किस स्वर्ग पर्यंत उत्पन्न हो सकते हैं ?

प्रश्न 58-अकामनिर्जरा से युक्त, मंदकषायी पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यंच किस कल्प पर्यन्त उत्पन्न होते हैं ?

प्रश्न 59-नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर में कौन-कौन जा सकते हैं ?

प्रश्न 60-दिगम्बर जैनागम के अनुसार क्या स्त्रियाँ इस भव से मुक्ति प्राप्त कर सकती हैं ? अगर नहीं तो क्यों ?

प्रश्न 61-पाँच महाव्रत के नाम बताते हुए सत्य महाव्रत का लक्षण लिखो ?

प्रश्न 62-पंचेन्द्रिय निरोध का लक्षण क्या है ?

प्रश्न 63-केशलोच मूलगुण का लक्षण लिखो ?

प्रश्न 64-मुनि-आर्यिकाओं के 6 आवश्यक के नाम बताते हुए प्रत्याख्यान आवश्यक का लक्षण लिखो ?

प्रश्न 65-मुनि और आर्यिकाओं का कौन सा गुणस्थान माना है ?

प्रश्न 66-कृतिकर्म शब्द का क्या अर्थ है ?

प्रश्न 67-चतुर्विध संघ में कौन आते हैं ?

प्रश्न 68-दिगम्बर मुनि एवं आर्यिकाओं को कौन सी संज्ञा प्रदान की है ?

प्रश्न 69-साधुओं के मूलगुण कितने हैं ? उनके नाम लिखो ?

प्रश्न 70-ईर्यासमिति का लक्षण क्या है ?

प्रश्न 71-आर्यिकाओं का वेष कैसा होना चाहिए ?

प्रश्न 72-आर्यिकाओं के करने योग्य कार्य कौन से हैं ?

प्रश्न 73-भगवान ऋषभदेव के समवसरण में कितने गणधर, मुनि एवं आर्यिकाएँ थीं ?

प्रश्न 74-सीता जी ने आर्यिका दीक्षा किससे ली थी ?

प्रश्न 75-राजीमती ने दीक्षा कहाँ ली और सल्लेखनापूर्वक स्त्री पर्याय का छेदकर कौन से पद को प्राप्त किया ?

प्रश्न 76-भगवान महावीर के समवसरण में प्रमुख गणिनी कौन थी और समवसरण में मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका की संख्या कितनी थी ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1- गृहस्थाश्रम की परिभाषा देते हुए गृहस्थ के छह भेदों का विस्तृत वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 2- जैनागम में वर्णित श्रावक धर्म को परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 3- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अनुसार आठ मूलगुणों की व्याख्या कीजिए ?

प्रश्न 4- स्वाध्याय तप शब्द का अर्थ पूर्णतः प्रतिभासित कीजिए ?

प्रश्न 5- शाकाहार और मांसाहार में शाकाहार क्यों आवश्यक है और मांसाहार क्यों नहीं ? इस पर विस्तृत प्रकाश डालिए ?

प्रश्न 6- जैन रसोई के जो सोलह शृँगार माने हैं, नामोल्लेख करते हुए उनका विस्तार सहित वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 7- जैन आचार्यों द्वारा वर्णित धर्मरूपप्रासाद के कितने स्तंभ हैं ? उनका श्लोक सहित वर्णन करें ?

प्रश्न 8- वैय्यावृत्य की महिमा का विस्तृत वर्णन करते हुए यह भी बताइए कि क्या अर्हत्पूजा भी वैय्यावृत्य है ? अगर हाँ, तो कैसे ?

प्रश्न 9- बौद्धिक विकास में रंगों की क्या भूमिका है ? इस पर प्रकाश डालिए ?

प्रश्न 10- "उपवास पर गांधी जी" के विचारों को प्रस्तुत कीजिए ?

प्रश्न 11- गर्भान्वय क्रिया कितने प्रकार की है ? नाम बताइए एवं नामकर्म क्रिया को समझाइए ?

प्रश्न 12- श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विवरण दीजिए ?

प्रश्न 13- जिनकल्पसंयमी और स्थविरकल्पसंयमी साधु में क्या अन्तर है, सविस्तार बताइए ?

प्रश्न 14- आचार्यों ने आर्यिकाओं की जो चर्या आगम में बताई है उसका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 15- साधु के करने योग्य नैमित्तिक क्रियाएँ कौन-कौन सी हैं, नामोल्लेख करते हुए किन्हीं आठ क्रियाओं का विस्तृत वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 16- पंचमकाल में श्री गौतम स्वामी से लेकर होने वाले अनुबद्ध केवली, केवली, चारण ऋषि, प्रज्ञाश्रमण, अवधिज्ञानी ऋषि, श्रुतकेवली, दशपूर्वधारी आचार्य, ग्यारह अंगधारी आचार्य व आचारांगधारी आचार्यों का वर्णन करते हुए उनका समय भी बताइए ?

प्रश्न 17- ब्रह्मचर्य व्रत के विषय में 'अनंतमती' कन्या का कथानक लिखिए ?

प्रश्न 18- मुनि-आर्यिका आदि को नमोऽस्तु-वंदामि आदि करने का क्या विधान है ?

प्रश्न 19- अहिंसादि पाँच महाव्रतों का लक्षण लिखें ?

प्रश्न 20- गणिनी आर्यिका ब्राह्मी-सुन्दरी के जीवन पर प्रकाश डालें ?

नोट्स